Year-68, Volume-1 Jan.-March. 2015
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल Editor

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना Pt. Nihal Chand Jain- Bina
(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली) Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नोएडा Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Researc
h Institution for Jainology)
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक रामायण

विराजै रामायण घट माहिं,
मरमी होय मरम सो जाने मूरख मानै नाहिं
आतम राम, ज्ञान गुन लक्षमन, सीता सुमति समेत,
शुभ उपयोग वानर दल मंडित वर-विवेक रण खेत।
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि गई विषय दिसि भाग,
भई भस्म मिथ्यामत लंका उठी धारणा आग।
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरें निकांक्षित सूर,
जूझे राग-द्वेष सेनापति संसे गढ़ चकनाचूर
विलखत कुंभकरण भवविभ्रम पुलकित मन दरयाव,
थकित उदार वीर महिरावण, सेतु-बंध सम भाव।
मूर्च्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना छुटे छपक गुण बान।
निरख सकति गुण चक्रसुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरे 'कबंध' महीरावण की प्राण भाव सिर हीन।
इह विधि सकल साधु घट अंतर होय सहज संग्राम,
यह विवहार दृष्टि रामायण केवल निश्चय राम।
विराजै रामायण घट माहिं।

- कविवर बनारसीदास जैन

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
विशेष संपादकीय	पं. निहालचंद जैन	5-8
1. आत्मख्याति टीका में प्रयुक्त क्रमनियमित विशेषण का अभिप्रेतार्थ	अनिल अग्रवाल	9-19
2. आचार्य हरिभद्र का अनेकांतवाद और उपयोगिता	अतुलकुमार प्रसाद सिंह	20-28
3. जैनदर्शन में विवेचित विग्रहगति की अन्य दर्शनों से तुलना	प्रा. डॉ. शीतलचंद जैन	29-36
4. चामुण्डराय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. आनन्दकुमार जैन	37-45
5. आचार्य देवसेन की कृतियों में दार्शनिक दृष्टि	डॉ. आलोक कु. जैन	46-54
6. जैन वाङ्मय में अवधिज्ञान	पवन कुमार जैन	55-68
7. अहिंसा संबंधी व्यावहारिक समस्याएँ, समाधान.....	डॉ. वंदना मेहता	69-76
8. Social Implications of Meditation	Dr. Samani Shashi Prajna	77-82
9. धार्मिक जीवन और स्वास्थ्य	आचार्य राजकुमार जैन	83-91
10. रूस में जैन पाण्डुलिपियाँ	ललित जैन	92-94
11. पुस्तक समीक्षा		95
12. पाठकों के पत्र		96

पं.जुगलकिशोर 'मुख्तार 'स्मृतिदिवस२२दिस.१९६२पर

विशेष-संपादकीय

वीर सेवा मन्दिर, पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' और मैं

- पं. निहालचंद जैन, निदेशक-वीर सेवा मंदिर

बचपन से ही मैंने अपने पूज्य पिता जी को नहीं देखा, परन्तु अपने गाँव मड़ावरा में उनके द्वारा संजोयी गयी 'अनेकान्त' (प्रकाशक-वीर सेवा मंदिर) की फाइलों को अवश्य देखा। पोस्ट ग्रेजुएशन करने के बाद 1964 से 'अनेकान्त' की फाइलों को पढ़कर मैंने लेखनकार्य का श्री गणेश किया था। आज 50 वर्ष बाद उसी अनेकान्त को सजा-सँवार रहा हूँ।

'अनेकान्त' की इस ज्ञान-यात्रा की एक लम्बी कहानी है। इसके प्रवेशांक में 'मुख्तार' साहब ने कुछ दोहे लिखकर, अन्तर्मन की कामना को प्रगट किया था। -

अनेकान्त रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश।
मिटै मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म प्रकाश॥
सूख जाये दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार।
सद्भावों का लोक में, हो विकसित संसार॥

'अनेकान्त' मुख्तार साहब के प्राणों की संजीवनी बनी। इसका प्रारम्भ 1929 से हुआ एक मासिक पत्रिका के रूप में । आर्थिक कठिनाइयों के कारण आठ वर्षों तक बन्द रहने के पश्चात् 1938 में पुनः प्रकाशित हुई, परन्तु बीच बीच में 2 एवं 5 वर्ष के लिए बंद हुई। 1962 से 1975 तक द्विमासिकी रही तथा 1975 के बाद शोध त्रैमासिकी के रूप में नियमित प्रकाशन हो रहा है। वर्तमान के में इसके प्रधान संपादक- डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर अध्यक्ष अ. भा. विद्वत्परिषद् हैं। दिगम्बर जैन समाज में 'अनेकान्त' ऐसी अकेली शोध-पत्रिका है, जो लेखकों को उनके शोधालेखों के प्रकाशन पर प्रोत्साहन स्वरूप एक सम्माननीय राशि भेंट करती है, ताकि इसकी गुणवत्ता में कहीं कोई कमी न आने पावे।

वीर सेवा मंदिर के आजीवन सदस्यों को एवं कतिपय वरिष्ठ विद्वानों को यह नि:शुल्क भेजी जाती है। परन्तु शोध-पत्रिका को पढ़ने वाले प्रबुद्ध-पाठकों का हमें 'टोटा' दिख रहा है। आज जैन पत्रिकाओं की संख्या में बेहताशा वृद्धि हुई है, लेकिन पढ़ने वालों की रुचि उसी अनुपात में घट रही है। स्वाध्याय के प्रति यह गिरावट क्यों आ रही है- इसकी समीक्षा और इस पर चिन्तन किया जाना चाहिए।

वीर सेवा मंदिर में मेरा पदार्पण :

लगभग 4 वर्ष हो रहे हैं। दिगम्बर जैन नैतिक शिक्षा समिति दरियागंज के आमंत्रण पर मई 2011 में, वीर सेवा मंदिर तीन दिवस के लिए आया था। उसी समय श्री सुभाष जी (शकुन प्रकाशन), अध्यक्ष वीर सेवा मंदिर ने मुझे सुना और आफिस बुलाकर शोध संस्थान में आने की मेरी मंशा जाननी चाही। कमेटी ने सर्वसम्मति से निदेशक के पद पर मुझे बुलाने की स्वीकृति के पश्चात् जुलाई 2011 से मैंने अपनी सेवायें देना प्रारंभ कर दीं।

'मंदिर' शब्द ने ही मुझे इस शोध संस्थान के नामकरण पर- पण्डित जुगलकिशोर 'मुख्तार' साहब की अद्भुत सोच और जैनागम के प्रति जीवन के समर्पण का अन्दाज लग गया था। मंदिर की अवधारणा क्या केवल वीतरागी ध्यानस्थ प्रतिमा से जुड़ी है या कोई अन्य प्रयोजनभूत उद्देश्य भी मंदिर संज्ञा को चरितार्थ करता है। निश्चित ही साहित्यानुरागी, शोधार्थ विद्वानों के लिए, ज्ञान-विज्ञान का यह अप्रतिम-केन्द्र, साहित्य-तीर्थ का मंदिर ही है और इसी सोच से मुख्तार साहब ने अपने नगर सरसावा (उ.प्र.) में इसकी स्थापना (1936) करके उसे देश की राजधानी दिल्ली ले आये। ज्ञान की यह गंगा मुख्तार जी के भागीरथी पुरुषार्थ से प्रवहमान होकर दिल्ली आ पहुँची। इस मंदिर का आद्य-संस्थापक पुजारी बना, पाण्डित्य का धनी, जैन पुरातत्त्व और इतिहास का मर्मज्ञ- मनीषी, कालजयी दृष्टि सम्पन्न, आचार्य समन्तभद्र के साहित्य का चितेरा- मुख्तार साहब। जिन्होंने वीर सेवा मंदिर को कर्मभूमि बनाकर ग्रन्थ परीक्षा जैसे शोध पूर्ण ग्रन्थ और आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार पर भास्वर-भाष्य- **'समीचीन धर्मशास्त्र'** लिखकर- सृजनधर्मिता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जैन साहित्य-जगत में ज्ञान की लक्ष्मण-रेखा खींची। क्या इसकी

पवित्रता और गौरव एक मंदिर से कम है? मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ कि इस 'ज्ञान-मंदिर' का माली बनकर ज्ञान की इस अमूल्य विरासत के पास बैठा हूँ। श्रद्धेय पण्डित पद्मचंद शास्त्री ने और इनके पूर्व पं. परमानंद शास्त्री ने वीर सेवा मंदिर के उत्कर्ष के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया।

आज वीर सेवा मंदिर में ज्ञान की अनन्य प्रतिमाओं (ग्रन्थों) की संख्या 8700, (जिसमें हस्तलिखित 167 ग्रन्थ शामिल हैं) तथा e-books के रूप में 12000 कुल लगभग इक्कीस हजार ग्रंथों से यह सुसज्जित है। इस विरासत को संरक्षित रखने का उत्तरदायित्व वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी-सदस्य, आजीवन सदस्यगण सम्हाले हुए हैं। जैन पुरातत्त्व में-प्राचीन जैन मंदिरों, तीर्थों के साथ दुर्लभ प्राचीन ग्रंथ भी आते हैं जिनके संरक्षण की प्रगाढ़ भावना से मुख्तार साहब ने यह ज्ञान-महल खड़ा किया जो जैन इतिहास, ज्योतिष, आयुर्वेद, श्वेताम्बर जैन आगम ग्रन्थ, वैदिक, बौद्ध साहित्य के साथ ही दिगम्बर जैन ग्रंथों का कोषालय है। यह प्रबुद्ध पाठकों की प्रतीक्षा में 24x7 दरवाजे खोले रहता है। मेरे साथ इस ज्ञान-उद्यान में, एक युवा विद्वान डॉ. आलोक जैन, अहर्निश इसकी व्यवस्था व सम्हाल में लगे रहते हैं। 'समयसार' मर्मज्ञ श्री रूपचंद कटारिया-संयोजक शोध उपसमिति विद्वानों के प्रति वात्सल्यभाव रखने वाले, प्रायः वीर सेवा मंदिर आकर आ. कुन्दकुन्द साहित्य पर चर्चाऐं कर, हमारे ज्ञान के गवाक्ष खोलते रहते हैं। वे कहते हैं कि घण्टों पं. पद्मचंद शास्त्री जी के पास बैठकर, जो आगम/ अध्यात्म पर विचार-विमर्श करते थे वह अब स्मृति शेष है।

वीर सेवा मंदिर की अन्य गतिविधियों में- मुख्तार साहब स्मृति व्याख्यानमाला का आयोजन प्रतिवर्ष दिसम्बर/जनवरी माह में होता है जिसमें देश के वरिष्ठ और अधिकारी विद्वानों को आमंत्रित कर व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं।

साहित्य-विक्रय केन्द्र- वीर सेवा मंदिर संस्थान द्वारा लगभग 25 ग्रन्थ प्रकाशित किये गये, जो विक्रय के लिए है। माँगपत्र आने पर 40 प्रतिशत कमीशन पर समूल्य उपलब्ध कराये जाते हैं।

वीर सेवा मंदिर- मेरे जीवन-अनुभव की एक सशक्त-कड़ी बनी है। इसका प्रत्येक कार्य मेरे लिए एक पूजा के समान है। यह स्थान मेरे लेखन

कार्य और साहित्यिक गतिविधियों को सातत्य बनाये रखने में एक चेतनापुंज साबित हुआ है। वीर सेवा मंदिर के सभी पदाधिकारी महानुभाव मेरी वरिष्ठता को पूर्ण सम्मान देते हुए युवकोचित पुरुषार्थ करते रहने का साहस मंत्र देते रहते हैं। इस भवन को विशिष्ट-पुण्य-पुरुष-आत्माओं का आशीर्वाद प्राप्त है, जिससे ऊर्जस्वी पुण्य-वर्गणाऐं यहाँ सदैव व्याप्त रहतीं हैं। आयें ! वीर सेवा मंदिर - जिस उद्देश्य और ज्ञान-यज्ञ के लिए प्रतीक्षित है, उसमें हम सभी अपनी सहभागिता देकर पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' साहब की इस भावना को मूर्तवन्त करेंगें जो उन्होंने 'मेरी भावना' में व्यक्त की है- ''घर घर चर्चा रहे धर्म की''।

******

लेखकों के लिए निर्देश

अनेकान्त में प्रकाशनार्थ शोधालेख भेजते समय निम्नांकित बिन्दुओं का पालन विद्वान लेखक अवश्य करने की कृपा करेंगे।

१. शोधालेख अप्रकाशित और मौलिक हो, इस आशय का प्रमाणपत्र स्व हस्ताक्षर सहित प्रेषित किया जावे।

२. अनेकान्त में प्रकाशनार्थ भेजा गया शोधालेख अन्य किसी पत्रिका में तब तक न भेजें जब तक उसकी अस्वीकृति की सूचना आपको न मिल जावे। भेजी गयी रचना के प्रकाशित होने में ६ माह से १ वर्ष तक लग सकता है।

३. आलेख का सारांश, कुछ पंक्तियों में लेख के प्रारंभ में अवश्य देवें तथा आलेख कम्प्यूटर टाइप हो या ई-मेल द्वारा भेज सकते हैं। यदि हस्तलिखित हो तो सुलेख में मूल कापी हो।

आशा है उक्त विन्दुओं का पालन कर हमें सहयोग प्रदान करेंगे।।

- संपादक

आत्मख्याति टीका में प्रयुक्त 'क्रमनियमित' विशेषण का अभिप्रेतार्थ

- अनिल अग्रवाल

समयसार के 'सर्वविशुद्धज्ञान' अधिकार में गाथा ३०८-३११ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने परिणामों या पर्यायों के लिये 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया है। *आत्मख्याति* व्याख्या का वह वाक्य है : **जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पाद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पाद्यमानोऽजीव एव, न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत्।** इसका शब्दानुवाद है : प्रथम तो, जीव है सो क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसी प्रकार, अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य होता है, जैसे कि स्वर्ण का कंगन आदि अपनी पर्यायों के साथ।

प्रश्न यह है कि 'क्रमनियमित परिणाम' से यहाँ क्या अभिप्राय है? *आत्मख्याति* के जो अनुवाद या व्याख्याएं देखने में आई हैं उनमें इसका कोई स्पष्ट एवं युक्तियुक्त अर्थ नहीं मिलता, या फिर उक्त विशेषण को ही नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।[१] उधर, पिछले कोई पचास वर्षों से कुछ-एक लोग ऐसी मान्यता बनाए हुए हैं कि इसका अर्थ 'क्रमबद्ध पर्याय' है[२-३] जिस अर्थ की द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के साथ कोई संगति बैठती नहीं दिखाई देती; और फिर, ऐसा भी प्रतीत होता है कि आचार्यश्री के कृतित्व[४] की समग्रता के आलोक में भली-भाँति जाँचे-परखे बिना ही, उक्त मान्यता को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया है। प्रकृत विशेषण के सही भावार्थ तक पहुँचना, इसलिये और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। प्रस्तुत लेख आचार्य अमृतचन्द्र के अभिप्रेतार्थ तक पहुँचने का एक निष्पक्ष प्रयास है।

परिणामों या पर्यायों की क्रमिकता :

तत्त्वार्थसूत्रकार ने **गुणपर्ययवद् द्रव्यम्** (५/३८) सूत्र द्वारा गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, यह प्रतिपादित किया है। गुण और पर्याय में अन्तर बतलाने के लिये आगम में अनेक स्थलों पर गुणों को सहप्रवृत/सहवर्ती/सहभावी और पर्यायों को क्रमप्रवृत्त/क्रमवर्ती/क्रमभावी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी द्रव्य के अनेक गुण तो उस द्रव्य में युगपत् अर्थात् एक-साथ रहते हैं, जबकि अनेकानेक पर्यायें काल की अपेक्षा क्रमशः यानी एक-के-बाद-एक होती हैं (चूँकि विवक्षित क्षण में द्रव्य की जो अवस्था है वही तो उसकी तत्क्षणवर्ती पर्याय है, इसलिये द्रव्य की किसी भी क्षण एक ही पर्याय होनी सम्भव है)। यही आशय *प्रवचनसार,* गाथा १० की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने व्यक्त किया है : **वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निवर्तितनिमच्चर्वृन्ति** अर्थात् वस्तु है सो ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्यस्वभाव में, सहभावी विशेषस्वरूप गुणों में तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायों में रहने वाली है और उत्पाद्व्ययध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है।

इस प्रकार, 'पर्याय' और 'क्रम', इन दोनों शब्दों के बीच एक 'साहचर्य' सा चला आया है; इस सन्दर्भ में जिस भाव को 'क्रम' शब्द सूचित करता है, वह है : कालापेक्ष, उत्तरोत्तरता। आगे चलकर हम देखेंगें कि (सन्दर्भ-विशेष के चलते) उक्त दोनों शब्दों के बीच इस 'साहचर्य' के अभ्यस्त-से हो जाने के कारण ही हम भूल कर बैठे हैं; जब आचार्यश्री ने एक अन्य सन्दर्भ में पर्यायों के लिये 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया, तो (उस सन्दर्भ की विशिष्टिता पर ग़ौर न करते हुए) अपने अभ्यास/आदत के वश ही हमने उसका अर्थ लगा लिया; और अपनी इस असावधानी के फलस्वरूप, उन महान विद्वान के शब्दों का भाव समझने में हम असमर्थ रहे।

आचार्यश्री के प्रकृत वाक्य का सन्दर्भ :

सबसे पहले हमें उस सन्दर्भ को भली-भाँति समझना होगा जिसके अन्तर्गत आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त वाक्य लिखा है। *समयसार* के 'कर्ताकर्म' अधिकार में, आचार्य कुन्दकुन्द परमार्थतः जीव के पर-कर्तृत्व का निषेध करने के लिये कहते हैं :

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।। १०३।।

अर्थ : जो वस्तु जिस स्वकीय द्रव्य में और जिस गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में और अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती अर्थात् अन्यरूप नहीं पलटती। वह वस्तु जब अन्य में संक्रमण नहीं करती तो अन्य द्रव्य को उपादान-रूप-से कैसे परिणमा सकती है? (और, इसलिये, अन्य द्रव्य की कर्ता कैसे हो सकती है; क्योंकि यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत् तु तत्कर्मः[५] इस नियम के अनुसार, निश्चय से केवल उपादान ही कर्ता हो सकता है?)

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : ***"इस लोक में जो कोई, जितनी वस्तुएं हैं वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य में और गुणों में सहज स्वभाव से अनादि से ही वर्त रही हैं; वस्तुस्थिति की इस अचलित सीमा को तोड़ना, उसका उल्लंघन करना शक्य है। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्यरूप और जिन गुणोंरूप अनादि से है, वह उसी द्रव्यरूप और उन्हीं गुणोंरूप सदा रहती है, द्रव्य से द्रव्यान्तररूप और गुण से गुणान्तररूप उसका संक्रमण नहीं हो सकता।"***

दरअसल, प्रत्येक द्रव्य में पाए जाने वाले 'अस्तित्व' स्वभाव की ही यह विशेषता है कि जो द्रव्य जिस स्वभाव को प्राप्त है, वह उससे कभी भी च्युत नहीं होता; *आलापपद्धति* के रचनाकार आचार्य देवसेन के शब्दों में : **'स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः।'**[६] यही अभिप्राय *प्रवचनसार,* 'ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन अधिकार' में गाथा ९९ और उसकी *तत्त्वप्रदीपिका* टीका में व्यक्त किया गया है : **'स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्'** अर्थात् स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से द्रव्य 'सत्' है, अस्तिस्वरूप है।

यदि कोई प्रश्न करे कि विकारी परिणमन करने वाले द्रव्यों की यानी पुद्गलों और जीवों की द्वि-अणुक आदि एवं मनुष्य आदि वैभाविक पर्यायों के उत्पन्न होते हुए भी, क्या द्रव्य से द्रव्यान्तरण नहीं होता? ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में ही आचार्य अमृतचन्द्र का उत्तर मिलता है कि नहीं; द्वयणुकादि तथा मनुष्यादि वे पर्यायें तो कदाचित्क (कभी, किसी समय होने वाली) अर्थात् अनित्य हैं, अतः उत्पन्न हुआ करती हैं;[७] किन्तु **द्रव्य तो अनादि-अनिधन या त्रिकालस्थायी होने से उत्पन्न नहीं हो सकता, तो फिर द्रव्यान्तरण कैसे हो सकता है?**[८] और फिर,

पर्याय से पर्यायान्तरण होते हुए भी, पर्यायों का उत्पाद-व्यय होते हुए भी; वे पर्यायें द्रव्यस्वभाव का कभी उल्लंघन नहीं करतीं : **''यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्''**[९] अर्थात् जो कुम्भ का सृजन/उत्पाद है और मत्पिण्ड का संहार/व्यय है, वही मत्तिका की स्थिति/ध्रौव्य है, क्योंकि **व्यतिरेक अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप पर्यायें कभी अन्वय**[९,१०] **अथवा द्रव्यसामान्य का अतिक्रमण नहीं करतीं** (*प्रवचनसार,* ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा १००, *तत्त्वप्रदीपिका* टीका)।

ऊपर दिये गए आगम-प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि :

(क) द्रव्य से द्रव्यान्तरण, (ख) गुण से गुणान्तरण, तथा
(ग) द्रव्यपरिणामों द्वारा द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण,

इन तीनों ही घटनाओं की अशक्यता/असंभवता प्रत्येक द्रव्य के मूल स्वभाव में अनादि से ही निहित है। *प्रवचनसार* में गाथा ९५ द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द यही अभिप्राय व्यक्त करते हैं : **''स्वभाव को छोड़े बिना, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे द्रव्य कहते हैं।''**[११]

प्रकृत कथन का अभिप्राय :

अब वापिस आते हैं मूल मुद्दे पर : *समयसार* के गाथाचतुष्क ३०८-३११ पर *आत्मख्याति* टीका का प्रथम वाक्य (देखिये लेख का पहला पैरा)। यहाँ भी उपरिचर्चित गाथा १०३ वाला ही प्रकरण है : जीव के पर-अकर्तृत्व की सम्पुष्टि।[१२] इस सन्दर्भ में ही अमृतचन्द्राचार्य ने 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रयुक्त इस शब्दसमास का अर्थ ऐसा होना चाहिये कि पहले तो वह प्रकृत सन्दर्भ में संगतिपूर्ण और युक्तियुक्त हो; और फिर, सम्पूर्ण समयसार में (नहीं, सम्पूर्ण जिनागम में) प्रतिपादित विषयवस्तु के साथ भी उसका अविरोध सिद्ध हो।

पहले प्रकृत सन्दर्भ को ही दृष्टि में रखें तो **जीव अथवा अजीव किसी भी द्रव्य के परिणामों या पर्यायों का वह क्रमनियमन ऐसा होना चाहिये कि** पर्यायों द्वारा उस नियम के अन्तर्गत रहते हुए, जीवद्रव्य जीवरूप ही वर्तता रहे और अजीव/पुद्गलद्रव्य अजीव/पुद्गलरूप ही वर्तता रहे; अर्थात् **पर्यायों द्वारा**

उस नियम के अन्तर्गत रहते हुए द्रव्य से द्रव्यान्तरण असम्भव हो तो क्या होना चाहिये वह अर्थ जो कि सन्दर्भ-संगति की इस कसौटी पर खरा उतरे?

पहली नज़र में ही इतना तो समझ में आता है कि परिणामों के लिये प्रयुक्त इस विशेषण में, संज्ञावाची 'क्रम' शब्द कालक्रम, काल की अपेक्षा उत्तरोत्तरता या एक-के-बाद-एकपने को सूचित नहीं करता (हालाँकि अनुवादकों द्वारा ऐसा समझ लिया गया है); क्योंकि यदि हम परिणामों के 'क्रमवर्तित्व' अथवा 'क्रमिकता' को दृष्टि में लेते हैं तो उसकी सन्दर्भ से तनिक भी संगति नहीं बैठती। दूसरी ओर, कुछ दूसरे लोगों द्वारा प्रस्तावित 'क्रमबद्धता' की परिकल्पना (hypothesis) पर यदि विचार करते हैं तो उसकी भी कोई संगति नहीं बनती। कारण सीधा-सा यह है कि **पर्यायों की 'क्रमिकता/क्रमवर्तित्व' अथवा कथित 'क्रमबद्धता', दोनों ही अवधारणाओं** (concepts) **में ऐसी कोई विशेषता नहीं है कि जो प्रकृत सन्दर्भ द्वारा अपेक्षित 'द्रव्यान्तरण की असंभवता' को सुनिश्चित कर सके (अथवा यदि स्वयं पर्यायों में ही कोई ऐसी विशेषता है तो उस तथ्य को समुचित अभिव्यक्ति दे सके)।**

संस्कृतभाषा के भी प्रकाण्ड विद्वान, श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने 'क्रम' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है। मोनियर्-विलियम्स् के अनुसार 'क्रम्' धातु का प्रधान अर्थ है[१३] : to step, walk, go, go towards, approach; तथा आप्टे के अनुसार[१४] : चलना, पदार्पण करना, जाना; एवं 'क्रम' संज्ञा का प्रधान अर्थ है[१५] : a step, going, proceeding, कदम, पग, गति। अब, ऊपर दिये गए आगम-प्रमाणों के आलोक में, 'क्रमनियमन' का सन्दर्भानुसारी अर्थ इस प्रकार समझ में आता है : 'क्रमनियमित पर्यायों' से तात्पर्य है, ऐसे नियमित या नियन्त्रित कदम रखने वाली पर्यायें कि द्रव्यस्वभाव की सीमा का उल्लंघन न हो। ज्ञातव्य है कि द्रव्यानुयोग में 'गति' हमेशा से ही परिणमन की प्रतीक रही है; जैसा कि *पंचास्तिकाय* में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द **'द्रवति गच्छति तान् तान्. ..... पर्यायान्'**[१६] द्वारा व्यक्त करते हैं; अथवा जैसे 'समय' शब्द की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा में कहा गया है : **'सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतयाऽयन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः।'**[१७] और द्रव्य व पर्यायों की इस कथंचित् भेदविवक्षा वाली, प्रतीकात्मक भाषा में चाहे द्रव्य को 'गमन करते हुए उन-उन पर्यायों तक पहुँचने वाला' कहा जाए या चाहे पर्यायों को 'द्रव्यरूपी

प्रांगण की सीमा के भीतर गति करने वाली' कहा जाए, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता दोनों रूपक एक ही वस्तुस्वरूप को दर्शाते हैं।

जीव है वह जीवस्वभाव के क्रमण/उल्लंघन के विषय में नियन्त्रित/प्रतिबन्धित, ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव/पुद्गल नहीं। इसी प्रकार, अजीव/पुद्गल भी अजीव/पुद्गलस्वभाव के क्रमण/उल्लंघन के विषय में नियन्त्रित/प्रतिबन्धित ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव/पुद्गल ही है, जीव नहीं; (परिणामों के द्वारा द्रव्यस्वभाव का उल्लंघन नियन्त्रित क्यों है, इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप आचार्य प्रकृत वाक्य का समापन इस प्रकार करते हैं :) क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य होता है, जैसे कि स्वर्ण का कंगन आदि अपनी पर्यायों के साथ।[२०-२१]

प्रस्तुत भावानुवाद का अन्य समप्रासंगिक कथनों के साथ अविरोध

(क)'आत्मख्याति ' में पूर्वापर- अविरोध :

'क्रमनियमन' का उक्त भावार्थ प्रकृत सन्दर्भ के साथ तो संगत है ही, सम्पूर्ण *समयसार* में प्रतिपादित विषयवस्तु के साथ भी पूर्वापर-संगति को लिये हुए है; यह एकदम स्पष्ट हो जाता है जब हम कर्ताकर्माधिकार की उपर्युक्त गाथा १०३ पर पुनः ध्यान देते हैं। हम देखते हैं कि इस गाथा का तथा सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के गाथाचतुष्क ३०८-३११ का सन्दर्भ एक ही है परमार्थतः जीव के पर-कर्तृत्व का निषेध। आचार्य अमृतचन्द्र ने दोनों ही स्थलों पर एक-ही आगम-सम्मत तर्कणाशैली को अपनाते हुए व्याख्या की है। जहाँ, गाथा १०३ की टीका में वे कहते हैं कि द्रव्य और उसके गुण अनादि से वर्तन करते हुए वस्तु की स्वाभाविक, अचलित सीमाओं का उल्लंघन/अतिक्रमण नहीं कर सकते, द्रव्य से द्रव्यान्तररूप और गुण से गुणान्तररूप संक्रमण होना अशक्य है; वहीं गाथा ३०८-३११ की व्याख्या में वे कहते हैं कि वस्तु के परिणाम अनादि से प्रतिक्षण बदलते हुए भी पर्याय से पर्यायान्तरण घटित होते हुए भी वे परिणाम वस्तु की स्वाभाविक, अचलित सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकते। ध्यान देने योग्य है कि **'अतिक्रमण', 'संक्रमण' और 'क्रमनियमन', इन सभी में 'क्रम' शब्द एक 'गति' का ही सूचक है,**[२२] **कालापेक्ष उत्तरोत्तरता का सूचक नहीं; अतः प्रकृत में 'क्रमनियमन' का भावानुवाद है : 'क्रमनियन्त्रण अथवा उल्लंघन/अतिक्रमण की अशक्यता'**। यदि हम पूर्वाग्रह एवं पक्षपात से रहित

दृष्टिकोण से ऊपर किये गए विश्लेषण को हृदयंगम करें तो निःसन्देहरूप से समझ में आ जाएगा कि जिन लोगों ने भी 'क्रमनियमित परिणाम' का अर्थ 'क्रमबद्ध पर्याय' करने की कोशिश की है उन्होंने 'सन्दर्भ-संगति' एवं 'पूर्वापर-अविरोध' - शास्त्रों का सम्यग् अर्थ करने की पद्धति के इन दो सर्वमान्य एवं अपरिवर्त्य नियमों की अवहेलना की है।

(ख) तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति से अविरोध :

प्रवचनसार, गाथा १०० की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका का ऊपर उद्धृत किया गया वाक्यांश ('व्यतिरेकाणाम् अन्वय-अनतिक्रमणात्') एवं *समयसार,* गाथा ३०८-३११ की *आत्मख्याति* टीका का प्रकृत कथन ('पर्यायों का क्रमनियमन'), इन दोनों का एक ही अभिप्राय है। संस्कृत काव्य एवं गद्य, दोनों ही प्रकार की रचनाओं में भाषा की निष्णात प्रौढ़ता के लिये प्रसिद्ध[२३], आचार्य अमृतचन्द्र की लेखनी से यदि एक ही वस्तु-तथ्य की अभिव्यक्ति के लिये दो भिन्न रचनाओं में भिन्न-भिन्न शब्दावली निःसृत हुई है तो यह भाषा दोनों ही पर उन महान विद्वान के सहज अधिकार का सुपरिणाम है; किसी भी सजग एवं सदाशय पाठक का दायित्व है कि वह आचार्यश्री की उन पंक्तियों में स्व-कल्पित अर्थ को पढ़ने का प्रयास करने के बजाय, पूर्वाग्रह-रहित होकर उस भावार्थ को ग्रहण करे जो कि न केवल सन्दर्भ-संगत हो अपितु जिनागम में उसी विषय का प्रतिपादन अन्यत्र भी जहाँ किया गया हो, वहाँ भी उस भावार्थ की भलीभांति संगति बैठती हो।

(ग) अन्य आर्ष आचार्यों की कृतियों से अविरोध :

अपने पूर्ववर्ती आचार्य अकलंकदेव द्वारा *तत्त्वार्थवार्तिक* में दी गई 'परिणाम' की परिभाषा का भी सम्यक् भावानुसरण करते हैं : **''द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन विकारः . . . परिणामः। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् शाधान्यं विभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः''**[२३] अर्थात् द्रव्य का अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए जो परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्य से भिन्न नहीं है, फिर भी द्रव्यार्थिकनय की अविवक्षा और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता में उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक जाति को न छोड़ते हुए, पूर्वपर्याय की निवृत्तिपूर्वक, जो उत्तरपर्याय का उत्पन्न होना है, वही परिणाम है।

इसी प्रकार, *पंचास्तिकाय,* गाथा १० की *समयव्याख्या* में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : **एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां सन्ताने...** अर्थात् एक जाति की अविरोधी या जात्यन्तर की विरोधी, अथवा **द्रव्यान्तरण की विरोधी** क्रमवर्ती पर्यायों का प्रवाह, उसमें...।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि *पंचास्तिकाय, प्रवचनसार एवं समयसार* = इन परमागमस्वरूप ग्रन्थत्रय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित टीकाओं में परस्पर इस विषय पर न केवल पूर्ण संगति है; बल्कि उनकी व्याख्याएं मूलग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्द एवं भट्ट अकलंकदेव जैसे प्रामाणिक आचार्यों के वचनों के भी पूर्णतः अविरुद्ध हैं; जैसा कि स्वाभाविक रूप से, ऐसे महान् आचार्य से अपेक्षित ही है। फिर भी, पर्यायों की कथित क्रमबद्धता का समर्थक कोई व्यक्ति आचार्यश्री के कुछ वचनों का बिना किसी अन्तर्बाह्य साक्ष्य के यदि ऐसा अर्थ करता है कि जिसके द्वारा उनकी तीनों टीका-कृतियों के बीच ही अर्थ की विसंगति (inconsistency) का प्रसंग पैदा हो जाए, तो उस व्यक्ति के ऐसे प्रयास को मज़बूरन, न केवल ऐसे महान् आचार्य की, बल्कि समस्त जिनवाणी की भी, विराधना करने का दुष्प्रयास ही समझना पड़ेगा।

इतने साक्ष्यों को दृष्टिगत करने के बाद भी, यदि किसी तत्त्वजिज्ञासु को अब भी कोई सन्देह रह गया हो, तो उसे आचार्यश्री की स्वतन्त्र रचना *तत्त्वार्थसार* में 'परिणाम', 'उत्पाद' व 'व्यय' का निरूपण[२४] देखना चाहिये।

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च।
भावान्तरपरिप्राप्तिः निजां जातिमनुज्झतः।।
स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते।।

अर्थ : **अपनी जाति का विरोध न करते हुए, वस्तु का जो विकार है उसे परिणाम कहा है। अपनी (चैतन्य या पौद्गलिक आदि) जाति को नहीं छोड़ते हुए,** चेतन व अचेतन द्रव्य को जो पर्यायान्तर की प्राप्ति होती है, वह उत्पाद कहलाता है। **अपनी जाति का विरोध न करते हुए,** चेतन व अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश है, वह व्यय कहलाता है।[२५]

यहाँ भी आचार्यश्री ने उस विशेषता ('स्वजाति को न छोड़ना' या 'स्वजाति का विरोध न करना') को उत्पाद-व्यय की मूल अवधारणा में निहित

माना है; जिसके हेतु कुछ लोगों को 'क्रमबद्धता' की कल्पना करने का श्रमभार व्यर्थ में ही वहन करना पड़ा है!

उपसंहार :

अन्त में, किसी भी प्रकार के संशय या सन्देह के निरसन हेतु पुनरावृत्ति दोषों को भी सहन करते हुए, यह दोहराना उचित होगा कि जिनागम के अनुसार (क) द्रव्य से द्रव्यान्तरण, (ख) गुण से गुणान्तरण, तथा (ग) द्रव्यपरिणामों द्वारा द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण, इन तीनों ही घटनाओं की अशक्यता/असंभवता प्रत्येक द्रव्य के मूल स्वभाव में अनादि से ही अन्तर्निहित है। भेदविवक्षा में चाहे द्रव्य/द्रव्यस्वभाव, गुण और पर्याय को कथंचित् भिन्न-भिन्न कहा जाता हो, फिर भी वस्तु के मूल स्वभाव को ग्रहण करने वाले अभेदनय की विवक्षा में तीनों एक-रूप-से वस्तु की अचलित सीमा अथवा मर्यादा का उल्लंघन या अतिक्रमण करने में असमर्थ हैं। यहाँ पर, द्रव्यस्वभाव के अन्तर्गत ध्रौव्य को, एवं पर्यायों के अन्तर्गत उत्पाद-व्यय को भी शामिल कर लेना चाहिये, जैसा कि ऊपर दिये गए विभिन्न आर्ष आचार्यों के उद्धरणों से सुस्पष्ट है।

जब वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि द्रव्य स्वयं तो द्रव्यान्तरण की अशक्यता सुनिश्चित करने में समर्थ है ही, पर्यायें भी उसी सुनिश्चितकारिता से सज्जित है। जिस सामर्थ्य को स्पष्ट रूप से रेखांकित करने के लिये ही आचार्यश्री ने प्रकृत वाक्य के अन्त में **'सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात्'** कहना ज़रूरी समझा है। तब उन 'समर्थ' परिणामों/पर्यायों को उसी कार्य (द्रव्यान्तरण की अशक्यता) के हेतु 'क्रमबद्धता' रूपी बैसाखियों की ज़रूरत भला क्यों पड़ने लगी? साफ़ ज़ाहिर है कि कथित 'क्रमबद्धता' चाहे जिस किसी व्यक्ति की भी कल्पना की उपज हो, वहाँ द्रव्यानुयोग के मूल सिद्धान्तों को आत्मसात् करने में कोई चूक ज़रूर हुई है।

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थत्रय के अभ्यासी-अनुभवी महानुभावों का एक कथन ध्यान में आता है कि *समयसार* के अध्ययन से पहले *प्रवचनसार* का गंभीर अध्ययन किया जाना आवश्यक है। 'क्रमनियमन का अर्थ क्रमबद्धता है', ऐसी कल्पना अथवा परिकल्पना को पेश किये जाने से पहले, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार के प्रारम्भ की दस-बारह गाथाओं के और उन पर तत्त्वप्रदीपिका टीका के भावार्थ को यदि सम्यक्रूपेण हृदयंगम किया गया होता; और उनके आलोक में 'आचार्य अमृतचन्द्र का अभिप्राय क्या है', यदि इस प्रश्न

पर ईमानदारीपूर्वक ऊहापोह किया गया होता तो सम्भवतः इस विवाद का जन्म ही न होता। तो भी, न्यायोचित होगा कि उक्त कल्पना के जनक को निष्पक्षभाव से धन्यवाद दिया जाए, क्योंकि किसी मुद्दे के विवादग्रस्त होने पर ही वह विचारणा के केन्द्रबिन्दु (focus) पर आता है, और बहुधा देखा गया है कि मुद्दे का फ़ोकस पर आना उसका हल खोजे जाने में एक निमित्त हो जाता है।

सन्दर्भ-सूची :

१. (क) आत्मख्याति-समन्वित समयश्भर्तिं, ढूँढारी हिन्दी वचनिका : पंञ्च जयचन्द छाबड़ा (श्री मुसद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, नई दिल्ली, १९८८); पृ. ४६३-६५

(ख) आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति-समन्वित समयसार, पंञ्च जयचन्द छाबड़ा की वचनिका के खड़ी बोली रूपान्तर सहित संशोधित संस्करण (अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, १९५९); पृ. ३९६-९८

(ग) समयसार, प्रवचन-सहित; सम्पादन : डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य (श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी, तृतीय सं०, २००२); पृ. ३२२-२३

(घ) आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति एवं स्वोपज्ञ-तत्त्वप्रबोधिनी टीकात्रय-समन्वित समयसार, टीका-अनुवाद-सम्पादन : पं.मोतीचन्द्र कोठारी (श्री ऋषभनाथ दि० जैन ग्रन्थमाला, फलटण, १९६९); खण्ड ४, पृ. ११९९-१२०३

२. (क) आत्मख्याति- गुजराती व्याख्या का हिन्दी रूपान्तर : पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक-टोडरमल स्मारक, पेज ४९३-९५

(ख) क्रमबद्धपर्याय, डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

(ग) जैनतत्त्वमीमांसा, पं० फूलचन्द्र शास्त्री (सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउंडेशन, रुड़की, तृतीय संस्करण, १९९६); पृ० २५८-५९

३. सर्वविदित है कि समयसार पर 'आत्मख्याति', प्रवचनसार पर 'तत्त्वप्रदीपिका', पंचास्तिकाय पर 'समयव्याख्या'= ये तीन टीकाग्रन्थ तथा 'तत्त्वार्थसार', 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' और 'लघुतत्त्वस्फोट' = ये तीन स्वतन्त्र कृतियां; इस प्रकार कुल छह रचनाएं आचार्य अमृतचन्द्र की है।

४. समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश संख्या ५१

५. आलापपद्धति, सूत्र १०६; हिन्दी अनुवाद एवं टीका : पं० रतनचन्द जैन मुख्तार (श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी, १९७०); पृ० १४९

६. ययत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्वणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्।
(प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा ९८, अमृतचन्द्राचार्यत्त तत्त्वप्रदीपिका टीका)

७. ह्नन खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। अर्थात् द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति वास्तव में नहीं होती, क्योंकि सभी द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सभी द्रव्य, परद्रव्य की अपेक्षा के बिना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध हैं); और उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी

अनादिनिधनता से है, क्योंकि अनादिनिधन पदार्थ अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। (प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा ९८, अमृतचन्द्राचार्यत्त तत्त्वप्रदीपिका टीका)

८. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा १००, अमृतचन्द्राचार्यत्त तत्त्वप्रदीपिका टीका (श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, पंचमावृत्ति, १९८५), देखिये पृ० १९९ पर फुटनोट में दिया गया संशोधित पाठ।

९. (स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयः) अर्थात् अपनी जाति को न छोड़ते हुए उसी रूप से अवस्थित रहना अन्वय है। (राजवार्तिक, अ. ५, सू० २, वार्तिक १)

१०. सामान्य, द्रव्य, अन्वय और वस्तु, ये सब अविशेषों रूप से एकार्थवाचक हैं। (देखिये पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक १४३)

११. अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसम्बद्धम्। गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति।। (प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा ९५, संस्कृत छाया)

१२. समयसार पर दिये गए अपने प्रवचनों में, श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी ने गाथा १०३ एवं गाथाचतुष्क ३०८-११ के बीच विषयसाम्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है; देखिये सन्दर्भ १(ग)

१३. Sanskrit-English Dictionary, Williams (Motilal Banarsidass, Pg. 319.

१४. संस्कृत-हिन्दी काश, वा. शि० आप्टे (मोतीलाल बनारसीदास,), पृ० ३०९

१५. वही : Ref. 13. १६. सन्दर्भ १४, पृ. ३१० १७. पंचास्तिकाय, गाथा ९,

१८. परमाध्यात्म-तरंगिणी : समयसार-कलश पर शुभचन्द्र भन्नरक की टीका; अनुवाद : पं० कमलकुमार शास्त्री (वीरसेवामन्दिर प्रकाशन, दिल्ली, १९९०), पृ. २

१९. देखिये : सन्दर्भ १३ व १४

२०. इसी प्रकार के सन्दर्भ में, प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा ९९ की तत्त्वप्रदीपिका

२१. आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :-
द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः। परिणामविठ्ठोंाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः।।७१।।
संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषातः। प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा।।७२।।

२२. क्रमण अथवा उल्लंघन, मूलतः गति का ही एक प्रकार है।

२३. आचार्य अमृतचन्द्र की स्वतन्त्र रचना 'लघुतत्त्वस्फोट', अनुवादक-सम्पादक : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, १९८१; सम्पादकीय, पृ० ७)

२४. तत्त्वार्थसार, तृतीयाधिकार, श्लोक ६-७

२५. सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद के ये वचन भी द्रष्टव्य हैं : (चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तावशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृतपिण्डस्य घटपर्यायवत्। (५/३०)

सुदर्शन-निलय, १३- बी.आर ब्लाक,
दिलशाद गार्डन, जी. टी. रोड,
दिल्ली ११० ०९५

आचार्य हरिभद्र का अनेकांतवाद और उपयोगिता

-अतुल कुमार प्रसाद सिंह

''अनेकांतजयपताका'' के रचनाकार आचार्य हरिभद्र का पूरा जीवन विभिन्न दर्शनों के अध्ययन और मनन को समर्पित रहा । उनका जीवन दर्शन भी बहुत ही उच्च कोटि का रहा है। आचार्य हरिभद्र ने लोक कल्याण की भावना से ही अपने सारे साहित्य का सृजन किया। उनमें यह लालसा नहीं थी कि उनकी रचनाओं के माध्यम से उनका नाम और यश हो। इसीलिए उनकी रचनाओं में उनके जीवन संबंधी तथ्यों का उल्लेख नहीं मिलता है। इस कारण उनके जन्म और मृत्यु के समय को ठीक-ठीक बता पाना ही कठिन है। आचार्य हरिभद्र के संबंध में उनके समकालीन अथवा परवर्ती जैन आचार्यों ने जो उल्लेख अपनी कृतियों में किया है, उन्हीं के आधार पर आचार्य के समय तथा मृत्यु का निर्धारण किया जा सकता है।

जैन दर्शन की परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं, जिनमें समन्वयवादी दृष्टि तो थी ही, विषय की गंभीरता, तार्किकता और संप्रदायों से ऊपर रहने वाले आचार्य की छवि भी थी। जिस कालखंड में हरिभद्र पैदा हुए, उसमें दार्शनिकों के बीच एक-दूसरे के मतों का खंडन करने और अपनी धारा को येन-केन-प्रकारेण सही साबित करने की होड़ लगी रहती थी। ऐसी परिस्थिति में व्यक्तिगत अहं के टकराव के कारण अगर किसी का नुकसान हो रहा था तो वह था दर्शन और धर्म। ऐसे युग में हरिभद्र एक ऐसे दार्शनिक चिंतक के रूप में हमारे सामने आए जो अपने युग की अनुदार और संकुचित दृष्टि से पूर्णतया मुक्त रहे। यह उनकी उदार एवं सहिष्णु दृष्टि का ही परिणाम था कि वे अपने विरोधी दर्शनों में निहित सत्य का दर्शन कर सके और जैन परंपरा की अनेकांत दृष्टि के आधार पर उसका समन्वय कर सके। षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय जैसे उनके दार्शनिक ग्रंथ उनकी उदारता और तटस्थ दृष्टि का ही उद्घोष करते हैं। हरिभद्र एक उत्कृष्ट दार्शनिक होने के साथ ही धार्मिक क्षेत्र में भी महान क्रांतिदूत और समाज सुधारक थे। अपने

संप्रदाय की कमियों का अवलोकन कर उसकी निर्भीकता के साथ समालोचना करना उन जैसे महान क्रांतिकारी के लिए ही संभव था। हरिभद्र ने अपने संप्रदाय के साथ ही अन्य संप्रदायों के अव्यावहारिक और अंधविश्वासी कथाओं की जमकर आलोचना की और उनका उपहास उड़ाया। उनके संबोध प्रकरण और धूर्त्ताख्यान आदि ग्रंथ विभिन्न धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त इस तरह की बुराइयों के खिलाफ उठी आवाज ही है। आचार्य हरिभद्र प्रतिभा संपन्न, बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी तो थे ही, उच्च कोटि के साहित्यकारी भी थे। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं यानि, धर्म, दर्शन, आचार, काव्य, व्यंग्य, कथा आदि में प्रचुर मात्रा में रचनाएं कीं।

हरिभद्र अपने युग के धर्म संप्रदायों में उपस्थित अंतर और बाह्य के द्वैत को उजागर करते हुए कहते हैं- लोग धर्म मार्ग की बातें करते हैं, किन्तु सभी तो उस धर्म मार्ग से रहित हैं। मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है। धर्म तो वहां होता है, जहां परमात्म तत्व की गवेषणा हो, दूसरे शब्दों में जहां आत्मानुभूति हो, स्व को जानने और पाने का प्रयास हो। जहाँ परमात्म तत्व को जानने और पाने का प्रयास नहीं है वह धर्म मार्ग नहीं है। हरिभद्र कहते हैं- जिसमें परमात्म तत्व की मार्गणा है, परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म मार्ग ही मुख्य मार्ग है। आगे वे पुनः धर्म के मर्म को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- जहाँ विषय वासनाओं का त्याग हो, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों से निवृत्ति हो वही तो धर्म मार्ग है। जिस धर्म मार्ग या साधना पथ में इसका अभाव है वह तो नाम का धर्म है। विषय वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दुष्प्रवृतियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है। उन सभी लोगों को, जो धर्म मार्ग का आचरण करने से होगा, इसकी समीक्षा करते हुए हरिभद्र यहां तक कहते हैं कि धर्म मार्ग किसी एक संप्रदाय की बपौती नहीं है। जो भी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा, फिर वह चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य कोई। वस्तुतः उस युग में जब सांप्रदायिक दुरभिनिवेश अपने चरम पर थे, यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता या सदाशयता का प्रतीक है, अपितु एक क्रांतिदर्शी आचार्य होने का भी प्रमाण है।

अनेकांतवाद जैन दर्शन की विशिष्ट और महत्वपूर्ण खोज है। इसीलिए जैन दर्शन को अनेक धर्मात्मक या अनैकांति कहा गया है। दर्शन के क्षेत्र

में विभिन्न विचारों के बीच टकराव और मतभिन्नता को दुराग्रहपूर्वक अस्वीकार न कर उसे अन्य पक्षों और संदर्भों की अपेक्षा से विचार योग्य सामने या उस पक्ष का स्वीकार, जो तत्-तत् दार्शनिकों को तो ज्ञात हो पर दूसरे को नहीं, अनेकांतवाद का मुख्य पहलू है। अनेकांत की भाषिक अभिव्यक्ति के लिए जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद की खोज की ओर उसकी पद्धति के लिए नय की। अनेकांतवाद का कार्य विभिन्न दर्शनों के तत्वों में से सापेक्षिक सत्य को खोज उनके बीच के विरोध को समाप्त करना बताया जाता है, हालांकि ऐसा संभव तो नहीं हुआ। यद्यपि इस कार्य-व्यापार के कारण ही अनेकांतवाद को सिद्धान्त की अपेक्षा व्यावहारिक पद्धति के रूप में देखा जाता है। एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में अनेकांतवाद की स्थापना चौथी शताब्दी में सिद्धसेन दिवाकर ने की थी। अपने सन्मति तर्क प्रकरण में उन्होंने अनेकांत को व्याख्यायित करते हुए इसकी व्यावहारिक महत्ता को इन शब्दों में प्रतिपादित किया है :

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।

- सन्मति-तर्क-प्रकरण, ३/७०

अर्थात् जिसके बिना लोक व्यवहार का निर्वहण सर्वथा संभव नहीं है, उस संसार का एकमात्र गुरु अनेकांतवाद को नमस्कार है।

एक संपूर्ण और मूर्त्त सिद्धांत के तौर पर अनेकान्तवाद को जैन दार्शनिकों ने चौथी शताब्दी और उसके बाद स्थापित किया, लेकिन इसका बीज उतना ही प्राचीन है जितना दार्शनिक साहित्य। भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद के नासदीय सुक्त[१] में परम तत्व के सत् या असत् होने के संबन्ध में न केवल जिज्ञासा है बल्कि अंत में ऋषि कहता है कि उस परम सत्ता को न तो सत् कहा जा सकता है और असत्। इस प्रकार सत्ता की बहुधर्मिता और उसमें परस्पर विरोधी गुणों की उपस्थिति अपेक्षा भेद से वेदकाल में भी स्वीकृत हो चुकी थी। ऋग्वेद में ही परस्पर विरोध मान्यताओं में निहित सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए कहा गया है- एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति। अर्थात् सत् एक है और विद्वान उसे अनेक दृष्टि से व्याख्यापित करते हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी

होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने किसी प्रश्न का उत्तर एकान्तिक दृष्टि से नहीं दिया है। आगमों में उल्लिखित अर्हत् वचनों में हर प्रश्न का उत्तर अपेक्षा भेद से दिया गया है। इसीलिए तीर्थंकरों को त्रिपदी का प्रवक्ता कहा गया है। वे वस्तु तत्व को उप्पन्नेइ वा, विगमेई वा, धुवेई वा- इन तीन पदों से परिभाषित किया गया है। यानि, उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यता प्रत्येक वस्तु का धर्म है। एक ही वस्तु एक ही समय में उत्पन्न भी होता रहता है, उसमें से कुछ विनाश भी होता रहता है। लेकिन कुछ तत्व ऐसे भी हैं जो ध्रुव बने रहते हैं।

अनेकान्तवाद न केवल जैनदर्शन में स्वीकृत हुआ बल्कि भिन्न-भिन्न नामों से बौद्ध व अन्य दार्शनिक संप्रदायों में भी इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। जैनों का विभज्जवाद और बौद्धों का शून्यवाद अनेकांतवाद का पर्यायवाची माना जा सकता है। बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का निषेध किया जो वस्तुतः एकान्तिक दृष्टि का ही अस्वीकार था। अन्य दार्शनिक परंपराओं में संजय वेलट्ठिपुत्र के दर्शन के आधार पर ही किया है। हालांकि, संजय का दर्शन निषेधात्मक है जबकि अनेकांतवाद सकारात्मक।

हरिभद्र की दृष्टि में अनेकांत -

महान दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अनेकान्तवाद की चर्चा की। बाद में जैन दर्शन में अनेकान्तवाद को पूर्ण सिद्धांत के तौर पर सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति तर्क प्रकरण के माध्यम से स्थापित किया। बाद में जैन परंपरा में अनेकान्त की स्वीकृति बहुत तेजी से हुई और यह जैन दर्शन का मुख्य तत्व बनकर उभरा। लगभग छठी शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी को स्पष्ट करने के लिए अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ की रचना की और उन पर स्वयं ही टीकाएं लिखी। अनेकांतजयपताका संस्कृत में रचित ३५०० श्लोक ग्रंथांक वाला है। ग्रंथ के शीर्षक से ही इस वाद की महत्ता का अंदाजा हो जाता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रमाण का विषय बतलाते हुए लिखा -

अनंतधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह

(षड्दर्शनसमुच्चय कारिका ५५, पृ. ३१२)

अनंत यानि तीनों काल में रहने वाले अपरिमित सहभावी और क्रमभावी धर्मवाली वस्तु अनंतधर्मात्मकं अर्थात् अनेकान्तात्मक मानी जाती है। वस्तु चाहे चेतन हो या अचेतन हो- सब द्रव्य अनेक धर्मक या अनेकान्तात्मक है। वस्तु की या द्रव्य की अनन्तधर्मता का विवेचन अन्य आचार्यों के सदृश है। घट का पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से विचार करें घट सत है, धर्म अधर्म है, आकाशादि द्रव्यों की दृष्टि से असत है। पौदगलिक घट का पौदगलिकत्व स्वपर्याय हुआ तथा जिन धर्म, अधर्म आकाश और अनन्त जीव द्रव्यों से घट व्यावृत्त होता है वे सब अनन्त ही परपदार्थ पर पर्याय है। घट पौदगलिक है, धर्मादि द्रव्य रूप नहीं है। घट पुद्गल होकर भी पृथ्वी का बना है। जल आग या हवा आदि से नहीं बना है। अतः पार्थित्व घट की स्वपर्याय है तथा जल आदि अनन्त परपर्याय है, जिनसे कि घट व्यावृत्त रहता है। इस तरह घट को जिस-जिस पर्याय से सत कहेंगे, वे पर्यायें घट की स्वपर्यायें हैं तथा जिन अन्य पदार्थों से वह व्यावृत्त होगा वे परपर्यायें होंगी। इस तरह द्रव्य की दृष्टि से घट की जो पर्याय बताईं वे थोड़ी हैं। व्यावृत्ति रूप परपर्यायें तो अनन्त हैं, क्योंकि अनन्त द्रव्यों से घट व्यावृत्त होता है।

इस प्रकार जो स्व और परपर्यायों का विवेचन किया है, उनमें जो स्वपर्याय है, वे वस्तु की धर्म हो सकती है, परन्तु परपर्यायें विभिन्न वस्तुओं के अधीन है। अतः उन्हें प्रस्तुत वस्तु का धर्म कैसे कह सकते हैं ? घट का अपने स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व, उसका धर्म हो सकता है। परन्तु पटादि परपदार्थों का नास्तित्व पटादि पर पदार्थों के अधीन है। अतः उसे घट का धर्म कैसे कह सकते हैं। जब वे परपर्यायें हैं तो वे घट की कैसे हो सकती है? इसका उत्तर इस प्रकार हैं-

वस्तु से पर्यायों का संबन्ध दो प्रकार का होता है- एक अस्तित्व रूप से दूसरा नास्तित्व रूप से। स्वपर्यायों का तो अस्तित्व रूप से सम्बन्ध है तथा परपर्यायों का नास्तित्व रूप से। जिस तरह रूप, रस आदि का घट में अस्तित्व है, अतः उनका अस्तित्व रूप से संबन्ध है। उसी तरह स्वपर्यायें घट में पाई जाती हैं, अतः उनका भी अस्तित्व रूप संबन्ध है। परपर्यायें घट

में पाई नहीं जाती, अतः उनका नास्तित्व रूप से संबन्ध है। जिस प्रकार घटावस्था में मिट्टी का पिंड आदि पर्यायें पाई नहीं जाती अतः उनका घड़े के साथ नास्तित्व रूप से संबंध है। इस कारण वे परपर्यायें उस पदार्थ में नहीं रहती। असत हैं, इसीलिए तो वे परपर्यायें कही जाती हैं। परपर्यायें घट में पाई ही नहीं जाती तो वे घट कैसे कही जा सकती हैं? दरिद्र के पास धन नहीं हो तो क्या कहीं भी दरिद्र संबन्धी धन है, ऐसा व्यवहार होता है? जो चीज जहाँ पाई नहीं जाती, उसका उसमें संबन्ध जोड़ना तो स्पष्ट ही लोक व्यवहार का अतिक्रमण है।

हरिभद्र का मानना है कि संसार की सब वस्तुएं अपने-अपने प्रतिनियत निश्चित स्वरूप में स्थित है। किसी का स्वरूप दूसरे से मिलता नहीं है। वस्तुओं की यह प्रतिनियत स्वभावता-असाधारण स्वरूप का होना। जिन वस्तुओं से उसका स्वरूप भिन्न रहता है, उन प्रतियोगी पदार्थों के अभाव के बिना नहीं बन सकती। घट का स्वरूप पट से भिन्न है, तो जब तक पदादि का अभाव न होगा, तब तक घट में अपना असाधारण घट स्वरूप भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए जब तक उन प्रतियोगी पर-पदार्थों का परिज्ञान होगा, तब तक हम घटादि को उनसे व्यावृत्त रूप में पटाभावरूप है, यह जानना भी असंभव है। घट में पटाभाव की प्रतीति होती है, अतः घट के ज्ञान के लिए प्रतियोगी पटादि ज्ञान पहले होना चाहिए। इस दृष्टि से भी पर्यायें घट भी कही जा सकती है षड्दर्शनसमुच्चय-पृष्ठ-३४१ ।

ऊपर कही हुई वस्तु अनन्तधर्मात्मकता को दृढ़ करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं -

येनोत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं यत् तत्सदिष्यते
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः।।

वही कारिका ५७, पृ. ३४७

अर्थात् जो भी वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य- इन तीनों से युक्त होगी, वही सत् कही जाएगी। प्रत्येक वस्तु, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में क्षण-क्षण में परिणाम होते रहते हैं। लेकिन उसमें रहने वाले द्रव्यत्व की स्थिति ध्रौव्य है। अतः प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है। वस्तु का यह स्वरूप स्वयं अनेकांतता को

बतलाता है। वस्तु के इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील स्वभाव के कारण अनेकान्त की चिंतन प्रक्रिया आई। आचार्य हरिभद्र ने इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही उक्त श्लोक कहा। इसका यह अभिप्राय है कि जिस कारण उत्पादादि तीन धर्मवाली ही वस्तु परमार्थ सत है, इसीलिए सभी वस्तुएं अनन्त धर्मवाली हैं और वे ही प्रमाण की विषय होती है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है, इसीलिए उसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मकता सिद्ध होती है। इसलिए अनुमान का प्रयोग इसमें से उद्भावित होता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इसलिए अनन्त धर्मात्मक है। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यातक भी नहीं है, जैसे आकाश-कुसुम। इस प्रकार यह व्यतिरेकी अनुमान है। जिस प्रकार अनन्त धर्म एक वस्तु में होते हैं, वह ऊपर बता चुके हैं। धर्म उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। धर्मी द्रव्य रूप से सदा नित्य बना रहता है। (षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. ३५३, तथा आप्तमीमांसा श्लोक ५७)।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु से भिन्न है और उनके संबंध से वस्तु में सत्व आता है- ऐसी बात नहीं है। किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही सत्व है। ये तीनों वस्तु के स्वरूप ही है। जैसे पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि सब वस्तु द्रव्य स्वरूप से न तो नष्ट होते हैं और न ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उनमें द्रव्य का परिस्फुट रूप से निर्बाध अन्वय देखा जाता है। यह निर्बाध सिद्धान्त है कि किसी भी असद् द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती और न सत्व का अत्यन्त नाश होता है। रूपान्तर अवश्य होता रहता है। उसमें रूपान्तर होने का अर्थ ही यह है कि पूर्व रूप का नाश और उत्तर रूप की उत्पत्ति। अतः पर्याय रूप से सब वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। तथा द्रव्य रूप से उसमें ध्रौव्य है। **(षड्दर्शनसमुच्चय पृ. ३४७)**

जो पदार्थ वाले नहीं है, असत् हैं, उनके स्वरूप लाभ हो जाने को उत्पाद कहते हैं। विद्यमान पदार्थ की सत्ता का नष्ट हो जाना- उसकी सत्ता का वियोग होना विनाश है। इन उत्पाद और विनाश के होते हुए भी द्रव्य रूप से अन्वय रहना ध्रौव्य है। इस तरह उत्पादादि के असंकीर्ण लक्षण सभी अनुभव में आते हैं। ये उत्पादादि लक्षण भेद से भिन्न होकर भी परस्पर सापेक्ष है- एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। ये परस्पर निरपेक्ष होकर अत्यंत

भिन्न नहीं है। यदि ये परस्पर निरपेक्ष तथा अत्यन्त भिन्न हो जाएंगे तो आकाश-कुसुम की तरह इनका अभाव हो जाएगा। स्थिति और नाश से रहित केवल उत्पाद नहीं होता। इसी तरह विनाश और उत्पाद से रहित केवल स्थिति भी नहीं रहती। इस प्रकार परस्पर सापेक्ष ही उत्पादादि वस्तु में सत्व रूप हो सकते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने सूक्ष्म रूप से विचार किया है कि जब घट नष्ट होता है तब वह एकदेश से कुछ नष्ट होता है या सर्वदेश से पूरा का पूरा। यदि एकदेश से नष्ट होता है तो संपूर्ण घट का नाश न होकर उसके एक देश का ही नाश होना चाहिए। परन्तु हम घट को संपूर्ण ही नष्ट हुआ पाते हैं। इसलिए घट का एकदेश से नाश उचित नहीं है। यदि दूसरा पक्ष माने, यानि घट संपूर्ण सर्वदेश से नष्ट होता है तो घट के नाश होने पर कपाल और मिट्टी नहीं मिलनी चाहिए। क्योंकि घट का सर्वात्मना पूर्ण रूप से विनाश मानना उचित नहीं है। अतः अन्य कोई गति न रहने से बलपूर्वक यह मानना पड़ता है कि घट पट स्वरूप से नष्ट होता है, कपाल स्वरूप से उत्पन्न होता है और मिट्टी के रूप से ध्रुव है **(वही पृ. ३५०-५१)**।

आधुनिक संदर्भ में अनेकांतवाद की प्रासंगिकता : यद्यपि अनेकांतवाद दर्शन शास्त्र के तत्व मीमांसा के विश्लेषण से सम्बद्ध है और इसका विकास तात्विक चिंतन में वैमनस्य और वैयक्तिक अहं को दरकिनार कर सामंजस्य तथा परस्पर समन्वयवादी दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए हुआ। तथापि अनेकांतवाद के सिद्धांत का उपयोग व्यक्ति के वास्तविक जीवन के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है, अगर इसका उपयोग सावधानी और विवेक के साथ किया जाए। ऐसे में यह सिद्धांत मनुष्य के विकास को गति देने में अचूक इंजन के रूप में खड़ा मिलेगा। आज मानव सभ्यता जिस संकट के दौर से गुजर रही है उसका मुख्य कारण व्यक्ति का व्यक्ति से, देशों का देशों से और संस्कृतियों का अन्य संस्कृति से अहं और टकराव की भावना है। इसमें अपने विचार को समग्र मानकर और दूसरे विचारों के प्रति घोर असहिष्णुता का भाव रखना मुख्य हो जाता है। इसे हम जीवन के सामान्य क्षेत्रों से लेकर विशिष्ठ संस्थाओं तक देख सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में अनेकांतिक दर्शन का उपयोग इस संकट का हल खोजने में

सभ्यता, संस्कृति और अंततः विश्व शांति में मदद कर सकता है। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि रुग्ण खुद दवा के पास आए यानि इस समाधान को स्वीकार करने के लिए हमें आगे आना होगा। तमाम राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और वैश्विक समस्याओं पर विचार करते समय अगर दूसरे के विचार को सहिष्णुतापूर्वक सुना जाए और उसके विषय में केवल अपनी धारणाओं से नहीं बल्कि अन्य पक्षों की धारणाओं से भी देखा जाए तो समस्या का निराकरण सुगम हो जाएगा। यही मानव समाज को और विश्व को आगे ले जाने की दिशा का सूचक भी होगा। अन्यथा अपने सिद्धांत पर हठ ठानकर और दूसरों को अनसुना करने से हर स्तर पर अंततः समाज का ही नुकसान है।

- २०ए, समसपुर जागीर,
पाण्डव नगर, दिल्ली-९२

आवश्यक सूचना

अनेकान्त का **''जैनधर्म एवं आयुर्वेद''** विशेषांक

अनेकान्त के नियमित विद्वान लेखकों एवं विषय के अधिकारी विद्वानों को सूचित किया जाता है कि अनेकान्त- अंक 86/4 (अक्टू.-दिसम्बर 2015) उक्त विशेषांक के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है।

अस्तु विषय के अधिकारी विद्वानों से अनुरोध है कि तत्संबंधी विषय का मौलिक एवं अप्रकाशित शोधालेख- संपादक, वीर सेवा मंदिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२ के पते से शीघ्र भेजने की कृपा करें। आलेख भेजने की अंतिम तिथि जून २०१५ है। अंतिम तिथि के बाद प्राप्त लेखों पर विचार करना संभव नहीं हो सकेगा।

आदेशानुसार
सम्पादक- डॉ. जयकुमार जैन

जैनदर्शन में विवेचित विग्रहगति की अन्य दर्शनों से तुलना

- प्रा. डॉ० शीतल चन्द जैन

भारतीय दर्शन में जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसका मुख्य कारण जैन दार्शनिकों का चिंतन युक्तिपूर्ण तो है ही और पूर्वपक्ष को प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करना भी है। ऐसे महान् दार्शनिक चिंतकों में तार्किक चूडामणि आचार्य विद्यानंद ने अपने प्रखर पाण्डित्य से वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्कों से अनेकानेक सिद्धान्तों का निरसन किया। उन सिद्धांतों में आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के २५वें सूत्र विग्रहगतौ कर्मयोगः[१] को अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में विस्तार से व्याख्यायित किया है[२] कि संसारी जीव के मर जाने पर यानी भुज्यमान आयु के समाप्त होने पर तथा पूर्व जन्म सम्बन्धी शरीर के नष्ट होने पर और द्रव्यमान का भी विनाश हो चुकने पर आत्मा असहाय हो जाती है, तब अगले भव में जीव का जहाँ जन्म होना है, उस योग्य क्षेत्र में जीव कैसे प्रवृत्ति करेगा ? इस प्रश्न का समाधान भारतीय दार्शनिकों ने अपने-अपने मत से दिया है, परन्तु आचार्य विद्यानंद ने उन मतों का निरसन भी किया है। सर्वप्रथम **विग्रहगतौ कर्मयोगः** इस सूत्र के प्रत्येक पद को स्पष्ट करते हुए लिखा है[३] कि **विग्रहो देहः गतिगमनक्रिया विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः**। यद्यपि विग्रह शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहाँ पर विग्रह शब्द का अर्थ 'शरीर' अभिप्रेत है। अर्थात् विग्रह यानी शरीर के लिये जो गति यानी गमन होता है, वह विग्रहगति है। तथा कर्म का अर्थ आत्मा में प्रवाहरूप से उपचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है, वह कर्मयोग है। अर्थात् कार्माण शरीर का अवलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों में कम्पनस्वरूप क्रिया कर्मयोग कहलाता है। पूर्व उपात्त शरीर को छोड़कर उत्तर शरीर के प्रतिगमन के समय अंतराल में जो गति, गमन क्रिया होती है, उसमें कर्मयोग होता है।

अतः इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि पूर्व शरीर को छोड़कर उत्तर शरीर के अभिमुख हो, जाते हुए जीव के अंतराल में कर्मादान यानी कर्मग्रहण

करने की सिद्धि होती है, अर्थात् विग्रहगति में भी कर्म आते रहते हैं।

आचार्य विद्यानन्द महाराज ने जो उक्त सूत्र की व्याख्या लिखी है, वह पूर्ववर्ती आचार्य पूज्यपाद,[४] अकलंक[५] स्वामी एवं वीरसेन[६] आचार्य के अनुसार ही लिखी है, परन्तु कर्मादान की युक्तिपूर्वक सिद्धि आचार्य विद्यानंद ने ही की है। लिखते हैं -

गतौ तु विग्रहार्थायां कर्मयोगो मतोऽन्यथा।
तेन सम्बन्धवैधुर्याद् व्योमवन्निर्वृतात्मवत्।।

गमन के समय विग्रहगति कार्माण काययोग होता है अन्यथा विग्रहगति में कर्मों के सम्बन्ध से रहित हो जाने से आकाश के समान जीव सर्वथा कर्मशून्य हो जायेगा अर्थात् मुक्तात्मा के समान कर्मलेप से रहित हो जायेगा। ऐसी दशा में मरण के अनन्तर मुक्ति हो जायेगी।

आचार्य विद्यानंद स्वामी ने उक्त कारिका में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण के द्वारा यह बतलाया है कि जो प्रतिवादी शरीर के निमित्त हो रही जीव की गति में कर्मयोग को कारण नहीं मानता है, उनके यहाँ आकाश के समान दृष्टान्त देकर अत्यन्ताभाव और मुक्तात्मा के समान दृष्टान्त द्वारा कर्मों के सद्भावपूर्वक रिक्तता को सिद्ध करता है। और साथ में विपर्यय हो जाने का प्रसंग आयेगा अर्थात् वह मुक्तात्मा पुनः कर्मों से लिप्त हो जायेगी।[४]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा व्यापक है। अतः उत्तरभाव के जन्मस्थानों में पहले से ही ठहरा हुआ है। एतदर्थ उत्तर शरीर को ग्रहण करने के लिए गमन की कोई आवश्यकता नहीं है। पहले के योग और कर्मबंध सब वैसे के वैसे ही बने रह सकते हैं। फिर हमारे ऊपर आकाश या मुक्तात्मा के समान कर्मरहितपने का प्रसंग या विपर्यय हो जाने का दोष नहीं आयेगा।

आचार्य विद्यानंद स्वामी आत्मा के व्यापकपने का निषेध और उसका गतिपना सिद्ध करने के लिए दो हेतुओं का प्रयोग करते हुए कहते हैं[५] कि क्रिया के हेतु, गुणयुक्त होने से आत्मा के गतिपना है अर्थात् आत्मा व्यापक नहीं है, अपितु क्रियावाला है। जैसे कि फेंके जा रहे ढेले में क्रिया का हेतु प्रयत्न या जीव विपाकी गतिकर्म के उदय से होने वाला गतिभाव

नामक गुण (पर्याय) विद्यमान है, क्योंकि शरीर में उसके द्वारा की गई क्रिया देखी जाती है। इसको इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि जिस समय देवदत्त हाथ को ऊँचा उठा रहा या चला रहा है, उस आत्मा में क्रिया का उत्पादक प्रयत्न गुण अवश्य है अन्यथा शरीर के अवयवों में उठाना या पाँवों का चलाना आदि क्रियाएँ नहीं देखी जा सकती थी। अतः संपूर्ण शरीर में ओतप्रोत आत्मा ही उठती, चलती, फिरती है। इस प्रकार दो हेतुओं से आत्मा में गति सिद्ध होती है।

वैशेषिक दार्शनिकों का मानना है[१०] कि आत्मा के देश से देशान्तर होना रूप गति नहीं है, क्योंकि जगत् के सभी स्थानों में प्राप्त होती है। जैसे विभु आकाश। इसका निरसन करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने उत्तर दिया है कि[११] सर्वगत्व हेतु असिद्ध है। पक्ष में नहीं रहने से क्योंकि आत्मा स्वदेह प्रमाण है जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सभी जीवों को स्व-स्व शरीर में हो रहा है अर्थात् किसी भी जीव को अपनी आत्मा का संवेदन बाहर नहीं होता। अतः आत्मा अणुपरिमाण या महापरिमाण वाला नहीं है। यदि ऐसा माना जायेगा तो व्यवहार सांकर्य हो जायेगा।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा व्यापक मान्य है। आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के समर्थन में अनेक हेतु दिये गये हैं, जो दृष्टव्य हैं-[१२]

आत्मा व्यापक है क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच मूर्तों से भिन्न होने से, देवदत्त के सैकड़ों, हजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र अलंकार देवदत्त की आत्मा के गुणों द्वारा संपादित किये जाते हैं क्योंकि उसके उपकारक होने से, आत्मा सर्वत्र जाने जा रहे गुणों के आधार होने से, आत्मा हम सभी के जानने योग्य गुणों का अधिष्ठान होने से, आत्मा द्रव्य होते हुए अमूर्त होने से, आत्मा मन से भिन्न होता हुआ स्पर्शरहित द्रव्य होने से। इन छह हेतुओं के द्वारा आत्मा को व्यापक सिद्ध करने का प्रयास किया गया, परन्तु आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विस्तार से निरसन करते हुए कहा कि उक्त सभी हेतु प्रत्यक्षबाधित हैं, जैसे कि मिश्री का मीठापन प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो रहा है, ऐसी दशा में दो चार तो क्या सहस्रों हेतु भी मिश्री को कड़वी सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। उसी प्रकार शरीर में ही आत्मा

का स्वसंवेदन हो रहा है। अतः आत्मा के व्यापकत्व को साधने वाले सभी हेतु अकिंचित्कर हैं।

इसी प्रकार वैशेषिकों को द्वारा प्रयुक्त किया गया नित्यत्व, अमूर्तत्व और विभुत्व हेतु ईश्वरज्ञान के द्वारा व्यभिचारी सिद्ध होता है,[१३] क्योंकि ईश्वरज्ञान के अमूर्तत्व और नित्यत्व होते हुए भी व्यापक नहीं है। ईश्वरज्ञान को अनित्य कहेंगे तो, ग्रहीतग्राही होने से धारावाहिक ज्ञान के समान ईश्वरज्ञान प्रामाणिक नहीं हो सकता है। यदि गृहीत ग्राही और अनित्य होने पर भी ईश्वरज्ञान में अप्रमाणता नहीं स्वीकारोगे तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान को भी वैशेषिकों को स्वीकार करना पड़ेगा, सो उनको इष्ट नहीं है।

उपर्युक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्कों से यह सिद्ध हुआ कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा में गति क्रिया सिद्ध होना संभव नहीं है। अतः जैनदर्शन में पूर्वाचार्यों ने जैसा स्वीकार किया है, वैसा ही आचार्य विद्यानंद स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में "**विग्रहगतौ कर्मयोगः**" को व्याख्यापित कर पञ्चावयवों का प्रयोग कर निम्न प्रकार से आत्मा में गति सिद्ध की है।[१४] कहते हैं कि 'आत्मा में (पक्ष) क्रिया के हेतुभूत गुणों का सम्बन्ध हो रहा है। (साध्य) शरीर में उन गुणों से की गयी क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान होने से (हेतु) जहाँ जिसके द्वारा की गई क्रिया का उपलब्ध हो रहा है, वहाँ क्रिया के हेतुभूत गण का सम्बन्ध है। (अन्वयदृष्टांत) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पति में वायु द्वारा की गयी क्रिया का उपलम्भ होने से वायु में क्रियाहेतु वेग या ईरण (धक्का देना) विद्यमान है। उसी प्रकार काया में आत्मा द्वारा की गयी क्रिया का उपलम्भ हो रहा है। (उपनय) अतः इस कारण से शरीरी आत्मा में क्रिया के हेतुभूत गुणों का संबन्ध है (निगमन) इस प्रकार क्रिया के सम्पादक गुणों का सम्बन्ध हो रहा होने से आत्मा में गतिक्रिया सिद्ध होती है। इस प्रकार परिणमनशील संसारी जीव के अन्य शरीर की प्राप्ति के लिए जो गति की जाती है, वह विग्रहगति है।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी द्वारा न्याय-वैशेषिक मत का विस्तार से खण्डन कर बौद्धदर्शन, सांख्ययोगदर्शन का भी संक्षेप में खण्डन किया है।

बौद्धदर्शन का खण्डन करने में मात्र दो कारिकाओं का उल्लेख किया है, जिसमें कहा है कि- १५

क्षणिकं निष्क्रियं चित्तं स्वशरीरप्रदेशतः।
भिन्नं चित्तातरं नैव प्रारभेत सविग्रहम्।।
सर्वकारणशून्ये हि देहे कार्यस्य जन्मनि।
काले वा न क्वचिज्ज्ञातुमस्य जन्मन सिद्धयति।।

पूर्व क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जाने वाला निष्क्रिय क्षणिक चित्त (आत्मा) स्वशरीर प्रदेश से भिन्न शरीर सहित दूसरे चित्त (आत्मा) को उत्पन्न नहीं कर सकता।

बौद्ध आत्मद्रव्य को क्षणिक, निष्क्रिय अणुविज्ञान स्वरूप मानते हैं। पहले समय का चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समय में सर्वथा नवीन चित्त उपजता है। उनके यहाँ की यह दशा बालक, युवा, वृद्धावस्थाओं में भी घटना कठिन है, क्षणिक चित्त (आत्मा) जन्मान्तर में जाकर उपज जाय, यह तो असम्भव ही है।

बौद्ध तो बाण का भी देशान्तर में पहुँच जाना नहीं मानते हैं। पूर्व प्रदेशों पर स्थित हो रहा बाणस्वरूप अवयवों की राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशों पर दूसरे समय में अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पाद विनाश का क्रम लक्ष्यदेश की प्राप्ति तक बना रहता है। वही का वही बाण लक्ष्य तक पहुँच पाता है। बौद्धों को असत् के उत्पाद और सत के विनाश जाने का डर नहीं है। घूमते हुए चाक में भी वे क्रिया न मानकर प्रत्येक प्रदेश पर नवीन-नवीन चाक का उत्पाद-विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त मानने पर निष्क्रिय चित्त भला जन्मान्तर में जाकर दूसरे चित्त को नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बौद्धों के यहाँ विग्रहगति सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार सांख्य दर्शन जो कूटस्थ नित्यवादी हैं। उसके सिद्धान्त में भी विग्रहगति संभव नहीं है, क्योंकि सर्वथा कूटस्थ नित्य आत्मा भी पूर्व शरीर को छोड़ नहीं सकता और उत्तम शरीर को ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि पूर्व शरीर को छोड़कर उत्तर शरीर को ग्रहण करने पर आत्मा के अनित्यत्व का प्रसंग आयेगा। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने दो कारिकाओं में कूटस्थ नित्यवादी का खण्डन किया है, जो इस प्रकार दृष्टव्य है[१६]

कूटस्थोपि पुमान्नैव जहाति प्राच्यविग्रहम्।
न गृह्णात्युत्तरकायमनित्यत्वप्रसंगतः।।
परित्यागी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः।
स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् पुद्गलान्तरम्।।

विग्रहगति को व्याख्यायित करने में आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने प्रमुख रूप से नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध दार्शनिकों का खण्डन किया है। परन्तु विग्रह गति के सम्बन्ध में उक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त जब विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि चार्वाक दर्शन तो मरणोपरान्त आत्मा का अस्तित्त्व ही नहीं मानता और मीमांसा एवं वेदान्तदर्शन में मीमांसादर्शन तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य आत्माओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करता है। इसलिए विग्रहगति का कोई प्रश्न ही नहीं और वेदान्तदर्शन में अद्वैतवादियों के भी आत्मा पृथक् नहीं और द्वैतवादी कहते हैं कि[१७]

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।

महाभारत/ वनपर्व/३०/२८

अर्थात् यह यज्ञ और शक्तिहीन प्राणी अपने सुख-दुःख के अनुसार ईश्वर प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक को जाता है।

इस प्रकार द्वैतवादियों के भी विग्रहगति की व्यवस्था ईश्वर और यमराज एवं यमदूत के अधीन हैं। अतः स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में उन्हीं दार्शनिकों से विचार-विमर्श करना चाहा जो आत्मा के पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। क्योंकि जो आत्मा का पृथक अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, उनके मत में विग्रहगति सम्भव नहीं है। अतः आचार्य विद्यानन्द महाराज ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित **विग्रहगतौ कर्मयोगः** इस सूत्र के अनुसार ही अपने मन्तव्य को अनेक तर्कों के माध्यम से स्पष्ट किया है, जो उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए अनुकरणीय रहा।

जैनदर्शन में विग्रहगति तो स्वीकार की है, उसके आगे भी विचार किया है कि वह विग्रहगति कितने प्रकार की है। उस विषय में आचार्य उत्तर देते हैं कि वह विग्रहगति चार प्रकार की है - इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका। इषुगति विग्रहरहित और शेष विग्रहसहित होती है। धनुष से

छूटे हुए बाण के समान मोडरहित गति को इषुगति कहते हैं। इस गति में एक समय लगता है। जैसे हाथ से तिरछे फेंके गये द्रव्य की एक मोड़े वाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवों के एक मोड़े वाली गति को पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समय वाली होती है। जैसे हल में दो मोड़े होते है, उसी प्रकार दो मोड़े वाली गति को लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समय वाली होती है। जैसे गाय का चलते समय मूत्र का करना अनेक मोड़ों वाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ों वाली गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समय वाली होती है। यहाँ तक सशरीरी आत्मा के गमन पर विचार किया जो विग्रह गति कहलाती है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि मुक्त जीव और संसारी जीव का गमन कैसे होता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य उमास्वामी महाराज ने क्रमशः दो सूत्र दिये हैं, जिसमें **अविग्रहा जीवस्य** इस सूत्र से समाधान दिया गया है कि मुक्त जीव का गमन बिना मोड़ लिये ही होता है। क्योंकि गति की वक्रता के प्रति होने वाले निमित्त कारणों का अभाव होने से और दूसरी युक्ति दी गयी कि मुक्त जीव के ऊर्ध्वागमन का स्वभाव है।

दूसरा सूत्र दिया गया है कि **विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः** अर्थात् संसारी जीव के चार समय वाली यानी मोड़ वाली भी गति होती है, जो पूर्व में बता दिया गया है। **'एक समया विग्रहा'** इस सूत्र के अुनसार बिना मोड़ वाली ऋजुगति एक समय वाली होती है। प्रश्न होता है कि एक समय वाली अविग्रह गति किस की होती है। उत्तर दिया गया कि मुक्त और संसारी होनें की होती है परन्तु यह ध्यातव्य है कि 'एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः' अर्थात् विग्रहगति में यह जीव एक, दो, तीन समय तक अनाहारक रहता है परन्तु इषुगति वाला संसारी जीव एक समय पूर्व ही अहारक हो जाता है। इस प्रकार छह सूत्रों के माध्यम से विग्रहगति का विस्तार से विवेचन है।

******

संदर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. २/२५ २. तत्त्वार्थसूत्र पृ. १७१ ३. वही, पृ. संख्या १७२
४. स.नि. २/२५/१८२/७ ५. राजवार्तिक २/२५/१/१३६/३० छ. १/१/६०/११४
६. छ. १/१/१? ६०/२९९/९ ७. तत्त्वार्थश्लोक १७२, पृ. मा. १

८. वही, पृ. १७२ ९. वही, पृ. १७४/अ. २ का २
१०. सर्वगत्वाप्रतिः पुसः.... कार्यमात्रत्ववेदनात्/ पृ. १७४/ का ३ ११. वही
१२. विभ्रुपुमानमूर्तत्वे....। श्लोकवाति. पृ. १७५/का.४
१३. हेतुरीश्वर बोधेन .... शास्त्रबाधिता/ पृ. १७६/ का. ५
१४. गतिमानात्मा क्रियाहेतु ..../ पृ. १७६ १५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिका / पृ.१९७/का.३०/५
१६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिका./पृ.१९८/का.६, ७/सू. ५
१७. महाभारत/वनपर्व/३९/२८

बोधकथा :

काँटे से काँटा निकालें

- संत- स्वभाव, फल से लदे वृक्ष के समान होता है। जो उसे पत्थर मारता है, बदले में मीठे फल प्रदान करता है।

- संत-पुरुष को जब कोई कठोर वचनों से आघात पहुँचता है, तो वह प्रतिशोध या प्रतिरोध नहीं करता अपितु मीठे वचनों द्वारा उसका परिहार कर देता है।

- संत की सरलता और कोमल मन के सामने, प्रतिपक्षी की प्रतिशोध अनल शीतलता में बदल जाती है।

एक बार आचार्य श्री शान्तिसागर जी के पास एक अन्य धर्मावलम्बी आया और धृष्टता पूर्वक कहने लगा- 'महाराज ! आप बन्दर की तरह नग्न क्यों रहते हैं। आचार्यश्री ने शांत स्वर में कहा- यदि पैर में कांटा लग जाये तो उसे दूसरे कांटे से ही निकाल लिया जाता है। हमारा मन भी बन्दर के समान चंचल होता है, उसे रोकने के लिए बन्दर की तरह नग्नता स्वीकार करना आवश्यक है, इससे मन, वश में हो जाता है।

महाराज श्री के इन सयुक्तिक वचनों द्वारा मार्मिक उत्तर सुनकर वह व्यक्ति अत्यन्त प्रभावित हुआ और आचार्यश्री का परम भक्त बन गया।

- बुरा बोल कांटा है, सुबोल से उस कांटे को निकालना संत का स्वभाव है। दि. मुनि/आचार्य के हाथ में पिच्छी, यही संदेश देती रहती है कि मेरी तरह, मुनि भी अपने मन को मृदुल और सुन्दर बनाये रखें।

-साभार- ''लोकोत्तर साधक'' (कृति) से
प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

चामुण्डाराय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

- डॉ. आनन्दकुमार जैन

महान् चामुण्डाराय का जन्म ईसा की दशवीं शताब्दी में माता काललदेवी की कुक्षि से ब्रह्मक्षत्रियवंश[1] में हुआ था। इनके पिता महाबलिह[2] राज्य के प्रसिद्ध श्रावक थे। चामुण्डाराय ने आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा गुरु अजितसेन[3] के सान्निध्य में प्राप्त की थी तथा जैनदर्शन में दक्षता आ. नेमिचन्द के पादमूल में बैठकर प्राप्त की थी। इनकी भगिनी पीयप्पई (पुल्लव्वे) का उल्लेख भी मिलता है, जिनका मरण विजयमंगल में हुआ था।[4] यौवनावस्था में इनका विवाह अजितादेवी से हुआ था। इनसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम जिनदेवन था, जो श्रवणबेलगोला निर्मित जिनदेव मंदिर के द्रव्यदाता थे।[5] अतः यह निःसंकोच कहा जा सका है कि इनका समस्त परिवार जिनशासन के प्रति समर्पित था।

कन्नड़ प्रान्तीय होने से चामुण्डाराय की मातृभाषा यद्यपि कन्नड़ थी, किन्तु वे संस्कृत के भी सिद्धहस्त विद्वान् थे। उक्त भाषाद्वय में प्रवीणता तथा जैनदर्शन का गहन अध्ययन आपकी रचनाओं में आदर्शरूप में प्रतिबिम्बित होता है। चामुण्डाराय के गोम्मट, गोम्मटराय, राय तथा अण्ण- ये नाम प्रचलित थे।[6] जन्मदात्री माता की इच्छापूर्ति हेतु श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर्वत पर भगवान् बाहुबली की 57 (58. 8') फीट ऊँची, अतिशयकारी, अद्वितीय प्रतिमा का निर्माण चैत्र शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् 1038 गुरुवार, दिनांक 13 मार्च, 981 और वीर मार्त्तण्ड चामुण्डाराय ने कराया था।[7] 1180 में शिलालेख से ज्ञात होता है कि चामुण्डाराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था इसलिए बाहुबली की प्रतिमा का नाम गोम्मटेश्वर प्रचलित हुआ।[8] डॉ0 ए. एन. उपाध्ये ने 'गोम्मटेश्वर' का अर्थ 'चामुण्डाराय का देवता' किया है।[9] इस भव्य प्रतिमा का प्रधान शिल्पी अरिष्टनेमि तथा प्रतिष्ठाचार्य स्वयं नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। इसी प्रतिमा की स्तुति में इन्होंने 'गोम्मटेश-थुदि'

की रचा की थी।

विन्ध्यगिरि पर्वत पर चामुण्डराय ने एक त्यागद ब्रह्मदेव नामक स्तम्भ की रचना ई. सन् 974 में कराई थी, जिस पर एक प्रशस्ति भी अंकित है।[10] इस पर्वत के सामने स्थित चन्द्रगिरि पर्वत पर एक भव्य मंदिर है, जो चामुण्डरायवसति के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे ही अन्यान्य भव्य मन्दिरों के निर्माणकर्ता के रूप में चामुण्डराय इतिहास प्रसिद्ध हैं। तत्कालीन शासक ने जिनमत की महिमा बढ़ाने के फलस्वरूप उन्हें 'राय' पदवी से सम्मानित किया था।

भारत के प्रथम आश्चर्य के रूप में प्रतिष्ठित श्रवणबेलगोला स्थित भगवान् बाहुबली स्वामी की 58.8' फीट ऊँची प्रतिमा की कथा भी रोचक है[11], कहते हैं कि - महाराज मारसिंह राचमल्ल द्वितीय की राजसभा में संयोगवश किसी सेठ का आगमन हुआ, जिसने पोदनपुर स्थित बाहुबली भगवान् की प्रतिमा का अनुपम वर्णन किया, जिससे अभिभूत होकर मंत्री चामुण्डराय ने वहीं खड़े होकर प्रतिमा को भाव-नमस्कार किया तथा अपने गुरु अजितसेन के समक्ष प्रतिमा-दर्शन की इच्छा प्रकट की तथा भगवान् बाहुबली के दर्शनोपरान्त ही दुग्धना सेवन की कठिन प्रतिज्ञा कर ली। तत्पश्चात् चतुरगिंनी सेना सहित उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर वे विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने जिनदर्शन कर रात्रि विश्राम किया। इसी रात्रि में कुष्माण्डिनी देवी (शासन देवी) ने प्रकट होकर कहा- 'पोदनपुर'[12] जाने का मार्ग कठिन है। इस पर्वत में रावण द्वारा स्थापित श्री बाहुबली स्वामी का प्रतिबिम्ब है, वह धनुष पर सुवर्ण का बाण चढ़ाकर, पर्वत को छेदने पर प्रकट होगा।' प्रातःकाल होते ही चामुण्डराय ने रात्रि में आये स्वप्न का वृतान्त आ0 नेमिचन्द्र को सुनाया, उन्होंने स्वप्नानुकूल कार्य करने की सलाह दी। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर चामुण्डराय ने पर्वत भेदन किया, जिससे संपूर्ण लक्षणयुक्त बीस धनुष ऊँची बाहुबली की प्रतिमा प्रकट हुई। उद्देश्य पूर्ण होने पर वे पुनः अपने गृह नगर को लौटे और विंध्यगिरि पर बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया।[13] इसका प्रथम कलशाभिषेक ई. सन् 981 में संपन्न हुआ।[14]

धार्मिक प्रकृति से ओतप्रोत एवं राज्य के प्रति निष्ठा होने से उन्होंने गंगवंशीय तीन पीढ़ियों की सेवा की।[15] ग्रंथ परम्पराओं में भी इसका उल्लेख है जैसे बाहुबलिचरित के अनुसार द्रविड देश में एक मथुरा नामक नगरी थी, जो वर्तमान में मडुरा नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ देशीयगण के स्वामी श्री सिंहनंदी आचार्य के चरणकमलसेवक गंगवंश-तिलक भी राचमल्ल राजा हुए।[16]

जस्टिस मांगीलाल जैन चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मटराय नहीं स्वीकारते हैं और न ही सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य को समकालीन मानते हैं। वे गोम्मटेश्वर प्रतिमा निर्माण का भी निषेध करते हैं, वे लिखते हैं कि- ''आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गुरु भाई, शिष्य एवं बालसखा कहे जाने वाले चामुण्डराय का नाम भूलकर भी नहीं लिया और न ही चामुण्डराय ने अपने ग्रंथों में अपने आपको गोम्मटराय ही लिखा है। यह भी कहा जाता है कि स्वयं चामुण्डराय ने अपने पुराण में आ. नेमिचन्द्र का भी जिक्र नहीं किया है। अतः जस्टिस मांगीलाल के अनुसार निष्कर्ष यह निकलता है कि चामुण्डराय न गोम्मटराय हैं और न चामुण्डराय नेमिचन्द्राचार्य के समकालीन थे। उनका कहना है कि यदि मूर्ति चामुण्डराय ने बनवाई होती, तो चामुण्डरायपुराण (978 ई.)में वे इसके बनाने का न सही, किन्तु बनाने के संकल्प का तो अवश्य ही जिक्र करते। इस कृति में उन्होंने अपने सखा गुरुभाई नेमिचन्द्र का उल्लेख नहीं किया है। यदि मूर्ति 981 में प्रतिष्ठित हुई होती तो चामुण्डराय पुराण लिखते समय अथवा समाप्त करते समय इसका निर्माण चल रहा होगा। आश्चर्य यह है कि इस कृति के समापन के आधार पर निर्माणकाल सन् 981 की मान्यता दृढ़ की गई है जबकि मूर्ति के निर्माण में दस वर्ष का समय लगा था[17]।'

मिस्टर जस्टिस के उपर्युक्त कथन के विरुद्ध अन्य अनेक तथ्य है जो इस भ्रान्ति को दूर कर चामुण्डराय, गोम्मटेश्वर तथा नेमिचन्द्राचार्य को निःशंकित रूप से समकालीन सिद्ध करते हैं।

1. नेमिचन्द्रचार्य ने त्रिलोकसार की रचना के प्रारंभ में स्पष्ट उल्लेख किया है कि यह ग्रंथ उन्होंने भव्य चामुण्डराय को तत्त्व बोधार्थ रचा है।

2. पं. टोडरमलजी ने अपनी भाषा वचनिका नामक टीका में भी लिखा है कि 'जो भगवान नेमिचन्द्र नामा सैद्धान्तदेव चारि अनुयोगरूपी चारि समुद्रनिका पारगामी सो चामुण्डराय के संबोधन का मिसकरि समस्त शिष्य जननि के संबोधन के अर्थि त्रिलोकसार नामा ग्रंथ को रचतासंता. .....।'[18]

3. इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में रूपक के रूप में लिखा है कि- 'सिद्धांतरूपी उदयाचल के तट पर उदित निर्मल नेमिचन्द्र की किरण से युक्त गुणरत्नभूषण अर्थात् चामुण्डराय रूपी समुद्र की यति रूपी बेला भुवनतल को पूरित करे।' यहाँ गुणरत्नभूषण' पद चामुण्डराय की उपाधि है।[19]

4. गोम्मटसार के मंगलाचरण में भी ''गुणरयणभूसुणुदयं जीवस्स तु परूवणं वोच्छं'' कहकर प्रकारान्तर से चामुण्डराय का निर्देशन किया है।[20]

5. गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा 358 तथा 451 में भी चामुण्डराय का उल्लेख प्राप्त होता है।

नमिऊण णेमिचंदं असहायपरमक्कमं महावीरं।
णमिऊण वड्डमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं॥३५८॥
असहाय जिणवरिदे असहाय परक्कम्मे महावीरे।
णमिऊण णेमिणाहे सज्जगुहिद्विणमंसियंधिजुंग॥४५१॥

6. गोम्मटसार की जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका की उत्थानिका में स्वयं अभयचन्द्र सूरि ने लिखा है कि- गंगवंश के ललामभूत श्रीमद्राचमल्लदेव के महामात्य पद पर विराजमान और रणांगमल्ल, असहाय-पराक्रम, गुणरत्नभूषण, सम्यक्त्वरत्ननिलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के अर्थसंग्रह करने के लिए गोम्मटसार नाम वाले पञ्चसंग्रह शास्त्र का प्रारंभ करते हुए मैं नेमिचन्द्र मंगलपूर्वक गाथासूत्र कहता हूँ।[21]

उपर्युक्त तथ्यों का गहराई से अन्वेषण करने पर जस्टिस मांगीलाल जैन के पक्ष में इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि नेमिचन्द्राचार्य

ने कहीं भी बाहुबली की प्रतिमा को गोम्मट नहीं कहा है, अपितु इसे दक्षिण कुक्कुडजिन कहकर संबोधित किया है।[22] किन्तु नेमिचन्द्र ने अपनी रचनाओं तथा उत्तरवर्ती टीकाकारों ने स्पष्टरूप से चामुण्डराय के उद्देश्य से ग्रंथ रचा है, ऐसा लिखा है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी नेमिचन्द्र तथा चामुण्डराय को समकालीन माना है।[23]

'जे कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए चामुण्डराय ने अपनी भाषा-प्रवीणता का सदुपयोग जैनदर्शन के सूक्ष्म एवं गंभीर विषयों के प्रतिपादन में किया। इनके परिणाम स्वरूप ही आपकी चार रचनायें दृष्टिगोचर होती हैं- 1. चारित्रसार, 2. चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्टि लक्षण-महापुराण), 3. गोम्मटसार जीवकाण्ड की वीरमार्त्तण्ड नामक कन्नड़ी टीका, 4. तत्त्वार्थसार संग्रह।

चामुण्डराय के व्यक्तित्व की विशेषताएँ :

1. **आज्ञाकारी**- चामुण्डराय परम आज्ञाकारी थे। अपनी माता की इच्छापूर्ति हेतु इन्होंने भगवान् बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया। माता की ही इच्छापूर्ति के निमित्त अज्ञात स्थान पर स्थित पोदनपुर की बाहुबली की अलौकिक प्रतिमा के दर्शन के लिए चतुरंगिणी सेना के साथ गये।
2. **रसनेन्द्रिय विजयी**- अज्ञात स्थान पर स्थित प्रतिमा के दर्शन होने के पूर्व तक दुग्ध-सेवन का त्याग किया।
3. **प्रश्रयदाता**- कन्नड़ महाकवि रत्न को प्रश्रय दिया। सिद्धान्तचक्रवर्ती आ. नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय के आश्रय में निवास करते हुए सुप्रसिद्ध गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि सिद्धान्त-ग्रन्थों का सृजन किया। आचार्य अजितसेन को भी इन्होंने प्रश्रय किया।
4. **राजभक्त**- द्रुतवेग से पतनशील वंश की अभिभावकता एवं रक्षा के साथ ही उसके अधिपति पतनोन्मुख राष्ट्रकूट सम्राटों का भी संरक्षण चामुण्डराय ने यथाशक्ति किया। स्वयं सामर्थ्यवान् होते हुए भी पदलोलुपता का सर्वथा अभाव था।

अपने धार्मिक एवं नैतिक चारित्र तथा क्रियाकलापों के लिए इन्हें 'सम्यक्त्वरत्नाकर', 'सत्ययुधिष्ठिर[25]', 'गुणरत्नभूषण[26]', 'देवराज[27]', गुणकाव' आदि उपाधियों से अलंकृत किया है।

5. **उत्कृष्ट श्रावक** - मंत्री जैसे महत्वपूर्ण पद के वहनकर्ता होने के

बाद भी धार्मिक क्रियाओं में रुचि रखते थे। चामुण्डराय ने अनेक जिनमंदिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण, जीर्णोद्धार तथा प्रतिष्ठा कराई थी। श्रवणबेलगोला की चन्द्रगिरि पर स्वनिर्मित चामुण्डराय-वसति में इन्द्रनीलमणि की मनोज्ञ नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।[28] विन्ध्यगिरि पर त्यागद-ब्रह्मदेव नाम का सुन्दर मानस्तम्भ बनवाया था। विश्व प्रसिद्ध बाहुबली की प्रतिमा निर्माण का श्रेय भी इनको जाता है। इन्होंने सांसारिक क्षेत्र में उन्नति करने के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी समान ख्याति अर्जित की थी। इन गुणों का अनुकरण इनके पुत्र तथा पुत्रवधू ने भी किया था।[29]

१. चारित्रसार - आचार विषयक यह गद्यात्मक ग्रंथ संक्षेप में जैनश्रावकाचार तथा श्रमणाचार को ध्यान में रखते हुए रचा गया है। प्रारंभ में तीन अध्याय श्रावकों के विषय में है। प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व तथा पञ्चाणुव्रतों का उल्लेख है, आगे व्रतों की परिभाषा, उनके अतिचार, रात्रि भोजन त्याग (जिसे छठाँ अणुव्रत कहा है) का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में सप्तशीलों का वर्णन है। इसमें भी इनके अतिचारों तथा भेद-प्रभेदों का कथन है। गृहस्थ की इज्जा, वात्ती, दत्ति, स्वाध्याय, संयम, तप- इन षडावश्यकों का कथन है। इस अध्याय के अन्त में सल्लेखना का विवेचन है। तृतीयाधिकार में षोडशकरण भावना का स्वरूप दिया है। चतुर्थ अधिकार के अनगार (मुनि) धर्म का स्वरूप कहा है, जिसके आरंभ में दश धर्मों का विशद् विवेचन है। तत्पश्चात् तीन गुप्तियों तथा पांच समितियों का कथन है। संयमी निर्ग्रन्थों के भेद-प्रभेद, परीषहजय, गुणस्थानानुसार परिषह-कथन तथा अन्त में तप का वर्णन है तथा सबसे अन्त में द्वादश अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख कर ग्रंथ का समापन किया है।

चामुण्डरायकृत चारित्रसार की कतिपय विशेषताएँ :

1. चामुण्डराय की यह कृति पूर्ण रूपेण पूर्वाचार्यों का अनुकरण करती है। आद्यन्त इस ग्रंथ में विभिन्न आचार्यों के महत्वपूर्ण श्लोक, गाथा, कारिका आदि का संदर्भ देकर स्वलेखनी की पुष्टि की है। इस कारण यह ग्रंथ प्रामाणिक है।

2. जीवों के शरण एवं स्वर्ग-मोक्ष फलप्रदाता अर्थात् धर्म की महिमा

का वर्णन है।

3. श्रावकों के पंचाणुव्रतों के अतिरिक्त रात्रिभोजनत्याग को पृथक् रूप से छठें व्रत की संज्ञा प्रदान की है।

4. उपासकदशांग में उल्लिखित सप्तशीलव्रतों का अन्तर्भाव चारित्रसार में किया है।

5. साधु के उत्तरगुणों में गर्भित परीषहजय का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

6. श्रावका का चारित्र-विकास ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से होता है। इस ग्रंथ में व्रतों का तो संक्षिप्त कथन है किन्तु प्रतिमाओं का विशद् वर्णन किया है।

7. ध्यान-प्रकरण के अन्तर्गत धर्म्यध्यान में अनित्य आदि बारह भावनाओं का विवेचन किया है।

8. तपश्चरण द्वारा मुनियों को अनेक ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। इन ऋद्धियों का ग्रंथ में विस्तारपूर्वक कथन है।

9. प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह गृहस्थ प्रणीत प्रथम रचना है, क्योंकि ग्रंथ-सृजन का प्रचलन आर्ष (आचार्य) प्रणीत ही माना गया है।

२. त्रिषष्टि लक्षण महापुराण :- इसे चामुण्डरायपुराण भी कहते हैं। चामुण्डराय ने इसे कन्नड़ भाषा में लिखा है, इसका रचनाकाल शक सं. 990 (ई.सन् 978) है। यह कन्नड़ भाषा का आद्य ग्रंथ है। इसकी भाषा सरल एवं बोधगम्य है। इसमें प्रमुख आचार्यों के नाम, उनकी परम्परा तथा ग्रंथकारों का उल्लेख मिलता है, साथ ही इस आधार पर इनकी कालगणना में भी सहजता होती है। गृद्धपिच्छाचार्य (कुन्दकुन्द), सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद (पद्मनन्दि), कवि परमेश्वर, वीरसेन, गुणभद्र, धर्मसेन, कुमारसेन, नागसेन, आर्यनन्दि, अजितसेन, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, माघनन्दि, शामकुण्ड, तेम्बुलूराचार्य, एलाचार्य, शुभनन्दि, रविनन्दि, जिनसेन आदि का उल्लेख इस महापुराण में मिलता है। इसमें लेखक ने अनेक आचार्यों द्वारा रचित संस्कृत-प्राकृत भाषा के अनेक श्लोकों एवं गाथाओं का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ के नाम से ज्ञात होता है कि इसमें श्रेष्ठ शलाका पुरुषों (24 तीर्थंकर+12

चक्रवर्ती + 9 नारायण + 9 प्रतिनारायण + 9 बलभद्र) का वर्णन है। यह ग्रंथ जातक शैली में तैयार किया गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये प्रथम कवि थे, जिन्होंने महापुराण, जो मूलतः संस्कृत में है, की कन्नड़ में रचना की है। जो 'वड्ढाराधना के पश्चात् पद्यात्मक शैली का प्रथम ग्रंथ है।'

३. वीर मार्त्तण्डी टीका:- चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार पर वीरमार्त्तण्ड नामक कन्नड़ टीका रची है। इस रचना के पीछे दो मुख्य हेतु प्रतीत होते हैं, प्रथम यह कि उन्होंने स्वनिमित्त रची गई कृति गोम्मटसार से उऋण होने हेतु इसे रचा है तथा द्वितीय यह कि गोम्मटसार की भाषागत सौष्ठवता साधारण जनों के लिए अगम्य होने से कन्नड़-भाषियों के प्रति विशिष्ट राग एवं उपकार की दृष्टि से इसे रचा होगा।

४. तत्त्वार्थ वार्तिक संग्रह :- इस रचना के विषय में जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के निर्माता जिनेन्द्र वर्णी ने मात्र उल्लेख किया है। **'तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा'** में डॉ. नेमिचन्द्र 'ज्योतिषाचार्य' ने तथा 'अर्हत्वचन' के बाहुबली विशेषांक में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है।[30]

संदर्भः

1. 'जगत्पवित्रब्रह्मक्षत्रियवंश भागे', चामुण्डरायपुराण, पृ. 5

2. तलकारडु निवासी

3. 'सो अजियसेणणाहो जस्स गुरु', गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा. 966 4. "It is believed that Puiyappai who did in Vijayamangala was the sister of Camundaraya". Camundaraya and Sravan Aelagola. Padmavathamma.

5-"Ajita Devi, one of the vives of Camundaraya had given birth to a sonJinadevanna." Camundaraya and Sravan Aelagola. - Padmavathamma. Vol.18, No.1, Jan-March&2006, 69-74.

6- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा- नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य।

7. गोम्मटेश्वर बाहुबली और गोमटेस थुदि : एक अनुशीलन, भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', अर्हत् वचन, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर, वर्ष 18, अंक-1, जनवरी-मार्च 2006, पृ. 27-33

8. (E.C.II) नं. 238, पंक्ति 16, अंग्रेजी संक्षेप का पृ. 98, उद्धृत जीवकाण्ड की

भूमिका, पृ. 14 (पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री) उद्धृत वीरवर चामुण्डराय- श्रेयांस कुमार जैन, अर्हत् वचन, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, वर्ष 18, अंक-1, जनवरी-मार्च 2006, पृ. 35-39

9.नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य:तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड-2, पृ. 21

10. वीरवर चामुण्डराय - श्रेयांस कुमार जैन, अर्हत् वचन, पृ. 38

11. वीरवर चामुण्डराय - श्रेयांस कुमार जैन, अर्हत् वचन, पृ. 36

12. बाहुबली के राज्यक्षेत्र तक्षशिला की राजधानी

13. वीरवर चामुण्डराय - श्रेयांस कुमार जैन, अर्हत् वचन, पृ. 35-36

14. श्रवणबेलगोला : अतीत से वर्तमान, अर्हत् वचन, पृ. 9

15. गोम्मटेश्वर बाहुबली और गोमटेस थुदि : एक अनुशीलन- भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', अर्हत् वचन, पृ. 29 16. बाहुबलीचरित, श्लोक-6

17. बाहुबली, (जस्टिस मांगीलाल जैन),प्रकाशक- दि. जैन विद्यानंद शोधपीठ, बड़ौत

18. त्रिलोकसार, भाषा वचनिका - पं. टोडरमल जी,

19. गोम्मटकर्मकाण्ड गाथा 967

20. गोम्मटसार 21. गोम्मटसार जीवकाण्ड, मन्द प्रबोधिनी टीका, 503

22. गो.कर्म. 968

23. गोम्मटसार जीवकाण्ड, भूमिका पृ.14, पं. कैलाशचन्द शास्त्री

24. कर्मकाण्ड (गोम्मटसार), गाथा 1 25. कर्मकाण्ड (गोम्मटसार), गाथा 45

26. कर्मकाण्ड (गोम्मटसार), गाथा 1 27. कर्मकाण्ड (गोम्मटसार), गाथा 258

28. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 980-971

29. गोमटेश गाथा, पृ. 187 30. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग-2, शब्द-चामुण्डराय,

जैनदर्शनाचार्य, एम.फिल
शोध छात्र,जैन बौद्धदर्शन
विभाग, काशी हिन्दी विश्वविद्यालय, वाराणसी-221007

आचार्य देवसेन की कृतियों में दार्शनिक दृष्टि

-डॉ. आलोक कुमार जैन

आचार्य देवसेन स्वामी ने अपनी कृतियों में सत् के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से प्ररूपित किया है। जो अपने गुण पर्यायों में व्याप्त होता है, वह सत् कहलाता है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् कहा गया है, वही अस्तित्व कहा जाता है। इसी सत् के पर्याय स्वरूप 6 द्रव्यों का विशद वर्णन किया है। इन सबमें परम उपादेयभूत जीवद्रव्य का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। जिसमें जीव को अलग-अलग उपाधियों और अधिकारों द्वारा विवेचित किया गया है। जीव में जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, संसार में स्थिति, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व गुण विद्यमान होते हैं। जीवत्व के संबंध में आचार्य ने कुछ गाथायें उद्धृत करके विवेचन किया है। जो 10 प्राणों से जीता है वह जीव है। जीव के दो उपयोगों का विशद वर्णन आचार्य ने सारगर्भित 6-8 गाथाओं में करके अपनी प्रखर बुद्धि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनमें पांचों ज्ञानों सहित जीव को भिन्न-भिन्न रूप से कहते हुए ज्ञानों के भेद-प्रभेदों का भी अच्छा विवेचन है। उन ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्ररूपित किया है। इसी प्रकार जीव में स्वभाव से विद्यमान संकोच-विस्तार गुण होने से जीव को स्वदेहपरिमाण वाला सिद्ध किया है और अन्य मतों की विपरीत मान्यताओं को खण्डित भी किया है। निश्चय नय और व्यवहार नय की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् कर्मों का कर्त्ता और कर्मों के फल का भोक्ता विवेचित किया है। स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला बताते हुए कहा है कि जीव निश्चित रूप से ऊर्ध्वगमन करता है, परन्तु जो कर्म सहित जीव हैं, वे विग्रहगति में चारों विदिशाओं को छोड़कर छहों दिशाओं में गमन करता है तथा शुद्ध जीव ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन ही करता है। इसके अलावा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने भी अन्य आचार्यों के अनुरूप ही में किया है।

तत्पश्चात् सात तत्त्वों का विशद वर्णन किया गया। उन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से 9 पदार्थ हो जाते हैं। अजीव तत्त्व का

वर्णन करते हुए उसके भेदों में पुद्गलादि का वर्णन किया है। आस्रव का स्वरूप सामान्यतया पूर्वाचार्यों के समान ही प्रस्तुत किया है। बंध तत्त्व के वर्णन में उसके चार भेदों को भी स्पष्ट किया है। प्रकृति बंध के अन्तर्गत 8 कर्मों के स्वरूप को भी प्ररूपित किया है। स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध को सामान्य रूप से ही निरूपित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में लोगों को इन विषयों की जानकारी अच्छी रही होगी अथवा आचार्य देवसेन स्वामी को इन सभी विषयों को सूत्र रूप में वर्णन करना इष्ट होगा। संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन भी इसी प्रकार संक्षेप में किया गया है। आचार्य का स्पष्ट कथन है कि संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का उचित साधन है, अन्य कोई विधि से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

द्रव्य की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है। उन गुण और पर्यायों के सम्बन्ध में जो वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने किया है, वैसा वर्णन अन्य किसी आचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ में नहीं मिलता। द्रव्य के सामान्य और विशेष गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन अपूर्व है। जो गुण सभी द्रव्यों में सामान रूप से पाये जाते हैं वे सामान्य गुण और जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। सामान्य गुण दस हैं और विशेष गुण 16 हैं, जो अलग-अलग द्रव्य के अलग-अलग हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में 6-6 और शोध निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के 3-3 विशेष गुण होते हैं।

गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं अथवा गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। इसके मुख्य रूप से दो भेद अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय हैं। इन दोनों के भेद-प्रभेदों का विस्तृत रूप से वर्णन मात्र आलाप पद्धति ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है, जो आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता को दर्शाता है। पर्यायों को एक तालिका के रूप में प्रदर्शित करके इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

अनन्त धर्मात्मक तत्त्व की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमाण तथा नय के आधार पर की गई है। इन दोनों के द्वारा वस्तु को एक और अनेक रूपों में क्रमशः जाना जा सकता है। प्रमाण तथा नय का सम्बन्ध सापेक्ष है।

नय को समझे बिना प्रमाणों के स्वरूप का बोध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन नय और प्रमाण द्वारा ही संभव है। नयवाद जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट विचार पद्धति है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के विवेचन में नय का उपयोग होता है। प्रमाण नयों का स्वरूप है। अतः प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिये पहले नयों का ज्ञान करना आवश्यक है। वस्तुस्वरूप को जानने में प्रवृत्त ज्ञानशक्ति जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते हैं और जब दोनों पक्षों के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने नयों का वर्णन करते हुए लिखा है- नयों के मूल दो भेद हैं, जो नय लोक में पर्याय को गौण करके द्रव्य को ही ग्रहण करता या जानता है वह द्रव्यार्थिक नय कहा गया है, जो द्रव्यार्थ के विपरीत है अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ही जानता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इनमें द्रव्यार्थिक नय के 10 और पर्यायार्थिक नय के 6 भेदों के स्वरूप को भी बतलाया है। तत्पश्चात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय के स्वरूप और भेदों का वर्णन सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् उपनय के तीन भेद हैं- सद्भूतव्यवहार नय, असद्भूतव्यवहार नय, उपचरितासद्भूतव्यवहार नय। इनमें भी सद्भूतव्यवहार नय के दो भेद, असद्भूतव्यवहार नय और उपचरितासद्भूतव्यवहार नय के तीन-तीन भेद स्वरूप सहित वर्णित किये हैं। इसके बाद नयों और उपनयों के विषयों का वर्णन किया है। सभी नयों का वर्णन करने के पष्ठचात् वे अध्यात्मभाज़ा के नयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं- नयों के मूल दो भेद हैं- एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। उसमें निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का विषय भेद है। उनमें से निष्ठचय नय के दो भेद हैं- शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। इनमें भी शुद्ध निश्चय नय का विषय शुद्धद्रव्य है तथा अशुद्ध निश्चय नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है। नयों के स्वरूप को भली-भाँति जानकर के नयों का प्रयोग करके जो अपने कथनों की प्रवृत्ति करता है वास्तविकता में वही विद्वान् है। नय, प्रमाण का ही एक अंश है यह हम

पहले भी समझ चुके हैं। नय को समग्र रूप से प्रस्तुत करना एक बहुत बड़ी कला है। उसी प्रकार नयों का योजन विभिन्न स्थानों में भी करना चाहिये। इसीलिए आचार्य देवसेन स्वामी ने एक अलग ही विषय प्रस्तुत किया है, किस-किस द्रव्य में किस-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है।

इसके पश्चात् प्रमाण का स्वरूप और भेद का वर्णन भी आचार्य ने नय के साथ किया है। प्रमाण का लक्षण करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि समस्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है। सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्पक ज्ञान है। यह चार प्रकार है। 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मन:पर्ययज्ञान। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिए उपयोग नहीं लगाना पड़े वह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसका सिर्फ एक ही भेद है वह है केवलज्ञान। इस प्रकार नय और प्रमाण का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने दोनों का विशेष रूप से किया है।

जैन आगम में वर्णित गुणस्थान वस्तुत: जैन दार्शनिकों, आचार्यों एवं तीर्थङ्करों की उन असंख्य मौलिक विवेचनाओं में से एक है, जिसे आज तक अन्य जैनेतर दर्शन स्पर्श भी नहीं कर पाये, न शब्दों से न ही अर्थ से। गुणस्थान को प्राथमिक दृष्टि से देखने पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की तरह दिखता है, परन्तु इस शिक्षा प्रणाली से पूर्णतया अलग ही है, न ही इसके प्रत्येक दर्जे पर समान समय लगता है, न ही क्रम से आगे बढ़ने की अनिवार्यता है और न ही सभी जीव इसमें समान रूप से आगे बढ़ सकते हैं। जैन आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों ने गुणस्थान के माध्यम से तीन लोक में व्याप्त समस्त जीवों का वर्गीकरण करके अध्ययन करने का मार्ग पर्याप्त रूप से प्रशस्त किया है। गुणस्थान पद्धति से जीवों के भावों का ज्ञान करना सरल हो गया है। गुणस्थानों में गति आदि की अपेक्षा से संक्षिप्त वर्णन करने से गुणस्थान का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हुआ है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने गुणस्थानों के अन्तर्गत ही सभी विषयों

का वर्णन किया है। तत्पश्चात् छोटे-छोटे परिच्छेदों में भाव, लेश्या और ध्यान को गुणस्थान से योजित करके पृथक्-पृथक् वर्णन भी किया है। गुणस्थानों के नामों का उल्लेख करके उनके समयों का निर्धारण, गुणस्थानों में स्थित जीवों की भावों की विविधता विवेचित की है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान के पांच भेदों का वर्णन करते हुए मिथ्यात्व से होने वाली हानि के विषय में विवेचन किया है। सभी गुणस्थानों के अन्त में उनकी विशेषतायें भी बताई गई हैं। अन्त में गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी विशेष रूप से प्ररूपित किया है।

जैनागम में गुणस्थान मूलतत्त्व की तरह काम करता है। गुणस्थान के द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म विषय का गम्भीरतम तत्त्व भी सार रूप में प्रदर्शित करना जैन आचार्यों और दार्शनिकों की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराता है। वर्तमान काल में सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टि देने पर प्रतीत होता है कि विश्व जनसंख्या का अधिकाधिक हिस्सा प्रथम गुणस्थान के अन्तर्गत है। कुछ अंगुलियों में गिनने योग्य मनुष्य ही चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ और सप्तम गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। उत्कृष्ट संहनन का वर्तमान में अभाव होने से उपशम और क्षपक श्रेणी का भी अभाव है। अतः सप्तम गुणस्थान से ऊपर जाना संभव नहीं है। पञ्चम काल में मनुष्य मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार का उपदेश देना ही जैन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य है। गुणस्थान आरोहण की प्रेरणा भी इस उपदेश में गर्भित है।

इस संसार परिभ्रमण से मुक्त होने के लिए जीव को रत्नत्रय रूपी महौषधि का सेवन करना होगा और अपने वास्तविक स्वरूप में लीन होकर आत्मशक्ति से कर्मों का नाश करना होगा। इसमें रत्नत्रय को गर्भित करते हुए तप को जोड़कर चार आराधनाओं का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी द्वारा सहज रूप से किया गया है। आराधक के गुणों और उसकी पात्रता का भी वर्णन किया है। आराधक का विभिन्न लक्षणों और उपमाओं द्वारा प्ररूपण करते हुए आराधना का फल सल्लेखना बताया है। उपसर्ग और परीषहों के आने पर भी सल्लेखना में अडिग रहने का उपदेश देते हुए उपसर्ग विजेता मुनिराजों की कथाओं का उल्लेख भी आचार्य ने किया है।

भारतीय ध्यान परम्परा अतिप्राचीन है। चार्वाक को छोड़कर भारत

के प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में ध्यान की सत्ता को स्वीकार किया है। ध्यान में एकाग्रता का होना अत्यावश्यक है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन के ध्यान की अवधारणा में भिन्नता प्रतीत होती है, इसलिए जैनाचार्यों ने ध्यान का स्वरूप अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। ध्यान के भेदों का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने मौलिक किया है। आचार्य ने आर्त्त और रौद्र ध्यान के पश्चात् भद्र ध्यान जो अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं किया है, का वर्णन किया है। वह वास्तव में अपूर्व है। तत्पश्चात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया है। यहाँ उनका आशय यह है कि गृहस्थ के धर्म्यध्यान की साधना सहज नहीं है, परन्तु वह आर्त-रौद्र ध्यान से पाप बंध का अर्जन करता है, उसको अपने सद्ज्ञान और भद्रध्यान से नष्ट करता है। इसके पश्चात् चारों ध्यानों के साथ भद्रध्यान का स्वरूप विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। फिर आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल प्ररूपित किया है। इसमें ही विशेष रूप से एक शून्य ध्यान का वर्णन किया है जो बिल्कुल शुक्ल ध्यान की ही तरह निर्विकल्पक बताया है, जो अन्य किसी आचार्य के द्वारा प्ररूपित नहीं किया गया। जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं है, किसी भी प्रकार का चिन्तन और धारणा का विकल्प नहीं है वह शून्य ध्यान है। शून्यता और शुद्धभाव में कोई अन्तर नहीं है। यहां शून्य ध्यान से तात्पर्य निर्विकल्पक समाधि है। ध्यानों को गुणस्थानों के अनुरूप ही वर्णित किया है।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान तिर्यंच एवं नरक गति का कारण होने से हेय हैं। भद्र ध्यान और धर्म्य ध्यान स्वर्गादि की प्राप्ति एवं परम्परा से मोक्ष का कारण होने से तात्कालिक उपादेय हैं और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण होने से परम उपादेय है, क्योंकि शुक्ल ध्यान, ध्यान की सर्वोच्च कोटि है। ध्येय रूप पंच परमेष्ठियों का वर्णन करते हुए टीकाकार ने आचार्य परमेष्ठी के भिन्न 36 मूलगुणों का वर्णन किया है।

दान के सन्दर्भ में आचार्य ने चार अधिकारों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है- दाता, पात्र, देने योग्य द्रव्य और देने की विधि। आचार्य ने पात्र के दो विशेष भेद किये हैं- वेदमय पात्र और तपोमय पात्र। यहाँ वेद से तात्पर्य सिद्धान्त-शास्त्र है। इसके पश्चात् पात्रदान का फल और

महत्त्व, कुपात्रों को दान का फल, नहीं देने योग्य द्रव्य और आहार दान में ही चारों दानों को गर्भित करते हुए अच्छी प्रकार से आहार दान के महत्त्व का वर्णन किया है। अपने द्रव्य को किस प्रकार सदुपयोग में लगाना चाहिये, इसका भी उपदेश दिया ।

पुण्यास्रव के मुख्य कारणों में जिनपूजा का विशेष वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी ने पूजा की विधि, पूजा के यन्त्र की विधि, पूजा के फल का विशद रूप से प्ररूपण किया है। इस प्रकार से पूजा की विधि अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं की है। संक्षेप से श्रावकों के अष्ट मूलगुण और अणुव्रत सहित बारह व्रतों का भी वर्णन किया है। शिक्षाव्रत के भेदों में सल्लेखना को भी ग्रहण किया है।

भारत धर्मनिरपेक्ष देश होने के कारण विभिन्न धर्म, दर्शन और सम्प्रदायों का समूह है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। समस्त दार्शनिकों अथवा मत प्रवर्तकों का मुखिया आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव का महामोही और मिथ्यात्वी पौत्र मरीचि पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उसने ऐसे विचित्र दर्शन का प्रवर्तन किया कि जिससे कुछ सिद्धान्तों के परिवर्तन से अनेक मतों का प्रवर्तन हो गया। आचार्य देवसेन स्वामी के अनुसार मरीचि सभी मतों का साक्षात् प्रणेता नहीं है, उन मतों में कुछ उतार-चढ़ाव होते रहे और विभिन्न मत प्रचलित हो गये। इनमें सिद्धान्तों का बीज मरीचि का ही है और ये सभी एकान्त को पुष्ट करने वाले होने से सदोष कहलाये। अतः जैनाचार्यों ने स्याद्वाद से इन सभी मतों की समीक्षा की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मरीचि सांख्य और योग का प्ररूपक है, जबकि सांख्य के प्रणेता कपिल और योग के प्रणेता पतंजलि हैं, जो ऋषभदेव के तो काफी वर्षों बाद उत्पन्न हुए हैं। उन एकपक्षी मिथ्यात्वी मतों को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी पांच भेदों में विभक्त किया है। विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान। इन पांचों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके उनकी सम्यक् समीक्षा की है। इन मतों की उत्पत्ति, उत्पत्तिकर्ता, उनका पालन करने का फल और उनकी संक्षेप में समीक्षा अच्छी प्रकार से की है। इसी के अन्तर्गत जैन सम्प्रदाय प्रचलित विभिन्न संघों का स्वरूप भी प्ररूपित किया है। उनमें प्रचलित परम्पराओं का भी विशेष रूप से वर्णन किया है। दिगम्बर संघ से काष्ठासंघ, द्रविड़संघ, माथुरसंघ आदि संघों की

उत्पत्ति हुई। इन संघों के साधु यद्यपि एकान्त-अचेल मुक्तिवादी थे, तथापि इन्होंने अपने सिद्धान्तों में कुछ ऐसा परिवर्तन कर लिया कि इन्हें जैनाभास घोषित कर दिया गया। दिगम्बर मत के सिद्धान्त को मानने के कारण यापनीय संघ को कथञ्चित् दिगम्बर संघ का भेद भी कह सकते हैं।

इसी संदर्भ में श्राद्धों को पिण्डदान देना, गोमांस भक्षण, गोयोनि वन्दना आदि का तर्कयुक्त समीक्षण करके इनको विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत वर्णित किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने श्वेताम्बर मत को संशय मिथ्यात्वी कहते हुए उनके सग्रन्थ लिंग से मोक्षप्राप्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति को और अन्य मान्यताओं को युक्ति संगत तर्कों द्वारा खण्डन करके समीक्षा की है। मस्करीपूरण को अज्ञान मिथ्यात्वी बताते हुए उसके सिद्धान्तों का भी समीक्षात्मक खण्डन किया है। आचार्य ने विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत तीर्थजल स्नान से आत्मशुद्धि, मांस भक्षण को धर्म और मांस भक्षण कराने से पितरों को तृप्ति तथा गोयोनि वंदना को वर्णित करके उनमें व्याप्त दोषों का निराकरण करके इन मिथ्यात्वों को दूर करने का उपदेश दिया। इन विपरीत मान्यताओं में आश्चर्य प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इनके मानने वाले भ्रान्तिमय तर्कों को प्रस्तुत करके स्वयमेव पाप का बंध करते हैं और अन्य लोगों को भी भ्रमित करते हैं।

भारतवर्ष हमेशा से समस्त विश्व का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। अतः इसका प्राचीन नाम विश्वगुरु है। विश्व के प्राचीन लिखित ग्रंथ वेद और उपनिषद में पर्याप्त आध्यात्मिक विषय वर्णित है। जैनाचार्यों ने भी प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक विवेचन किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने जिनागम के प्रत्येक विषय को छुआ है, अतः अध्यात्म से दूर कैसे रह सकते थे, इसलिये उन्होंने बहुधा अध्यात्मपरक चिन्तन को भी व्यक्त किया, इसीकारण से उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में भगवान् महावीर को मंगलाचरण में नमस्कार किया है, परन्तु उन्होंने अपने आध्यात्मिक ग्रंथ तत्त्वसार में सिद्ध परमात्मा को ही नमस्कार किया है। आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि तत्त्व का सामान्य रूप से आशय यह है कि पदार्थ जिस रूप में होता है उसका उस रूप होना ही तत्त्व कहलाता है। सामान्य से पदार्थों के स्वभावगत तत्त्वों की गणना करना चाहें तो वे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। भेदगत दृष्टि से तो तत्त्व सात ही होते हैं। उनका कहना है कि जब तक

तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती। वह तत्त्वज्ञान सद्शास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से ही संभव हो सकता है, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के आत्मकल्याण होना असंभव है। आचार्य देवसेन स्वामी ने तत्त्व के भिन्न प्रकार से दो भेद किये हैं। स्वगत तत्त्व तथा परगत तत्त्व। उनके अनुसार स्वगत तत्त्व निजात्मा और परगत तत्त्व सभी जीवों के आश्रयभूत पंच परमेष्ठी हैं। इन पंच परमेष्ठी के चिंतवन करने से किस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, तो आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि- उन पंच परमेष्ठियों के वाचक अक्षर रूप मंत्रों का ध्यान करने वाले भव्य जीव बहुत पुण्य का अर्जन करते हैं और उनको परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य देवसेन स्वामी ने इसमें आत्मा को विभिन्न उपमाओं से अलंकृत किया है। शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति का उपाय, परम लक्ष्य शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। अन्त में अन्य दर्शनों में आत्मतत्त्व का विवेचन को प्रस्तुत करके जैनदर्शन में वर्णित आत्मा का मण्डन किया है।

श्रमण परम्परा में दो धर्मों का निरूपण किया है। मुनिधर्म और श्रावकधर्म। जो शिथिलाचारी साधु अपने शिथिलाचार को छुपाने के लिए विभिन्न कल्पनाओं की रचना करते हैं और कहते हैं कि हम तो स्थविरकल्पी हैं, इसलिए हमको कंबल, दण्ड, वस्त्र, सोना आदि रखने में कोई दोष नहीं है। जबकि उनके परिणाम संशय और मिथ्यात्व आदि से सहित होते हैं। उनको फटकार लगाते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि कंबल आदि रखना स्थविरकल्प नहीं बल्कि गृहस्थकल्प है, क्योंकि ये सब रखना तो गृहस्थों का कार्य है। इसी सन्दर्भ में जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के वास्तविक स्वरूप का वर्णन सहजभाव से किया है। इस प्रकार आचार्य देवसेन स्वामी ने जैनागम के प्रत्येक सिद्धान्तों को अपनी दार्शनिक दृष्टि से स्पर्श करने का सफलतम प्रयत्न किया है जो निश्चित रूप से उनको दसवीं शताब्दी का महान् आचार्य द्योतित करता है। आचार्य ने ऐसे कई विषयों का विवेचन किया है जो अन्य किसी भी आचार्य ने वर्णित नहीं किये हैं। ये इनकी विशेषता ही है कि इनका इतने सारे विषयों पर समान अधिकार है।

-उपनिदेशक, वीर सेवा मन्दिर,
21,दरियागंज, नई दिल्ली-2

जैन वाङ्मय में अवधिज्ञान

- **पवन कुमार जैन** (शोध छात्र)

भारतीय दार्शनिकों और पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपने ग्रंथों में अतीन्द्रियज्ञान की चर्चा की है। जैनदर्शन में इसके तीन भेद हैं- अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उनमें से प्रथम अवधिज्ञान सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष की श्रेणी में रखा गया है तथा जो ज्ञान सीधा आत्मा के द्वारा होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है- **'आत्ममात्रसापेक्षं प्रत्यक्षम्'** अवधिज्ञान का उल्लेख स्थानांगसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि आगमों में मिलता है, किंतु वहाँ पर इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु नंदीसूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों में अवधिज्ञान को स्थान दिया गया है। इसी से ज्ञात होता है कि अवधिज्ञान सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है।

'अवधि' शब्द का प्राकृत-अर्द्धमागधी रूप **'ओहि'** है। अवधिज्ञान के लिए प्राकृत में 'ओहिणाण' शब्द का प्रयोग होता है। आत्मा इस ज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है। इसलिए इसे प्रत्यक्ष कहते हैं, लेकिन सभी पदार्थों को नहीं जान पाने के कारण यह देश प्रत्यक्ष होता है।

'अवधि' शब्द **'अव'** और **'धि'** से मिलकर बना है। इसमें **'अव'** उपसर्ग है जिसके अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ **'अव'** उपसर्ग का अर्थ नीचे-नीचे, **'धि'** का अर्थ जानना। पूज्यपाद, मलयगिरि आदि आचार्यों ने 'अव' उपसर्ग का अर्थ अधः (नीचे) किया है।[1] अकलंक ने इसको स्पष्ट किया है कि अवधि का विषय नीचे की ओर बहुत प्रमाण में होता है।[2] मलयगिरि ने **'अधो विस्तृतं वस्तु परिच्छिद्यते**

अनेन इति' ऐसी व्यत्पत्ति दी है।[3] इसका यह अर्थ कि नीचे (अधो) को विस्तृत रूप से जो जानता है वह अवधि ज्ञान है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानी अधोलोक के रूपी पदार्थों को अधिक जानता है, साथ ही तिर्यक् लोक और ऊर्ध्वलोक के सारे रूपी पदार्थों को भी जानता है।

हरिभद्र ने अवधि का अर्थ विषयज्ञान तथा मलयगिरि ने भी अवधि शब्द का अर्थ अवधान करते हुए इसे अर्थ का साक्षात्कार करने वाला आत्मा के व्यापार के रूप में प्रयुक्त किया है। जिनभद्र के मत से अवधान का अर्थ मर्यादा है।[4] जिनभद्र द्वारा किया गया अर्थ ज्ञानवाचक है और हरिभद्र और मलयगिरि द्वारा किये गये अर्थ अवधिज्ञान की विशेषता बताते हैं।

अवधि शब्द का दूसरा अर्थ मर्यादा है। मर्यादा का अर्थ होता है सीमा अर्थात् जिस ज्ञान की सीमा हो। अवधिज्ञान की क्या मर्यादा (सीमा) है ? इसका समाधान है कि अवधिज्ञान मात्र रूपी पदार्थों को ही जानता है, इसका उल्लेख उमास्वाति, जिनभद्र, मलयगिरि आदि आचार्यों ने किया है।[5] पूज्यपाद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रूप का अर्थ पुद्गल द्रव्य के साथ संबन्धित जीव समझना है।[6] अवधिज्ञान के द्वारा अरूपी पदार्थों को नहीं जाना जाता है यही उसकी मर्यादा है। इसका उल्लेख पूज्यपाद, जिनभद्रगणि और मलयगिरि आदि आचार्यों ने किया है।[7]

प्रश्न- जब मति आदि चारों ज्ञान ही मर्यादा वाले हैं तो इस ज्ञान को ही अवधि अर्थात् मर्यादा वाला ज्ञान क्यों कहते हैं ? अकलंक इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे गतिशील सभी पदार्थ गो आदि है लेकिन गो शब्द गाय के लिए ही रूढ़ हो गया है वैसे ही मति आदि चार ज्ञानों में इस ज्ञान के लिए ही अवधि शब्द रूढ़ हो गया है।[8] धवला टीकाकार ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा कि अवधि तक चारों ज्ञान मर्यादित हैं, परन्तु अवधि के बाद केवलज्ञान अमर्यादित है, ऐसा बताने के लिए अवधि शब्द का प्रयोग किया गया है।[9] धवला टीकाकार ने यहाँ पर अवधि को चौथे ज्ञान के रूप में

उल्लिखित किया है। इससे प्रतीत होता है कि कतिपय प्राचीन आचार्यों ने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के बाद अवधिज्ञान को रखा होगा।

धवला टीकाकार ने अवधि का एक अर्थ आत्मा भी किया है।[10] उपाध्याय यशोविजय ने पूर्वाचार्यों के भावों को ध्यान में रखते हुए अवधि का लक्षण इस प्रकार से किया है कि सकल रूपी द्रव्यों का जानने वाला और सिर्फ आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अवधि ज्ञान कहलाता है।[11]

अवधिज्ञान की परिभाषा :

1. षट्खण्डागम के अनुसार - नीचे के विषय को धारण करने वाला होने से अवधि कहलाता है अथवा नीचे गौरव धर्मवाला होने से, पुद्गल की अवाग् संज्ञा है, उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है, वह अवधि है और अवधि रूप ही ज्ञान अवधिज्ञान है अथवा अवधि का अर्थ मर्यादा है, अवधि के साथ विद्यमान ज्ञान अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान मूर्त पदार्थ को ही जानता है क्योंकि रूपिष्वधेः[12] ऐसा सूत्र वचन है।[13] षट्खण्डागम पुस्तक 6 में भी यही परिभाषा देते हुए वहाँ इतना विशेष बताया है कि अवधि नाम मर्यादा का है, इसलिए द्रव्य, जीव, काल और भाव की अपेक्षा विषय संबन्धी मर्यादा के ज्ञान को अवधि कहते हैं।[14] अवधिज्ञान के इस स्वरूप की पुष्टि कषायपाहुड,[15] तत्त्वार्थवार्तिक,[16] षट्खण्डागम,[17] से होती है। कर्मप्रकृति[18] में अभयचन्द्र ने भी लगभग अवधिज्ञान का ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादित किया है। पंचसंग्रह में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है, लेकिन वहाँ मर्यादा के स्थान पर सीमा शब्द का प्रयोग किया गया है।[19] गोम्मटसार में पंचसंग्रह के समान ही परिभाषा दी गई है।[20]

२. पूज्यपाद के अनुसार- अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषय वाला होने से अवधि कहलाता है।[21]

३. जिनभद्रगणि के अनुसार- जो अवधान से जानता है, वह अवधिज्ञान है। अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र को जानने वाला अवधि ज्ञानी आवलिका के असंख्येय भाग तक जानता है। इस प्रकार जो परस्पर नियमित द्रव्य,क्षेत्र,काल आदि को जानता है, वह अवधिज्ञान है।[22]

यदि अव्यय को मर्यादा वाचक के रूप में प्रयुक्त करते हैं तो इसके अनुसार इतने क्षेत्र में, इतने द्रव्यों को, इतने काल तक जानने योग्य द्रव्यों को जानता है और इतना काल, इतना द्रव्य, जानने वाला जानता है। इस उपचार से ज्ञान को मर्यादा कहा है क्योंकि वह अवधि ज्ञान द्रव्यादि ऊपर के अनुसार अवधि से ऐसी मर्यादा से परस्पर नियमित रूप से जानता है।[23] नंदीचूर्णि में जिनदासगण[24] ने और मलयगिरि[25] ने नंदीवृत्ति भी ऐसा ही उल्लेख किया है।

४. अकलंक के कथानुसार- 'अव' पूर्वक 'धा' धातु से अवधि शब्द बनता है 'अव' शब्द 'अध' वाची है जैसे अध:क्षेपण को अवक्षेपण कहते हैं, अवधिज्ञान भी नीचे की ओर बहुत पदार्थों को विषय करता है अथवा अवधि शब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रादि की मर्यादा से सीमित ज्ञान अवधि ज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञान के सिवाय सभी ज्ञान सीमित है फिर भी रूढ़िवश अवधिज्ञान को ही सीमित ज्ञान कहते हैं जैसे गतिशील सभी पदार्थ हैं फिर भी गाय को रूढ़िवश गौर (गच्छतीति गौ:) कहा जाता है।[26]

५. आचार्य नेमिचन्द्र के वचनानुसार- विशिष्ट अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मन के सानिध्य में जो सूक्ष्म पुद्गलों को जानता है, स्व और पर के पूर्व जन्मांतरों को तथा भविष्य के जन्मांतरों को जानता है वह अवधिज्ञान है।[27]

६. वादिदेवसूरि के अनुसार- अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के उत्पन्न होने वाला भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।[28]

अवधिज्ञान के प्रकार :

प्रज्ञापनासूत्र[29] उमास्वाति[30] नंदीसूत्र[31] पूज्यपाद[32] अकलंक[33] अमृतचन्द्र[34] पंचसंग्रह[35] योगीन्दुदेव[36] आदि आचार्यों और ग्रंथों में अवधिज्ञान के मुख्य रूप से दो भेद किए हैं- 1. भवप्रत्यय, 2. क्षायोपशमिक। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवता और नारकी को एवं क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंच को होता है।

आचार्य भूतबलि,[36] आचार्य गुणधर,[37] आचार्य पुष्पदंत,[39] आचार्य

नेमिचन्द्र,[40] और आचार्य वादिदेवसूरि[41] आदि आचार्यों ने मुख्य रूप से अवधिज्ञान के दो भेद किए हैं- भवप्रत्यय ओर गुणप्रत्यय एवं उनके स्वामियों का कथन उपर्युक्तानुसार किया है।

सारांश यह है कि उपुर्यक्त वर्णन के आधार पर अवधिज्ञान के तीन भेद प्राप्त होते हैं- 1. भवप्रत्यय, 2. क्षायोपशमिक और 3. गुणप्रत्यय। परन्तु उपर्युक्त आगमों और ग्रंथों में क्षायोपशमिक और गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान, ये दोनों प्रकार एक ही हैं।

आचार्य भद्रबाहु,[42] और आचार्य पुष्पदंत[43] के अनुसार अवधिज्ञान के असंख्य प्रकार हैं। जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कि विषयभूत क्षेत्र और काल की अपेक्षा से अवधिज्ञान के सभी भेद मिलाकर संख्यातीत (असंख्यात) हैं और द्रव्य और भाव की अपेक्षा से अवधिज्ञान के अनंत भेद होते हैं।[44] अवधिज्ञान के ज्ञेयपने के नियम से जितना अवधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र, प्रदेश और उत्कृष्ट काल के समय के परिणाम है, इतना ही अवधिज्ञान के भेदों का परिणाम है। फिर संख्यातीत अर्थात् अनंत इस प्रकार अवधिज्ञान के अनंत भेद हैं।[45] उनमें से कुछ भेद तो भवप्रत्ययिक और कुछ भेद क्षायोपशमिकप्रत्ययिक है। इसलिए मुख्य रूप से अवधिज्ञान के उपर्युक्त दो ही भेद हैं। इन दो भेदों को समग्र जैन परम्परा स्वीकार करती है।[46]

भवप्रत्यय अवधिज्ञान का स्वरूप :

विशेषावश्यकभाष्य के अुनसार- जिस प्रकार पक्षियों द्वारा आकाश में उड़ने की शक्ति में भव (जन्म) कारण है उसी प्रकार से नारकी और देवता में अवधिज्ञान का हेतु भव (जन्म) है, इसलिए इस अवधिज्ञान को भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।[47]

भव अर्थात् आयु और नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव की जो पर्याय होती है उसे भव कहते हैं।[48] भव के निमित्त से अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं क्योंकि कर्मों के उदय से द्रव्यादि चारों में प्रभाव तो होता ही है। ऐसा ही उल्लेख पुष्पदंत,[49] अकलंक,[50] और मलयगिरि[51] आदि आचार्यों ने भी किया है। भवप्रत्यय में प्रयुक्त प्रत्यय

शब्द 'कारण' (निमित्त) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[52]

अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव और नरकादि भव औदयिक भाव है। परस्पर विरुद्ध होने से नरकादि भव अवधिज्ञान का हेतु कैसे हो सकता है? वास्तव में तो नारकी और देवता के भी अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होता है, परन्तु नारकी और देव के भव में अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नियम से होता है, इसलिए नारकी ओर देवता के अवधिज्ञान को भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।[53] इसलिए भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी क्षयोपशम मुख्य कारण है। अकलंक ने भवप्रत्यय में भव को बाह्य कारण स्वीकार किया है।[54]

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि कर्मों का जो क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच प्रकार का होता है। इसलिए नारकी और देवता के भव का निमित्त मिलने पर जीव के अवधिज्ञानावरणीय कर्म का अवश्य क्षयोपशम होता है और भव के निमित्त से ही क्षयोपशम होता है इसलिए इसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।[55]

गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिकप्रत्यय) अवधिज्ञान का स्वरूप :

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार तप आदि विशेष गुणों के परिणाम से उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान क्षयोपशम प्रत्यायिक कहलाता है। यह ज्ञान संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में होता है।[56]

नंदीसूत्र के मूल पाठ में आया है **'को हेऊ खाओवसमियं?'** अर्थात् क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का हेतु क्या है? इसका उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयगत कर्मदलिकों का क्षय होने से तथा अनुदित कर्मदलिकों का उपशम होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। अर्थात् अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिका में प्रविष्ट अंश का वेदन होकर पृथक् हो जाना क्षय है और जो उदयावस्था को प्राप्त नहीं है, उसके विपाकोदय को दूर कर देना (स्थगित कर देना) उपशम कहलाता है। जिसे अवधिज्ञान का क्षयोपशम ही मुख्य कारण हो, वह क्षयोपशम प्रत्यय या क्षायोपशमिक-प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है।[57]

पूज्यपाद[58] और अकलंक के अनुसार मनुष्यों और तिर्यंचों में अवधिज्ञान की प्राप्ति में क्षयोपशम ही निमित्त भूत है भव नहीं, इसलिए इसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते है।[59] सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।[60] गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंख आदि चिन्हों से उत्पन्न होता है। अर्थात् नाभि से ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वास्तिक, मच्छ, कलश आदि शुभ चिन्हों से युक्त आत्म प्रदेशों में स्थित अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।[61] गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयमी सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन गुण के निमित्त से और संयतासंयत के संयमासंयम (देश संयम) गुणपूर्वक तथा संयत के संयम गुण के होने से होता है।[62]

नंदीचूर्णिकार ने क्षयोपशम के दो अर्थ किए हैं- गुण के बिना होने वाला और गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला क्षयोपशम।[63] गुण के बिना होने वाले क्षयोपशम से उत्पन्न अवधिज्ञान के लिए चूर्णिकार ने दृष्टांत दिया कि आकाश बादलों से ढका हो, लेकिन हवा आदि से बीच में एक छिद्र हो गया, उस छिद्र में से सहज रूप से सूर्य की किरणें निकलती हैं और उससे द्रव्य (वस्तु) प्रकाशित होता है।[64] वैसे ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से सहज ही अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है, वह गुण के बिना होने वाला क्षयोपशम है।

क्षयोपशम का दूसरा अर्थ है गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला। क्षयोपशम अर्थात् उत्तरोत्तर चारित्र गुण की विशुद्धि होने से अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुण प्रतिपन्न अवधिज्ञान है[65] यहाँ गुण शब्द चारित्र का द्योतक है अर्थात् गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के लिए मूलगुण कारणभूत है, इसका समर्थन धवलाटीका,[66] जिनभद्राणि,[67] हरिभद्र,[68] मलयगिरि[69] ने किया है। मूलगुण पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच के ही होते हैं, अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच के नहीं।[70]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में गुण शब्द सम्यक्त्व से युक्त अणुव्रत और महाव्रतों को दर्शाने के लिए प्रयुक्त होता है। यदि हम क्षयोपशमिक अवधिज्ञान का प्रयोग करते हैं

तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान (अवधिअज्ञान) होता है। इस अपेक्षा से क्षायोपशमिक अवधिज्ञान व्यापक है जबकि गुणप्रयय अवधिज्ञान में गुण शब्द सम्यक्त्व से युक्त अणुव्रत और महाव्रत जिसके होते हैं और उनके निमित्त से जो अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है। इसमें सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न अवधिज्ञान का ही ग्रहण किया गया है। मिथ्यादृष्टि के जो विभंगज्ञान होता है उसका ग्रहण नहीं किया गया है।

प्रश्न- क्या मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होने पर अवधि में कुछ अंतर हो सकता है ?

उत्तर- भवप्रत्यय अवधिज्ञान में संक्लिशमान और असंक्लिशमान भेद नहीं है। जैसे रंगीन कांच और और सफेद पारदर्शी कांच से देखने में अंतर होता है, वैसे ही पहले मिथ्यादृष्टि था, तब रंगीन कांच से देखता था। अर्थात् अस्पष्ट (अयथार्थ) देखता था और सम्यग्दृष्टि होने के बाद पारदर्शी कांच से देखता है अर्थात् स्पष्ट (यथार्थ) देखता है। मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होने पर द्रव्यों की वृद्धि नहीं होती, लेकिन पर्याय में वृद्धि होगी, क्योंकि सही अर्थात् स्पष्ट (यथार्थ) देखने लगा है।

अवधिज्ञान के अन्य प्रकार/गुणप्रत्यय के प्रकार :

आगमों में प्राप्त प्रकार- भगवतीसूत्र में आधोऽवधिक और परमोवधिक का उल्लेख है। वहाँ छद्मस्थ की आधोवधिक से और केवली की परमोवधिक से तुलना की है। जैसे कि छद्मस्थ जीव परमाणु पुद्गल आदि को प्रमाण से जानता और देखता है उतने ही प्रमाण में आधोवधिक जानता और देखता है एवं जो परमावधिक जानता है वही केवली जानता देखता है।[71] इस तथ्य के आधार से ऐसा समझा जा सकता है कि प्राचीन काल में अवधि ज्ञान के दो भेद थे- आधोऽवधिक (सामान्य अवधिज्ञानी) और परमोवधिक।

प्रज्ञापनासूत्र के तेतीसवें अवधिपद में वर्णित सात द्वारों के आधार पर अवधिज्ञान के चौदह भेद प्राप्त होते हैं। 1. भवप्रत्यय, 2. गुणप्रत्यय, 3. आभ्यंतर, 4. बाह्य, 5. देशावधि, 6. सर्वावधि, 7. अनुगामी,

8. अननुगामी, 9. वर्द्धमान, 10. हीयमान, 11. प्रतिपाती, 12. अप्रतिपाती, 13. अवस्थित, एवं 14. अनवस्थित।[72]

१. निर्युक्ति के अनुसार अवधिज्ञान- आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्यकार ने अवधिज्ञान के क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा असंख्यात भेद और द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा से अनंत भेद स्वीकार किये हैं। सभी भेद को कहने में असमर्थता बताते हुए चौदह प्रकार के निक्षेप और ऋद्धि का वर्णन किया है।[73] इस अपेक्षा से अवधिज्ञान के चौदह भेद हैं- 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5.अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति।[74]

२. षट्खण्डागम के अनुसार- 1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि, 4. हीयमान, 5. वर्द्धमान, 6. अवस्थित, 7. अनवस्थित, 8. अनुगामी, 9. अननुगामी, 10. सप्रतिपाति, 11. अप्रतिपाति, 12. एक क्षेत्रावधि और 13. अनेक क्षेत्रावधि भेद हैं। इन भेदों में निर्युक्तिगत अवधि, संस्थान, ज्ञान, दर्शन, विभंग, देश ओर गति कुछेक भेद स्वीकार नहीं किए हैं। नंदीसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। षट्खण्डागमकार ने निर्युक्तिगत प्रकार बताते हुए देशावधि, परमावधि, सर्वावधि ये तीन प्रकार नये बताये हैं। निर्युक्ति में आनुगामिक-अनानुगामिक ऐसे व्यवस्थित भेद नहीं है, जिसमें षट्खण्डागम में प्रथम तीन प्रकार का एक विभाग और बाद में शेष रहे दस प्रकार दो-दो के जोड़े रूप पांच युग्म स्वतंत्र भेद रूप में प्राप्त होते हैं। निर्युक्ति में आनुगामिक, अनानुगामिक और इनका मिश्र, इसी प्रकार प्रतिपाति, अप्रतिपाति आदि और इनका मिश्र भेद निरूपित है। यहाँ जो मिश्र रूप भेद बताया है।[75] यह मिश्र भेद षट्खण्डागम में नहीं है। इस अन्तर का अर्थ यह भी हो सकता है कि षट्खण्डागम के काल में अवधिज्ञान के प्रकारों को व्यवस्थित करने का और बिना आवश्यकता के भेदों को निकालने का प्रयास हुआ होगा।

आचार्य गुणधर[76] के अनुसार विषय की प्रधानता से अवधिज्ञान तीन प्रकार का होता है- देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। जिसमें से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों प्रकार

का होता है। वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, प्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र, ये दस भेद होते हैं। दस भेद में से भवप्रत्यय अवधिज्ञान में अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अनेकक्षेत्र ये पांच भेद, गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में दसों भेद, देशावधि में दसों भेद, परमावधि में हीयमान, प्रतिपाती और एक क्षेत्र इनको छोड़कर शेष सात भेद और सर्वावधि में अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अप्रतिपाती और अनेकक्षेत्र, ये पांच भेद पाये जाते हैं।

३. नंदीसूत्र के अनुसार- नंदीसूत्र में अवधिज्ञान के छह भेद ही मिलते हैं- 1. आनुगामिक, 2. अनानुगामिक, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. प्रतिपाति और 6. अप्रतिपाति।

नंदीसूत्र में **''अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुपज्जइ....''** यह मूल पाठ आया है। गुण का संबन्ध मूलगुण और उत्तर गुण से है। **''पडिवण्णस्स अणगारस्स''** यह शब्द अन्य का निषेधक नहीं है, किन्तु यहाँ जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेदों का वर्णन किया है, वह अनगार की अपेक्षा से ही है। क्योंकि अन्य का अवधिज्ञान अप्रतिपाति नहीं होता है अर्थात् अप्रतिपाति अवधिज्ञान अनगार को ही होता है।

४. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार- उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में अवधिज्ञान के छह भेद प्राप्त होते है- 1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित और 6. अनवस्थित।[77] पूज्यपाद,[78] विद्यानंद,[79] आचार्य नेमिचन्द्र,[80] अमृतचन्द्र,[81] पंचसंग्रह[82] में भी मुख्य रूप से अवधिज्ञान के उपुर्यक्त छह भेद ही प्राप्त होते हैं।

नंदीसूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र में प्रथम चार भेद समान हैं, लेकिन अंतिम दो भेदों में अंतर है। नंदी में प्रतिपाती, अप्रतिपाती और तत्त्वार्थ सूत्र में अवस्थित, अनवस्थित भेद हैं।[83] लेकिन एक अपेक्षा से विचार करें तो अवस्थित अप्रतिपाती में और अनवस्थित का समावेश प्रतिपाती में हो जाता है।

अकलंक के तत्त्वार्थसूत्र के छह भेदों का उल्लेख करके नंदीसूत्र

में वर्णित प्रतिपाती, अप्रतिपाती इन दो भेदों का भी उल्लेख देशावधि के आठ भेदों में किया है। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार अवधिज्ञान के तीन भेद- देशावधि, परमावधि, सर्वावधि है। जिनमें देशावधि के वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपाती ये आठ भेद होते हैं। परमावधि के हीयमान और प्रतिपाती को छोड़कर शेष छह भेद पाये जाते हैं। सर्वावधि के अवस्थित, अनुगामिक, अननुगामिक और अप्रतिपाती ये चार भेद होते हैं।[84]

अकलंक ने आगे वर्णन करते हुए कहा है कि परमावधि, सर्वावधि से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से न्यून है। इसलिए परमावधि भी वास्तव में देशावधि है।[85] अकलंक ने षट्खण्डागम में वर्णित एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र, इन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

विद्यानंद ने प्रतिपाती और प्रतिपाती इन दो भेदों को तत्त्वार्थ सूत्र के छह भेदों में उल्लिखित किया है।[86]

इस प्रकार समय के व्यतीत होने पर जैनाचार्यों ने अवधिज्ञान के भेदों को व्यवस्थित किया है तथा अंत में नंदी सूत्र में वर्णित छह भेदों को ही मान्य किया है।

उपर्युक्त वर्णित सारे भेद गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के ही प्रतीत होते हैं। इसको स्पस्ट करने के लिए आवश्यकनिर्युक्तिकार और विशेषावश्यकभाष्यकार ने क्षेत्र परिमाण, संस्थान, आनुगामिक, अनानुगामिक, अवस्थित और देश द्वार में किये वर्णन को गुणप्रत्यय (मनुष्य और तिर्यंच की अपेक्षा) में रखा है। षट्खण्डागम में गुणप्रत्यय के बाद देशावधि आदि तरेह प्रकार बताए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये भेद गुणप्रत्यय के हैं। आचार्य नेमिचन्द्र[87] और अमृतचन्द्र[88] का भी ऐसा ही मानना है। लेकिन धवलाटीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह अवधिज्ञान के सामान्य रूप से भेद हैं क्योंकि अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी आदि भेद भवप्रत्यय ज्ञान में भी घटित होते हैं।[89]

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आवश्यकनिर्युक्ति और षट्खण्डागम में उपर्युक्त भेदों का वर्णन अवधिज्ञान

के सामान्य संदर्भ में था। लेकिन नंदीसूत्र, और तत्त्वार्थ आदि के काल में इन भेदों को स्पष्ट रूप से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद के रूप में स्वीकार कर लिया जाना उचित ही प्रतीत होता है। क्योंकि भवप्रत्यय का संबन्ध नारकी, देवता से है जिसमें अननुगम, प्रतिपात आदि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

संदर्भ सूची :

1. सर्वार्थसिद्धि 1.9, हारीभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ.8, मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ.65, ध वला पृ.9, सूत्र 4.1.2, पृ. 13

2. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.2 3. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

4. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82,.... हारिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 8। मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

5. तत्त्वार्थ सूत्र 1.28, सर्वार्थसिद्धि, 1.27 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82, नंदीचूर्णि पृ. 11,12, हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 8, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65 और

पृ. 71

6. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, ग्यारहवां संस्करण, सन 2002, पृ. 1.27

7. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 82, सर्वार्थसिद्धि,1.9, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.3, धवला पु. 9, सूत्र 4.1.2, मलयगिरि नंदीवृ्ति, पृ. 65

8. तत्वार्थराजवर्तिक, 1.9.3 9. धवला पु. 9, सूत्र 4.1.2 पृ. 13

10. धवला, पु.9, सूत्र 4.1.2, पृ. 12 11. जैनतर्कभाषा, पृ. 24

12. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1.27

13. षट्खंडागम, पुस्तक 13 (द्वितीय आवृत्ति), सोलापुर, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सन 1993, पृ. 210-211

14. षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृ. 25

15. कषायपाहुड (जयधवला/महाधवल) प्रथम भाग, चौरासी मथुरा (उ.प्र.) भारतवर्षीय दि. जैन संघ, सन् 2003, पृ. 13

16. तत्त्वार्थराजवार्तिक,पृ. 319

17. षट्खण्डागम, पुस्तक 1, सन् 1939, पृ. 93

18. अभयचन्द्रसिद्धांत चक्रवर्तीकृत (डॉ. गोकुलचन्द्र जैन), कर्मप्रकृति, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 18

19. पंचसंग्रह, काशी, भारतीय ज्ञानपीठ, सन 1960, गाथा 123, पृ. 26-27

20. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, गोम्मटसार (जीवकांड), भाग-2, सन्

1997, पृ. 617-618

21. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 67 22. विशेषावश्यकभाष्यगाथा 82

23. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82 टीका का भावार्थ 24. नंदीचूर्णि, पृ. 20

25. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

26. अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक (हिन्दीसार सहित), नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय आवृत्ति, सन् 1944, पृ. 293

27. आचार्य नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह गाथा 5 की टीका नं. 12

28. प्रमाणनयतत्त्वलोक,अध्याय 2, सूत्र21 29. युवाचार्य मधुकरमुनि, पृ. 183,

30. पं. सुखलालजी, तत्वार्थसूत्र, पृ. 38 31. युवाचार्य मधुकरमुनि, पृ. 29

32. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 90 33. पंचसंग्रह, पृ. 27

34. तत्त्वार्थसार, पृ. 12 35. पंचसंग्रह, पृ. 27

36. तत्त्वार्थवृत्ति, पृ. 25

37. महाबंध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 1998, पृ. 1 पृ. 24

38. कषायपाहुड, पृ. 15 39. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र. 5.5.52, पृ. 290

40. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2, पृ. 618

41. प्रमाणनयतत्त्वलोक, 2.21, पृ. 22-23 42. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 25

43. षट्खण्डागम, पु. 13 सूत्र- 5-5-52, पृ. 289

44. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568 45. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 570-571

46. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 24, षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.43, तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र 1.21

47. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568 की टीका पृ. 260

48. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 89 49. षट्खण्डागम, पुस्तक 13, सूत्र 5.5.52

50. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21.2 51. नंदीवृत्ति, पृ. 76

52. सर्वार्थसिद्धि 1.21, पृ. 89 53. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 572-574

54. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21.4 55. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सू. 1.21, पृ. 244

56. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 568 की टीका पृ. 260

57. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 30 58. सर्वार्थसिद्धि, 1.22, पृ. 90

59. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.3

60. षट्खण्डागम, पृ. 13 सूत्र 5.5.53, पृ. 290-291

61. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2 पृ. 618

62. प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1977, प्रस्तावना पृ. 73

63. नंदीचूर्णि पृ. 25 64. नंदीचूर्णि पृ. 25 65. नंदीचूर्णि पृ. 26

66. धवलाटीका पु. 13, सूत्र 5.5.45, पृ. 291

67. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 568 68. नंदीवृत्ति पृ. 26

69. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 81 70. सर्वार्थसिद्धि 1.22, पृ. 90

71. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, शतक 18, उद्देशक 8, पृ. 734

72. प्रज्ञापनासूत्र पद 33 पृ. 183-196

73. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 25, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568-569

74. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 27-28, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 577-578

75. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 56, 61 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 714, 739

76. कषायपाहुड, पृ. 16-17 77. तत्त्वार्थसूत्र 1.23

78. सर्वार्थसिद्धि 1.22 पृ. 90 79. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.22

80. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, पृ. 619

81. तत्त्वार्थसार, गाथा 25-27, पृ. 12

82. पंचसंग्रह, अधिकार 1, गाथा 124, पृ. 27

83. तत्त्वार्थधिगमसूत्र सूत्र 1.23, सेठ देवचन्द्र लालभाई- जैन पुस्तकोद्धार, प्रथम संस्करण न 1926, पृ. 99-100

84. तत्त्वार्थवार्तिक, 1.22.5, पृ. 56

85. तत्त्वार्थवार्तिक, 1.22.5, पृ. 57

86. तत्त्वार्थवार्तिक, 1.22., पृ. 245

87. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, पृ. 619

88. तत्त्वार्थसार, गाथा 25-27, पृ. 12

89. धवला पु. 13, सूत्र 5-5-56, पृ. 293

- श्री सुधर्म विद्यापीठ, एस.बी.बी.जे. बैंक के पास,
चांदीहॉल, जोधपुर (राज.)

अहिंसा सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याएँ, समाधान तथा उपलब्धियाँ (जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में)

- डॉ. वंदना मेहता

'अहिंसा' निषेधात्मक शब्द है। जैनधर्म में इसके समान समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसक आचरण के लिए प्रयुक्त हैं। वास्तव में जहाँ भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलायी पड़ेगी, वहीं हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जायेगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणा का परिहार प्रेम, उदारता, और सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं का निराकरण संयम द्वारा ही संभव है। इसी कारण, जैनाचार्यों ने तीर्थ का विवेचन करते हुए कषायरहित निर्मल संयम की प्रवृत्ति को ही धर्म कहा है। यह संयम रूप अहिंसा धर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में समता और शान्ति स्थापित कर सकता है। इस धर्म का आचरण करने पर स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वास को कहीं भी स्थान नहीं है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा सम्भव है।

अहिंसा सम्बन्धी समस्याएँ और समाधान :

अहिंसा के विषय में जिज्ञासुओं की ओर से जहाँ अनेक व्यर्थ के प्रश्न उठाये गये वहाँ एक आवश्यक और जीवन्त प्रश्न यह भी है कि जैनधर्म के अनुसार यह संसार अनेक छोटे-छोटे जीव-जंतुओं से पूरा भरा हुआ है। दैनिक जीवन से सम्बन्धित कोई भी ऐसी क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो।[1] चलने-फिरने, खाने-पीने एवं बोलने आदि साधारण क्रियाओं में भी जीवों का घात होता है। इस स्थिति में अहिंसा की साधना कैसे पूरी होगी? क्या हम निष्क्रिय होकर बैठ जाए? गृहस्थ जीवन अनेक परिग्रहों से युक्त है, जिसमें बहुत से आरम्भ करने पड़ते हैं। अतः अहिंसा की रक्षा वहाँ कैसे सम्भव है?

जैनाचार्य संसार से विरत अवश्य थे, किन्तु उन्होंने सामान्य जीवन

से सम्बन्धित इन प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया है। संसार में सभी प्राणी अपनी-अपनी आयु लेकर आते हैं। नित्य मरते और उत्पन्न होते हैं। अतः जीवों के मरने में, सावधान व्यक्ति यदि कारण होता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता और न उसके अणुव्रती अहिंसक होने में कोई दोष जाता है। क्योंकि उसके अन्तस् की भावना पवित्र एवं दया से परिपूर्ण है। यहाँ हमें हिंसा-अहिंसा को भावों पर ही आधारित मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो एक ही व्यक्ति का मोक्ष और बन्ध न हो।[2] दशवैकालिकचूर्णि में कहा गया है कि कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो भी वह पाप से लिप्त नहीं होता। क्योंकि सर्व प्राणातिपात से मुक्त रहने के लिए वह सर्व प्राणातिपात-विरमण महाव्रत ग्रहण करता है। उसकी रक्षा के लिए अन्य महाव्रत ग्रहण करता है, इन्द्रियों का निग्रह करता है, कषायों को जीतता है तथा मन, वचन और काया का संयम करता है। अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के लिए आवश्यक सम्पूर्ण नियमों का जो इस तरह पालन करता है, उससे कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो वह हिंसा के पाप से लिप्त नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार छेद-रहित नौका में, भले ही वह जलराशि में चल रहीं हो या ठहरी हुई हो, जल प्रवेश नहीं पाता उसी प्रकार संवृतात्मा श्रमण में, भले ही वह जीवों से परिपूर्ण लोक में चल रहा हो या ठहरा हो, पाप प्रवेश नहीं पाता। जिस प्रकार छेद रहित नौका रहते हुए भी डूबती नहीं और यतना से चलाने पर पार पहुंचती है, वैसे ही इस जीव को लोक में यतनापूर्वक गमन आदि करता हुआ संवृतात्मा भिक्षु कर्म बंध नहीं करता और संसार समुद्र को पार करता है।[3] शुद्ध भाव वाले व्यक्ति को भी यदि केवल द्रव्य हिंसा के कारण हिंसक मान लिया जाये तो एक व्यक्ति भी इस संसार में अहिंसक नहीं कहला पायेगा क्योंकि मुनिजन भी वायुकायादि जीवों के वध के हेतु हैं।[4] अतः शुभ परिणामों के साथ संसार में सक्रिय रहते हुए अहिंसा की साधना की जा सकती है।

हिंसा के सम्बन्ध में विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार नाना प्रकार की शंकायें उपस्थित होतीं हैं कि ऐसी परिस्थिति में ऐसा करने से हिंसा हुई या नहीं। इन शंकाओं के निवारण में अमृतचन्द्रसूरि (10वीं शताब्दी)

द्वारा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रन्थ में किया गया वर्णन महत्त्वपूर्ण और जैन दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करने वाला है। वहाँ निश्चय दृष्टि से हिंसा और अहिंसा का व्यावहारिक अन्तर स्पष्ट किया है- निश्चय से रागादि भावों को प्रकट न होना अर्थात् उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, यही जैन सिद्धान्त का सार है -

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥

इसके साथ ही पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में यह भी कह दिया है कि केवल प्राण पीड़न से हिंसा कभी भी नहीं होती। वह तो रागादिभावों से ही होती है और रागादि भावों के वश में प्रवर्तनी हुई अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में जीव मरे अथवा न मरे हिंसा तो निश्चित ही लगती है। अर्थात् परजीव के प्राण को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद के सद्भाव से हिंसा कही जाती है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न ही भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥४५॥
व्युत्थानावस्थायां रागादिनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥४६॥

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा से निश्चय कर कोई जीव हिंसा न करते हुए भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।

अविद्यायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥५१॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

अर्थात्- किसी जीव के बाह्य हिंसा तो नहीं की है; परन्तु प्रमादभावरूप से परिणमन किया है, इस कारण वह जीव उदयकाल में हिंसा के फल को भोगता है। दूसरा कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता। किसी जीव ने शरीर सम्बन्ध से बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है, परन्तु प्रमादभाव रूप परिणमन नहीं किया, अतः वह जीव हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता। गृहस्थ जीवन परिग्रह का

भण्डार है। किन्तु उसकी भी सीमा निर्धारित की जा सकती है। तृष्णा को कम करके यदि आवश्यक और अनिवार्य वस्तुओं का संग्रह किया जाये तथा उनके उपयोग के समय सन्तोष से काम लिया जाये तो हिंसा का कोई कारण नहीं दिखता। अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह से संतुष्ट से संतुष्ट व्यक्ति अहिंसक है।[5]

इससे मिलता-जुलता एक प्रश्न और उठता है- जल में स्थल में और आकाश में सब जगह जन्तु ही जन्तु है। इस जन्तुमय जगत् में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है?

जले जन्तुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च।
जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक॥ राजवार्तिक, ७.१३

इस प्रश्न का भी समुचित समाधान प्रस्तुत किया गया है क्योंकि ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षु को मात्र प्राणवियोग से हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार हैं। संसार में जितने सूक्ष्म जीव हैं वे किसी के द्वारा पीड़ित नहीं होते अर्थात् वे न तो किसी से रुकते है, और न किसी को रोकते हैं, अतः उनकी हिंसा नहीं होती। और जो स्थूल है उनके लिय यत्ना रखी जाती है। अतः संयमी व्यक्ति के अहिंसा व्रत पालन करने में कोई बाधा नहीं आती।[6]

जीवों के मरने न मरने पर कोई पाप-पुण्य नहीं होता। वह तो शुभ-अशुभ परिणामों एवं भावनाओं पर आधारित है।[7] सब कार्यों में भावों की निर्मलता एवं अन्तस् की पवित्रता आवश्यक हैं। यदि भावना को प्रधानता न दी जाये तो एक ही व्यक्ति द्वारा अपनी प्रियतमा और पुत्रों के साथ के व्यवहार में कोई अन्तर ही न रह जाये।[8]

इसी बात को धीवर और कृषक का उदाहरण देकर भी जैनाचार्यों ने स्पष्ट किया है। प्राणीघात का कार्य दोनों करते हैं। किन्तु धीवर सुबह से शाम तक नदी किनारे बैठकर यदि खाली हाथ भी घर वापिस लौटता है तो वह हिंसक है, जबकि दिनभर में अनन्त स्थावर जन्तुओं का घातकर लौटने वाला किसान हिंसक नहीं कहा जाता है।[9] यहाँ दोनों के संकल्प और भावों के अन्तर की ही विशेषता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि गृहस्थ जीवन में अहिंसा को न उतारा जा सके। मानव हर क्षण और

हर अवस्था में अहिंसक रह सकता है, उसमें मनोबल और अन्तस् की निर्मलता चाहिए।

एक और ज्वलन्त प्रश्न अहिंसा के सिद्धान्त के विषय में अब उठने लगा है। वह यह कि यदि अहिंसा के सिद्धान्त पर हमें चलें तो आज विश्व में जो चारों ओर युद्ध का भयावह वातावरण व्याप्त है, उससे कैसे बच सकेंगे? क्योंकि युद्ध में भाव तो रोष के होते हैं, या तो वह चुपचाप शत्रु का वार सहता जाये अथवा अहिंसा को किनारे रख शस्त्र उठा लड़ने लग जाये। क्या कोई पक्ष के बचाव का भी रास्ता है?

प्रश्न जितना जटिल और सम-सामयिक है, समाधान उतना ही सरल और न्यायसंगत है। जैन संस्कृति के इतिहास का अवलोकन करने पर पायेंगे कि- अनेक जैन राजा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी हैं। चन्द्रगुप्त, सम्राट खारवेल, सेनापति चामुण्डराय आदि वीरयोद्धा भारतीय इतिहास के उज्जवल रत्न हैं।[10] अतः अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि दूसरे का अकारण चांटा खाकर तुम चुप हो जाओ। कोशिश यह करो कि उसका दुबारा फिर हाथ न उठे। अहिंसा सिर्फ आक्रमणात्मक हिंसा का विरोध करती है, रक्षणात्मक हिंसा का त्याग नहीं।

जैनागमों में एक अहिंसक गृहस्थ के लिए यह विधान भी है कि यदि उसके धर्म, जाति, व देश पर कोई संकट आ पड़ा हो तो उसे चाहिए कि वह तन्त्र, मन्त्र, बल, सैन्य आदि शक्तियों द्वारा उसे दूर करने का प्रयत्न करे।[11] एक देशवासी का राष्ट्र रक्षा भी धर्म होता है। अतः यदि युद्ध अनिवार्य हो तो उससे विमुख होना अहिंसा नहीं, कायरता है। ऐसे युद्ध में रत होकर अहिंसक अपना कर्तव्य ही करता है। क्योंकि हर प्राणी को जब स्वतंत्र जीने का अधिकार है तो उसमें बाधा देने वाला क्षम्य नहीं हो सकता। भले वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो। जैनाचार्य दोषों के अनुसार दोनों को दण्ड देने का विधान करते हैं।[12] अतः अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। उससे कायरता नहीं, निर्भयता का स्रोत प्रवाहित होता है।

इस प्रकार व्यक्ति को, संयमी पुरुषों को सम्यक् रीति से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल जानकर अपनी स्वशक्ति से हिंसा को

छोड़नी अथवा कम करनी चाहिए।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगृहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥६०॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

अर्थात् हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल- इन चार भावों को जानकर हिंसा का त्याग करना उचित है।

अहिंसा की उपलब्धियाँ :

जैन साहित्य व धर्म में अहिंसा के विविध रूपों के साथ एक बात यह भी देखने को मिलती है कि अहिंसा का मूल स्रोत खान-पान की शुद्धि की ओर अधिक प्रभावित हुआ है। हिंसा से बचने के लिए खान-पान में संयम रखने को अधिक प्रेरित किया गया है किन्तु उतना राग, द्वेष, काम, क्रोध, जो भाव हिंसा के ही रूपान्तर है, के विषय में नहीं। इसके मूल में शायद यही भावना रही हो कि यदि व्यक्ति का आचार-व्यवहार शुद्ध और संयत होगा तो उसकी आत्मा एवं भावना स्वयमेव पवित्र रहेगी। किन्तु ऐसा हुआ बहुत कम मात्रा में है। आज अहिंसा के पुजारियों जैनों के खान-पान में जितनी शुद्धि दिखाई देती है, मन में उतनी पवित्रता और व्यवहार में वैसी अहिंसा के दर्शन नहीं होते। अतः यदि व्यक्ति का अन्तस् पवित्र हो, सरल हो तो उसके व्यवहार व खान-पान में पवित्रता स्वयं अपने-आप आ जाायेगी।

अहिंसा के अतिचारों में जो पशुओं के छेदन, भेदन और ताड़न की बात कही गई है वह एक और नया तथ्य उपस्थित करती है। वह यह कि, जैनाचार्यों का हृदय मूक पशुओं की वेदना से अधिक अनुप्राणित था। यदि ऐसा न होता तो वे अहिंसा के अतिचारों में खान-पान की त्रुटियों को ही गिना देते। जबकि उन्होंने प्राणी मात्र के कल्याण की बात कही। आत्मवत् सर्वभूतेषु की बात कही। यही भावना आगे चलकर वैदिक यज्ञों की हिंसा का विरोध करती है और प्राणीमात्र को अभय प्रदान करती है। जैन संस्कृति ने उद्घोष किया यदि सचमुच, तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरों को तुम भी अभय देने वाले बनो, निर्भय बनाओ।[13] यह उसी का प्रतिफल है कि वैदिक युग के क्रियाकाण्डों और आज के हिन्दू धर्म अनुष्ठानों में पर्याप्त अन्तर आया है। भारतीय समाज के विकास में

अहिंसा का यह कम योगदान नहीं है।

अहिंसा समाजवाद और साम्यवाद की नींव है। लोग आज देश में समाजवाद-स्थापना की बात करते हैं। अहिंसा के पुजारियों ने आज से हजारों वर्ष पहले समस्त विश्व में समाजवाद स्थापित कर दिया था। विश्व के समस्त प्राणियों को समान मानना, न केवल मनुष्यों को, इससे भी बड़ा कोई साम्यवाद होगा? अहिंसा महाप्रदीप की किरणें विकरित हो उद्घोष करती है- जो तुम अपने लिए चाहते हो, दूसरों के लिए समूचे विश्व के लिए भी वही चाहो और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो, मत करो। क्योंकि सभी जीव जीना चाहते हैं।[14] एक चेतना की ही धारा सबके अन्दर प्रवाहित होती है।[15] अतः सबके साथ समता का व्यवहार करो, यही आचरण सर्वश्रेष्ठ है।[16] इससे तुम्हारा जीवन विकार वासनाओं से मुक्त होता चला जायेगा और निष्पाप हो जायेगा क्योंकि जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसके पापकर्म का बन्धन नहीं होता।[17]

जैन धर्म की यही उदारदृष्टि अहिंसा को इतना व्यापक बना देती है कि उसे समूचे विश्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में देर नहीं लगेगी। कहा भी गया है कि जिस तरह से सभी नदियाँ अनुक्रम से समुद्र में आकर मिलती है, उसी प्रकार महाभगवती अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश होता है।[18] जब समूचा विश्व ही व्यक्ति का हो जाता है तो कौन उसे सत्यं, शिवं और सुन्दरं नहीं बनाना चाहेगा। जिसके हृदय में सहज अहिंसावृत्ति होती है वह कभी किसी प्राणी को पीड़ा उत्पन्न नहीं करता। इस संघर्षमय जीवन से संतृप्त मानव को अहिंसा की शीलत छाया में शान्ति मिल सकेगी, अन्यत्र नहीं।

संदर्भ :

1. सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते। उपासकाध्ययनकल्प, 26.340
2. श्रावक साधनी बन्ध मोक्ष। सागारधर्मामृत, 4.23
3. जहा जलमज्झे गच्छमाणा अपरिस्सवा नावा जलकंतार वीईवयइ, न य विणासं पावइ, एवं साहूवि जीवाउले लोगे गमणादीणि कुव्वमाणो संवरियासवदुवारत्तणेण संसारजलकंतारं वीयीवयइ, संवरियासवदुवारस्स न कुओवि भयमत्थि। दशवैकालिकचूर्डि, पृ.159

4. जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बहिरंगवत्थुजागेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायवादिबंधहेदु। भगवती आराधना, 806
5. सन्तोषपोषता यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्धयेकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत्।। सागारधर्मामृत, 4.14
6. सोऽत्रवकाशो न लभते भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात्।
किंच सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात्।।
सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्त्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः।। राजवार्तिक, 7.13
7. मृतेऽपि न भवेत् पापमृतेऽपि भवेद् ध्रुवम्।
पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतु शुभाशुभम्।। प्रबोधसार।
8. भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु।
अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा।। सुभाषितावली पृ. 493
9. आरम्भेऽपि सदा हिंसा सुधीः सांकल्पकीयजेत्।
ध्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽध्नन्नपि धीवरः।। सागारधर्मामृत, 2.22
10. जैनधर्म, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, पृ. 182
11. यद्धन ह्यात्मसामर्थ्य यावन्मंत्रसिकोशकम्।
तावद् द्रष्टुं च श्रोतं च तद्धाधां सहते न सः।।
12. दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामु च रक्षति।
राज्ञा शत्रै च मित्रे च यथादोषं समं धृतः।। सागारधर्मामृत, 4.5
13. अभओ पत्थिजा। तुब्भं अभयदाया भ्वाहिय।
अणित्वे जीव-लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि।। उत्तराध्ययन, 18.11
14. जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च न इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा, एत्तियगं जिणसासणणयं।। बृहत्कल्पभाष्य, 4584
15. (1) सव्वे पाणा पियाउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीवितुकाया।
सव्वेसिं जीवितं पियं। आचारांगसूत्र 1.2.3.78
16. 'एगे आया', स्थानांग, 1.1
17. एक्कग्गमणसमासमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो। बृहत्कल्पभाष्य, 4585
18. सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावं-कम्मं न बंधई, दशवैकालिक, 4.8
19. सव्वओ वि नईओ, कमेण यह सायरम्मि निवडंति।
तह भगवई अहिंसा, सव्वे धम्मा समिल्लंति।। संबोधसत्तरी, 6

- जैन विश्व भारती संस्थान,
लाडनूँ (राजस्थान)

Social Implications of Meditatioin

Dr. Samani Shashi Praj–â

Jain scriptures describe four types of meditation : â*rtta* (sorrowful), *roudra* (cruel), *dharma* (virtuous), and œ*ukla* (pure). The first two are inauspicious (black) meditation and the last two are auspicious (white) meditation. *Mahâvîra* propounded to pay attention on auspicious meditation which is conducive to the attainment of liberation and inspired to refrain from inauspicious meditation which is the cause of *kârmic* bondage.

Unfortunately, the practice of meditation was somewhat neglected in last centuries by *Jains*. Due to 12 years of famine, near about thousands of monks died, those who were experts in *Jain* literature. So this caused great loss and change in meditation oriented outlook of *Jain* seers. They became study centered to save their scriptures and survival of the order. After that *tantra* tradition (8th cent.-15th cent. B.C.) dominated in the third era of Jain yoga. In the fifth era of Jain yoga then *bhakti* tradition (16th cent.-19th cent. B.C.) dominated. Fortunately, however the last two decades witnessed a revival.

The 20th century is stated as the scientific age. Research and experiments are highly stressed in this age. In the later part of twentieth century, Âcârya Tulsi (9th

âcârya of the *Terâpanth* sect of œ*wetâmbara Jains*) tried to resurrect the disappearing Jain yoga system. He composed a book named *Manonuúâsana* in aphorismic style of *sa skrit*, in which all the material related to the Jain spiritual practices during the last 2600 years is precisely explained in this small sized book. He deputed Muni Nathmalji (now Âcârya Mahâpraj–a) re-discovered the ancient tradition of meditation in Jainism, and re-organized the disjointed elements into a cohensive whole. He studied the ancient scriptures deeply for thirteen years, collected the related material, decided the system of approach, compared the scriptural facts with scientific facts, experimented and developed the perception based meditation system of *prek* â *dhyâna*.

Jain meditation as found in the canonical texts are of four types, among them *prek* â *dhyâna* is based upon the *dharma dhyâna* and œ*ukla dhyâna*. Here we are concerned with the later two types of *dhyâna* and its social significance.

Significance of *Dhyâna*

i. Self-awareness and Meditation

The reflection over the four sub-classification of *dharma dhyâna*[1] i.e. â*jñyâ*, â*pâya*, *vipâka* and *sa sthâna vicâya* makes meditator to be introvert. Through â*gyâ vicaya* meditator contemplates on the scriptural concepts as

attachment and aversion are the two main causes of *kârmic* bondage.[2] Then under *vipâka vicaya*, meditator contemplates on the mechanism of *karma* that human beings have to suffer the consequences of their past deeds unless liberation is achieved.[3] In *apâya vicaya*, meditator concentrates on the present state of life. In this process a clear picture in ones mind appears as the happiness is the consequence of good deeds done in the past and unhappiness is the consequences of ones bad deeds. Then the meditator refrains from hurting others, refrains himself from indulging in bad actions and tries to concentrate on auspicious actions, thoughts and speech to shed off the past inauspicious *karmâs*. In *sa sthâna vicaya*, he knows that universe is the place of enjoying good or bad deeds. Moreover by contemplating, on *anitya*, *aœara a*, *ekatva*, *anyatva bhâvanâ*, self awareness develops to extreme level. This self-awareness not only inhibits the *karma* but at the same time, carefulness in each and every action is achieved.

ii. Compassionate Personality and *Dhyâna*

The greatest outcome of meditation is the origination of compassion for all the categories of living beings.[4] *Tîrtha kara* Mahâvîra said, the behaviour, which you like, behave the same with others.[5] This kind of notion of equality of soul develops through meditation. Today we see serial bomb blasts in various cities, incidents of dowry deaths, familial violence, abortion, adulteration in kids food products and in medical products are becoming common burning issues of the present scenario. They are the living examples of cruelty. To establish the compassionate society, meditational practice is the need of the hour. Without cruelty, exploitation can't take place. The layers of *kârmic* particle on the self is the main cause of cruel behaviour. Once these layers of *karmâs* are uncovered through the process of meditation, then we can translate the dream of the compassionate society into reality.

iii. Energy Equilibrium and Meditation

Dhyâna has great importance in maintaining the energy equilibrium, between vital force and bio-electricity in the body. In meditation we first carry the vital energy upwards. Once this energy has been developed, there will be no harm if it is carried downwards. All the physical postures recommended for meditation namely *vajrâsana*, *padmâsana*, *sîr âsana* postures push vital energy upward. The science of â*yurveda* says that the heart is the seat of

the soul as well as of energy. It is from the heart that the upward flow of energy begins.[6] According to Âcârya Mahâpraj–a subtle energy is needed to destroy the *karmâs* attached to subtle body, *tapa* and *bhâvan*â are two means to achieve it.[7] Today we see many physical and mental diseases are becoming incurable from allopathic treatment, here lies the relevance of meditation. Through the practice of perception of body, not only the energy equilibrium in body can be attained but also many, person's neural diseases, tension problem can be resolved. We find frequent reference of Mahâvîra concentrating on the tip of his nose that was an important secret of his health and for the equilibrium of mind.[8]

iv. Change of Habits and Meditation

The purpose of meditation is to bring about transformation.[9] Habits die hard. But Âc*ârya Mahâpraj–a* has a strong belief that habits can be changed through the practice of contemplative meditation. By contemplating on the center of vigilance, self-awareness increases, a kind of deluded attitude that drugs can give us pleasure also transforms. The glandular secretions play a great role in the transformation of habits. If the glandular flow is regulated through the practice of contemplation on the centre of vigilance, corresponding bio-chemical changes in body occurs and the habits began to change themselves. Psychologists have certainly succeeded in bringing about some chemical change through various drugs and tranquilizers but no drugs can ever bring about a lasting transformation. *Dhyâna* is a powerful means of bringing about a complete change of habits[10] of smoking, drinking, chewing tobacco, drugs; habit of *pâna-parâga* and *gutkh*â and the like many pouches, betalnuts so on and so forth. The scientists are in search of a cure to the vice of drug abuse but uptil now no effective remedy has been evolved. The *kâyotsarga* is like a tranquilizer (relaxation with self-awareness) one of the important practice can solve the problems related to addiction of intoxicants and can change the vital habits and pave a new direction to their life.[11]

v. Problems and solutions through different meditational practices

S.No.	Problems	Solutions
01.	Absence of Self-awareness	Breath Perception.[12]
02.	Problem of anger	Regular 10 minute concentration of white color on the center of enlightenment.[1]
03.	Problem of ego	Contemplationof humbleness.[14]
04.	Problem of deceit	Contemplation of straight forwardness.[15]
05.	Problem fo greed	Practice of *kayatsarga* leading

	words detachment.[16]
06. Solution of complex problems	Ten minute concentration on Centre of Bliss with yellow colour.[17]
07. Idleness laziness, inactivity	Concentraion of Centre of Intuition and perception of red colour.[18]
08. Freedom from nervous tension	*kayatsarga.*[19]
09. Durg addictions	Concentration on Centre of Vigilance.[20]
10. Heart disease, H.B.P., L.B.P.	*kayatsarga* and yhogic exercise.[21]
11. *Asthama*	Alternative beathing and feq yogic exercise.[22]
12. Insomnia or	*kayatsarga* and practice of *Dhwani*[23]
13. Blue colour breathing	Blood pressure.
Yellow colour breathing	Liver disorder is balanced.
Green colour breathing	Control of mood.[24]
14. Mental excitement	Concentration on the orange colour in Centre of knowledge for 10 minutes.[25]
15. Control of sex desires	Concentration on the Centre of Intuction and celibacy.[26]
16. Mental tensions	Meditation.[27]

vi. Transformation of Personality and *Dhyâna*

Scientists speak of three dimensions, length, width and height. A fourth dimension has now been added to them. It is time. The human personality also has three dimensions, memory, thinking and imagination. A fourth dimension may be added to them and that is perception as per the view of Mahâpraj–a.[28] Practice in perceiving the centres of consciousness opens the fourth dimension in our personality. This results in the transformation of personality. Practice of Perception of Psychic Centres in the body with specific colours can help in changing the personality of an individual. The first principle of transformation and work efficiency is development of non-absolutist personality. The second principle is balanced emotions, third is tolerance and fourth is concentration and fifth is lending mutual support when needed.[29] These qualities of self-transformation can be developed through the practice of *Jain* Preksha Meditation.[30] The personality of practitioner of Preksha Meditation will not only influence others but

everywhere he/she will be welcomed by all as conduct speaks louder than the speech. Development of five principles will really transform the personality.

vii. Work Efficiency and Emotional Control

The Indian thinkers, however, unanimously hold that the absolute elimination of the passions of attachment and hatred, greed and anger is not possible. In fact, the spiritual disciplines propounded in Hinduism, Buddhism, and Jainism, the three major religions of India are in perfect agreement on this issue that meditation, in some form or the other is considered as the only way to attain salvation.[31]

Meditation activates the process of transformation and its effects should be judged by the gradual transformation that comes in its wake.[32] It will be in vain to imagine that *dhyâna* brings quick freedom from passions. It is not a one or two year long process. Its consummation takes not one but many life times. We expect quick results. When even an ordinary ailment takes quite some time to cure, then how can we expect emotional control promptly. Passions i.e. anger, pride, greed and deceit which are derivative passions and purifying them is not only necessary but also it is the most difficult task of all spiritual practices. One should, from time to time, see how much emotional purification has occurred and try to find out the reasons of slow or no achievement through introspection. Thus control of emotions through meditation is a matter of stage-by-stage development. As per the view of Mahâpraj–a, concentration on the white colour at the Center of Peace, installing the image of the *ishta* there, fixing the sacred white aural colour are extremely useful means of purifying the emotional flow.[33]

Thus meditation is the journey of the self, towards the self. The only form of religion, which could be universally accepted in modern times is meditation, where individuality loses his identity.[34] Âcârya Mahâpraj–a stresses on meditation to such an extent that meditation of two and a half minute can supersede the fasting of two days.[35] So meditation is a means of social transformation through individual transformation. Social problems related to intolerance, anger etc. passionate behaviour, in adjustment, corruption, cruelty, adulteration and many incurable diseases can be permanently solved through the dedicated and continuous practices of

meditation.

Conclusion :

[1] *Dhyâna Œataka*â of Jinabhadraga î.verse 45-53.

[2] *Uttarâdhyayana Sûtra*, 32.7.

[3] *Uttarâdhyayana Sûtra*, 13.10

4. Mahâpraj–a.*Taba Hot*â *Hein Dhyâna k*â *Janma*, p. 191.

[5] Mahâpraj–a.*Mânavat*â *K*â *Bhavi ya*, 98.*of Mind*, p. 59.

6. Mhaprajna. Mysteries of Mind, p. 59

7. Ibid, p. 59

8. *Mahaprajna.Mahavira's Scritpure of Health, p.48*

9. Mahaprajna. Anekanta : The Third Eye, p.207

10. *Mahaprajna. Towards Inner Harmony, p.94*

11. Acarua Tulsi. Transmutation of Personality Through Preksha Meditation. Ladnun : Jain Vishva Bharti, 1994, p.175

12. *Mahaprajna. Mysteries of Mind*.p.162

13. *Acarya Tulsi. Manonusasanam*, 3.21

14. *Mahaprajna.Mirror of The Self.* Ladnun : Jain Vishva Bharti, 2004, p.134

15. *Mahaprajna.Pahala Sukha, Nirogi Kaya*,p.58.

16. Ibid,p.66

17. *Mahaprajna.Mysteries of Mind,* p.152

18. *Mahaprajna.Mysteries of Mind,*p.153

19. Ibid,p.152

20. Ibid,p.152

21. *Mahaprajna.Lord Mahavira's Scripture of Health*,p.168

22. Ibid, p. 171

23 Ibid, p. 135.

24 Mahâpraj–a.*Lord Mahâvîra's Scripture of Health*, p. 88.

25 Mahâpraj–a.*Mysteries of Mind*, p. 165, *TheMirror of Self*, p. 133.

26 Mahâpraj–a.*Mysteries of Mind*, p. 165.

27 Ibid, p. 122.

28 Mahâpraj–a.*Mysteries of Mind*, p. 164.

29 Mahâpraj–a.*Why Meditate*, p. 97-102.

30 Mahâpraj–a.*Jîvan kî Poth*î, p. 129.

31 Ganâdhipati Tulsî.*Jain Siddhânta Dîpik*â, p. XXXIV.

32 Mahâpraj–a.*New Man : New World*, p. 75.

33 Mahâpraj–a.*Lord Mahâvîra's Scripture of Health*, p. 75.

34 Mahâpraj–a.*Dharma ke Sûtra*, 1975, p. 64.

35 Mahâpraj–a.*Bheda Me Chip*â *Abheda*.1991, p. 51.

Asstt. Prof.in Deptt.of Jainology
Comparative Philosophy & Religion
Jain Vishva Bharati University
Ladnun-341306 (Rajasthan)

धार्मिक जीवन और स्वास्थ्य

- आचार्य राजकुमार जैन

मनुष्य के जीवन में आचरण का विशेष महत्व है। आचरण ही मनुष्यों को सदाचारी, कदाचारी या दुराचारी बनाता है। आचरण की शुद्धता मनुष्य के सात्विक एवं धार्मिक जीवन यापन का आचार है। सद्आचार विचार ही मनुष्य को धार्मिक जीवन यापन की प्रेरणा देते हैं। कोई भी धर्म हो वह कभी भी मनुष्य को कदाचरण या दुराचरण की ओर प्रेरित नहीं करता है। आचरण का प्रभाव ही जीवन को धार्मिक या अधार्मिक बनाता है। अन्य धर्मों की भांति जैनधर्म में भी अन्य बातों के अतिरिक्त आचरण को विशेष महत्व दिया गया है। यद्यपि जैन धर्म एक साधना प्रधान धर्म है और साधना के माध्यम से अपनी आत्मा को निर्मलता के चरमोत्कर्ष पर पहुंचाकर समस्त सांसारिक बंधनों से उसे मुक्त कराना इस धर्म का चरम लक्ष्य है। संसार के समस्त जीवधारी प्राणियों की आत्मा का निवास उनके भौतिक शरीर में होता है। अतः साधना के क्षेत्र में सशरीर आत्मा की ही उपयोगिता है। शास्त्रों में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है- **''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।''**

इसकी भी दो अवस्थाएं होती हैं- एक स्वस्थावस्था और दूसरी विकारावस्था। शरीर और मन यदि स्वस्थ रहते हैं जो जीवन के सभी कार्य निराबाध रूप में सम्पन्न होते हैं। आहार विहार आदि अपनी दैनिक क्रियाओं में वह सुख का अनुभव करता है, क्योंकि वह अनुकूल वेदना रूप है- **''अनुकूल वेदनीयं सुखम्''**। उसके विपरीत जब शरीर अथवा मन में अवस्थ्यता होती है तो उसे दुख का अनुभव होता है। यह दुख प्रतिकूल वेदना कहलाता है- 'प्रतिकूल वेदनीयं दुखम्' (पतञ्जलि) शारीरिक या मानसिक अवस्थता की स्थिति में मनुष्य असन्तुलित एवं अव्यवस्थित अनुभव करता है जिससे उसके धर्म साधन, अर्थ साधन (व्यवसाय) कामसाधन (सांसारिक कार्य करने) तथा मोक्ष साधन रूप

चतुर्विध पुरुषार्थ के साधन में बाधा उत्पन्न होती है। इसीलिए मनुष्य के लिए प्रतिपादित पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन में आरोग्य (शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता) को प्रमुखता दी गई है -

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्॥

पूर्वजन्मकृत अशुभकार्यों के उदय से तथा प्रकृति, देश, काल आदि के वैषम्य से कई बार यह शरीर रोगी या विकार ग्रस्त बन जाता है। रूग्ण शरीर के द्वारा न तो सुखोपभोग होता है और न ही धर्म की साध ना। अतः प्रत्येक कार्य के लिए शरीर की निरागता परमावश्यक है। शरीर के विकारग्रस्त होने पर जब धर्म का साधन सम्भव नहीं होता है तो साधना के पथ पर आरूढ़ होना कैसे सम्भव होगा? साधना के अभाव से कर्मों की निर्जरा सम्भव नहीं है, और कर्मनिर्जरा के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन समस्त कार्यों एवं लक्ष्य की पूर्ति के लिए शारीरिक आरोग्य परमावश्यक है। शारीरिक आरोग्य की आवश्यकता का प्रतिपादन आयुर्वेद शास्त्र तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में तो किया ही गया है, जैन ग्रन्थों में भी जैनाचार्यों के द्वारा शारीरिक आरोग्य की उपयोगिता एवं आवश्यकता बतलाई गई है। श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ कल्याणकारक में इस विषय में लिखा है-

न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्त्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद् भवेन्नैव मर्त्यः॥[१]

अर्थात् मनुष्य बुद्धिमान और धीरसत्व (दृढ़मनस्क) होने पर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है, न काम का उपभोग कर सकता है और न मोक्ष का साधन कर सकता है। अर्थात् रोगी मनुष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी चतुर्विध पुरुषार्थ का साधन नहीं कर सकता है। उस पुरुषार्थ चतुष्टय के नष्ट होने से मनुष्य भव में जन्म लेने पर भी वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है।

यहाँ स्पष्टतः चतुर्विध पुरुषार्थ साधन का मूल निरोग या स्वस्थ्य शरीर निरूपित किया गया है। उसके बिना मनुष्य जीवन की कोई सार्थकता ही नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव मिथ्या

आहार-विहार से स्वयं रक्षा करते हुए तथा सद्वृत का अनुवर्त्तन करते हुए संयम पूर्वक आचरण के द्वारा अपने स्वास्थ्य की रक्षा करे। विपरीत आचरण, मिथ्या आचरण असंयमपूर्ण (कदाचरण) शरीर में विकार उत्पन्न कर उसे रोगी बना देता है। अतः इनका सदैव परिहार करना चाहिए। कौन मनुष्य निरोग रह सकता है? इस विषय में सुन्दर ढंग से शास्त्रों में विवरण मिलता है जो निम्न प्रकार है -

नरो हिताहरविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरो क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥[२]

अर्थात् हित आहार और विहार का सेवन करने वाला, सम्यक् प्रकार से हिताहित विवेक पूर्वक कार्य करने वाला, पञ्चेन्द्रियों के विषय में आसक्त नहीं रहने वाला, दान की प्रवृत्ति वाला, समता भाव को धारण करने वाला, सदैव सत्य में तत्पर, क्षमा भाव को धारण करने वाला और आप्तजनों की सेवा में संलग्न मनुष्य ही निरोग रहता है।

यहाँ निरोग रखने के लिए जिस आचरण का निर्देश किया गया है वह सर्वथा जैन धर्म सम्मत और जैन धर्मानुयायी श्रावक द्वारा आचरणीय है। इस प्रकार का आचरण सात्विक होता है और वह आरोग्य सम्पादन के साथ-साथ आत्मोन्नयन या आत्मा को निर्मल बनाने में सहायक होता है। आचरण की शुद्धता के कारण अन्तःकरण में सात्विक भाव का उदय एवं उत्कर्ष होता है। जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों से हटकर शुभ कर्मों में होती है।

आरोग्य सम्बन्धी अन्यान्य बातों का उल्लेख विस्तार पूर्वक आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। अतः वहाँ उसका अवलोकन कर तद्विषयक सभी बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र यद्यपि रोग निवृत्ति का उपाय बतला कर तथा स्वास्थ्य रक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण कर मात्र भौतिक शरीर की रक्षा और उसके सवंर्द्धन की प्रेरणा देता है, तथापि यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि वह आरोग्य साधन के साथ-साथ परोक्ष रूप से मोक्ष साधन में भी कारण भूत है। वह यद्यपि मोक्ष साधन के उपायों का निर्देश नहीं करता है, तथापि मोक्ष साधन के मूल समझे जाने

वाले शारीरिक आरोग्य के निष्पादन में पूर्णतः सहायक होता है। अतः अप्रत्यक्षतः वह मोक्ष साधन का कारण भी है।

जैनधर्म में मोक्ष को विशेष स्थान दिया गया है और मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य बतलाया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना या तप का विशेष महत्व है, क्योंकि उससे ही कर्मों का क्षय होता है और आत्मा को कर्मों के बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। आयु कर्म शेष रहने तक आत्मा को भौतिक शरीर में ही निवास करना पड़ता है, अतः तब तक उसके स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिए साधना के क्षेत्र में अवतरित मुनि को भी आरोग्य सम्बन्धी समस्त विषय का ज्ञान होना आवश्यक है। जो शुभ परिणामी मुनि या श्रावक ऐसा नहीं करता है वह विभिन्न रोगों से पीड़ित होकर तज्जनित कष्टों और उनके दुष्परिणामों से अशुभ कर्म के बंध का भागी बनता है। अतः श्री उग्रादित्याचार्य ने आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश निम्न प्रकार से दिया है-

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।
अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो बध्नाति कर्म निजदुष्परिणाम भेदात्॥[३]

अर्थात् विद्वान् मुनि आरोग्य शास्त्र (आयुर्वेद शास्त्र) को अच्छी तरह जानकर (उसी प्रकार आहार-विहार रखते हुए और नियमों एवं सद्वृत्त का पालन करते हुए) सिद्ध सुख के एकमात्र कारण भूत स्वास्थ्य का साधन (रक्षा) कर लेता है। इसके विपरीत स्वदोष अर्थात् अपने अहित आहार-विहार से जनित रोग से पीड़ित शरीर वाला होकर वह अपने दुष्परिणामों (दुर्भावों) के कारण विभिन्न कर्मों के बंध को बांध लेता है।

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि आरोग्य शास्त्र (आयुर्वेद शास्त्र) का अध्ययन एवं ज्ञान किस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष सुख का कारण है? जिसके शरीर में रोग व्याप्त रहता है या जो किसी बाह्य या आभ्यन्तरिक विकार से पीड़ित है वह अपने शरीर की रोगजन्य वेदना के कारण व्याकुल बना रहता है। आकुलता स्वयं एक अशुभ परिणाम है जो

मनोविकार का द्योतक है। उस आकुलता के कारण मनुष्य का मन विकार युक्त बना रहता है, जिससे उसके परिणामों-भावों की निर्मलता समाप्त हो जाती है और वे सुपरिणाम, दुष्परिणामों में परिवर्तित हो जाते हैं।

दुष्परिणामों के कारण मनुष्य की आत्मा अशुभ कर्म के संस्कारों से परिवेष्टित हो जाती है और अशुभ कार्यों का फल भोगने हेतु उसे पुनः संसार में जन्म-मरण को धारण करते हुए संसरण करना पड़ता है। इसके विपरीत स्वस्थ शरीर वाला योगी या साधु आकुलता के अभाव में निराकुल होकर अपनी साधना में तत्पर रहता है और अंततः शाश्वत मोक्ष सुख का अनुभव कर लेता है। इस प्रकार रोगाक्रान्त शरीर जहाँ कर्मबन्धन एवं संसार भ्रमण का कारण है वहाँ आरोग्य के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

शरीर में रोग की उत्पत्ति हो जाने पर साधना या तपश्चर्या में किस प्रकार विघ्न या व्यवधान उत्पन्न होता है इसे स्वामी समन्तभद्र के जीवन से भलीभाँति जाना जा सकता है। मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए भी पूर्व जन्म कृत अशुभ कर्मों के संस्कारवश जब वे भस्मक व्याधि से पीड़ित हो गए तो वे यद्यपि कभी अपनी चर्या से चलायमान या विचलित नहीं हुए, तथापि इससे वे अपनी मुनिचर्या में किंचित् व्यवधान सा अनुभव करने लगे थे। क्योंकि जठराग्नि की तीव्रता उनके द्वारा गृहीत भोजन का तिरस्कार करती हुए शरीर को अधिक पीड़ित करने लगी थी। मुनिचर्या के अधीन उनके द्वारा गृहीत भोजन वैसे भी समिति और नीरस होता था जो उनकी तीव्र जठाराग्नि के लिए अपर्याप्त था। अतः उससे जठराग्नि की तृप्ति होना सम्भव नहीं था। उसके लिए तो यथेष्ठ परिमाण में गुरु-स्निग्ध-शीतल और मधुर रस वाला अन्न पान मिलना आवश्यक होता है, अन्यथा वह जठराग्नि शरीरगत रस-रक्त-मांसादि धातुओं को ही भस्मसात् करने लगती है। इससे शरीर में दौर्बल्य होने के साथ-साथ तृषा, दाह, मुर्च्छा आदि अन्य अनेक विकार या व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। स्वामी समन्तभद्र ने जब अनुभव किया कि व्याधि की तीव्रता के कारण शरीर की दुर्बलता निरंतर बढ़ती जा रही है और इससे मुनिचर्या में

व्यवधान भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त मुनि पद को स्थिर रखते हुए इस रोग का प्रतिकार किया जाना भी सम्भव नहीं है। तब उन्होंने अपने गुरु से समाधि मरण की आज्ञा प्रदान करने का अनुरोध किया। उनके गुरु ने आदेश दिया कि प्रथमतः तुम मुनिपद का परित्याग कर अपनी भस्मक व्यरधि को शान्त करो। व्याधि के शान्त होने पर प्रायश्चित पूर्वक पुनः मुनिपद धारण कर लेना। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर प्रथम उन्होंने अपने मुनित्व का त्याग किया। पश्चात् वे कांची के राजा को अपने आशीर्वचनों से प्रसन्न कर वहाँ के शिव मंदिर में आने वाले चढ़ावा (भाग) को अकेले ही भक्षण करने लगे। कुछ दिनों तक लगातार प्रचुर मात्रा में गुरू और मधुर आहार मिलने से कालान्तर में उनकी जठराग्नि की तीव्रता कम होने लगी और अन्ततः उनकी भस्मक व्याधि का शमन हुआ।

इससे स्पष्ट है कि शरीर में व्याधि की उत्पत्ति किस प्रकार उत्पन्न कर शरीर के दैनिक कार्यों में बाधा उत्पन्न कर देती है। इससे धर्माचरण, दैनिक चर्या और साधना में तो व्यवधान उत्पन्न होता ही है, मन में भी आकुलता हो जाने से अशुभ कर्मबन्ध का भागी होना पड़ता है। व्याधिग्रस्त होने के कारण शरीर को जो कष्ट या वेदना भोगनी पड़ती है उसका प्रभाव मनुष्य के मन पर भी पर्याप्त रूप से पड़ता है। जिससे मन में आकुलता का भाव उत्पन्न होता है। वह आकुलता का भाव ही कर्म बंध का कारण होता है। अतः शरीर की रूग्णता जहाँ धर्म साधन में बाधा उत्पन्न करती है वहाँ शारीरिक आरोग्य धर्माचरण में सहायक होता है।

इसी क्रम में जैनधर्म के प्रभावक मनीषी श्री उग्रादित्याचार्य ने दो प्रकार के स्वास्थ्य का प्रतिपादन करते हुए उनके महत्व को भी सार्थक रूप से प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार स्वास्थ्य दो प्रकार का होता है- एक पारमार्थिक स्वास्थ्य और दूसरा व्यावहारिक स्वास्थ्य। श्री उग्रादित्याचार्य के अनुसार इस द्विविध स्वास्थ्य में प्रथम परमार्थ स्वास्थ्य प्रधान या मुख्य है और दूसरा व्यवहार स्वास्थ्य अप्रधान या गौण। यथा-

अथेह भव्यस्य नरस्य साम्प्रतं द्विधैव तत्स्वास्थ्यमुदाहृतं जिनैः।
प्रधानमाद्यं परमार्थभित्यतो द्वितीयमन्यद् व्यवहारसम्भवम्॥[४]

अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा भव्य जीव मनुष्य का स्वास्थ्य दो प्रकार का बतलाया गया है- एक परमार्थ स्वास्थ्य और दूसरा व्यवहारज स्वास्थ्य। इनमें से प्रथम पारमार्थिक प्रधान होता है और दूसरा व्यवहारार्थिक स्वास्थ्य गौण है।

पूर्व में आयुर्वेद के अनुसार जो दो प्रकार का स्वास्थ्य-शारीरिक और मानसिक बतलाया गया है उसका समावेश व्यवहार स्वास्थ्य में किया गया है। पारमार्थिक स्वास्थ्य का निरूपण निम्न प्रकार किया है-

अशेषकर्मक्षयज महाद्भुतं यदेतदात्यन्तिकमद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिस्तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्।।[५]

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न, अद्भुत, आत्यान्तिक एवं अद्वितीय, विद्वज्जनों द्वारा प्रार्थित जो अतीन्द्रियसुख है वह पारमार्थ स्वास्थ्य कहलाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का नाश होने से जो अविनाशी, अद्वितीय, इन्द्रियातीत, परमोत्कृष्ट आत्मीय सुख की अनुभूति होती है वही पारमार्थिक स्वास्थ्य होता है। इस प्रकार के अक्षय परमानन्द का अनुभव अलौकिक एवं दिव्य आध्यात्मिक सम्पदा का परिणाम है जिसके कारण यह जीव समस्त प्रकार की सांसारिक यातनाओं, कष्टों, दुखों एवं विभिन्न प्रकार के अशुभ परिणामों से ही मुक्त नहीं हो जाता है, अपितु वह समस्त प्रकार के कर्म बन्धनों का उच्छेद कर संसार परिभ्रमण से ही मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में अपना आयु कर्म शेष रहने के कारण वह जीव जब तक इस संसार में रहता है तब तक उसके लिए समस्त सांसारिक भौतिक सुखोपभोग तथा विविध प्रकार के भोग विलास तुच्छ एवं हेय हो जाते हैं। यही पारमार्थिक स्वास्थ्य है और इसी पारमार्थिक स्वास्थ्य की उपलब्धि करना जैन धर्म का लक्ष्य है। इस पारमार्थिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध शरीर से न होकर शरीर में स्थित आत्मा से है। अतः इसे प्रधान या मुख्य माना गया है।

दूसरे प्रकार व्यवहारिक स्वास्थ्य है जो निम्न प्रकार का बतलाया गया है-

समाग्नि धातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियसुप्रसन्नता।
मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु।।[6]

अर्थात् मनुष्य के शरीर में स्थित अग्नि (जठराग्नि) का सम रहना (हीनाधिक नहीं होना), धातुओं की समता, वात आदि दोष का विकृत नहीं होना, मल मूत्रादि की विसर्जन क्रिया समुचित रूप से सम्पन्न होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन का प्रसन्न रहना ये सब व्यवहार स्वास्थ्य के लक्षण हैं।

दूसरे प्रकार का यह व्यवहारिक स्वास्थ्य प्रथम पारमार्थिक स्वास्थ्य के अर्जन में सहायक होता है। व्यावहारिक स्वास्थ्य भौतिक होता है और उसका सम्बन्ध केवल शरीर व मन से है। शरीर की निरोगता तथा वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों की समस्थिति होना, रस, रक्तादि सप्त धातुओं की क्षय या वृद्धि होना (अविकृत अवस्था), स्वेद-मूत्र-पुरीष इन तीनों मलों की क्रिया प्राकृत रूप से सम्पन्न होना, जठराग्नि का प्राकृत अवस्था में होना, इन्द्रियों और मन की अविकलता तथा प्रसन्नता होना शारीरिक आरोग्य का परिचायक है। इसे ही व्यवहारिक स्वास्थ्य कहते हैं। यहाँ व्यवहारिक स्वास्थ्य के जो लक्षण बतलाए गए हैं वे सभी लक्षण आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ पुरुष के बतलाए गए हैं। आयुर्वेद शास्त्र में भी इसी प्रकार के शारीरिक स्वास्थ्य का प्रतिपादन किया गया है। अष्टांग हृदय में आचार्य वाग्भट्ट कहते हैं-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।[7]

अर्थात् जिस पुरुष के तीनों दोष सम (अविकृत) अवस्था में हो, जाठराग्नि सम (अविकृत) अवस्था में हो, सात धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और तीन मलों (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रियाएं सम अवस्था में हों, जिसका आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न (विकार रहित) हों वह पुरुष 'स्वस्थ कहलाता है।

इस प्रकार के आरोग्य या द्विविध स्वास्थ्य का प्रतिपादन मात्र आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। अतः यह आध्यात्मिकता से अनुप्राणित

है। इसका मुख्य उद्देश्य लोकोपकार करना है। मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु विविध उपायों का निर्देश करना तथा औषध चिकित्सा के द्वारा विविध रोगों का शमन करना लोकोपकार ही है। मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु विविध उपायों का निर्देश करना तथा औषध चिकित्सा के द्वारा विविध रोगों का शमन करना लोकोपकार ही है। पारमार्थिक स्वास्थ्य के लिए आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना लोकोपकार की चरम परिणति है। आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्सा कार्य को पुण्यतम माना गया है। क्योंकि चिकित्सा के द्वारा रोग जनित उन असह्य वेदनाओं से मुक्ति मिलती है जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष साधन में विघ्न रूप होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी इस आयुर्वेद शास्त्र का कथन लोकोपकार करने के लिए ही किया है। यथा- **''लोकोपकारकरणार्थमिदं ही शास्त्रम्''**[८] अर्थात् यह वैद्यक शास्त्र लोक के प्रति उपकार करने के लिए है।

इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म में लोकोपकार और आत्म कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। क्योंकि परोपकार के कारण मनुष्य एक ओर जहाँ दूसरों का हित करता है, दूसरी ओर पुण्य संचय के कारण अपना भी हित करता है।

******

संदर्भः

1. कल्याणकारक, 20/90
2. चरक संहिता, सूत्रस्थान, अ. 30
3. कल्याण कारक 20/29
4. कल्याणकारक 2/2
5. कल्याण कारक, 2/3
6. कल्याण कारक, 2/4
7. अष्टांग हृदय, सूत्र स्थान
8. कल्याण कारक, 1/24

- निदेशक, जैनायुर्वेद सहित्यानुसंधान केन्द्र
राजीव काम्पलेक्स के पास, अहिंसा मार्ग,
इटारसी-४६१ १११ (म०प्र०) फोन- ०७५७२-४०४६८८

टिप्पण-१

रूस में जैन पाण्डुलिपियाँ

- ललित जैन

ईसा के पट्ट शिष्य संत थामस जब ईसाई धर्म के प्रचार के सिलसिले में हिन्दुस्तान आये थे तो उन्हें हिन्दुस्तान में व्याप्त मंत्र-तंत्र एवं धर्म व्यवस्था से सर्वाधिक प्रभावित किया, उन्होंने भारतीय ब्राह्मण एवं श्रमणों पर ढेर सारी जानकारी तथा पाण्डुलिपियाँ एकत्र कर विशेष अध्ययन किया और एकत्र विषय सामग्री के आधार पर भारत विषय पर अनेक पुस्तकें लिखीं।

प्राचीनतम् रूसी इतिवृत्त ''पोवेस्त ब्रमेन्नीखलेत (काल क्रमिक गाथा)'' में पृथ्वी में ज्ञात विभिन्न जातियों (धर्म) का विवरण देते हुए बताया गया है कि 'बाख्तीय' जिन्हें 'राह्मन' (दिगम्बर) कहा जाता है इस जाति के लोग, अपनी कट्टर धर्म परायणता के कारण मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं करते, व्यभिचार नहीं करते, किसी को भी दुःख पहुँचाने को पाप मानते हैं और सदैव नग्न रहते हैं; इसी तरह का विस्तृत विवरण 'पल्लाडियस व मीडियोलेनम मठ' के संत 'अम्ब्रोस; का 'भारत की नस्लें एवं ब्राह्मण' शीर्षक से लिखा ग्रंथ व रूसी लेखक येफ्रोसिन ने गेओर्गी आमार्तोल के इतिवृत तथा अन्य स्रोतों के आधार पर 'राह्मन और उनके आश्चर्य जनक जीवन' नाम से ग्रंथ लिखा जिसमें राह्मन (दिगम्बर साधुओं) के बारे में लिखा है कि- इन लोगों ने स्वर्ग के निकट रहते हुए अपनी इच्छाओं को परिसीमित कर लिया है, जिनके पास न तो लोहा है और न सोना, न मंदिर है- न मदिरा, वे मांस नहीं खाते, केवल कुछ सब्जी खा कर मीठा पानी पी कर, निरंतर नग्न रहकर ईश्वर की आराधना में लीन रहते हैं, इनका एक सरदार (गुरु) होता है जिसके मार्गदर्शन में वे अपना दैनिक जीवन जीते हैं।

प्राचीन रूसी साहित्य में 'अलेक्सान्द्रिया' कथा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है जिसका स्रोत अरस्तु के भतीजे कलेस्थनीज के नाम से लिखी गयी 'सिकन्दर गाथा है' जो पहली सदी में समसामायिकों के वृतांतों के आधार पर लिखी गयी है, इस कृति में सिकन्दर के भारत विजय अभियान का विशेष प्रसंग है, जिसमें भारतीय राजा पुरू के साथ सिकन्दर का युद्ध, भारतीय ब्राह्मण तथा अन्य धर्म साधुओं से सिकन्दर की वार्ता का विस्तार पूर्वक वर्णन, इसी कथा में राह्मनों के जीवन वृतांत- जो किसी भी पाप का बोझा नहीं ढोते,

शांतिपूर्वक नग्न रहकर देवदूतों के समीप रहते हैं, उन्होंने अपनी इच्छाओं से मुक्ति पाकर प्रभु से स्वर्गसुख का आशीर्वाद पा लिया है, आदि विषयों पर गंभीर विवेचना दी गयी है।

प्रसिद्ध इतिहास विद्वान- अबुरेहान मुहम्मद अल बरूनी जिसका जन्म रूस में हुआ था, की प्रसिद्ध कृति 'किताबुल हिंद' जिसे अलहिंद के नाम से जाना जाता है, सन् १०३० में लिखी गयी इस पुस्तक में मध्यकालीन भारतीय धर्म दर्शनों के प्रश्नों पर विवाद (विचार विमर्श) किया गया, इसे इतिहासकारों ने मध्ययुग की भारतीय धर्मदर्शन, विज्ञान-साहित्य-रीतियों-प्रथाओं-अनुष्ठानों एवं रस्मों का विश्वकोश माना है।

भारतीय इतिहास वेत्ता एवं जैन इतिहास के रूसी विद्वान- ईवान मिनायेव ने अनेक बार जैन धर्म के ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्र करने के लिए भारत की यात्राएं की। यहाँ वे जैन विद्वानों से मिले तथा मठों व मंदिरों का भ्रमण किया। एक संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि पूना के दक्षिण कालेज के ग्रंथागार से एक जैन पांडुलिपि की प्रतिलिपि मांगी तो उन्हें घोर निराशा ही हाथ लगी।

रूस के सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्य विद्या संस्थान की लेनिग्राद शाखा में रूसी विद्वान ईवान मिनायेव द्वारा तिब्बत, नेपाल, भारत एवं श्रीलंका से लायीं गयी ९०४ हस्तलिखित पाण्डुलिपियां संरक्षित हैं, जिसमें वैदिक पाठ, पुराण, जैन तथा बौद्ध ग्रंथों की प्राचीन पाण्डुलिपियां सम्मिलित हैं जिनकी भाषा या लिपियाँ- संस्कृत, पाली, प्राकृत व ब्राह्मी आदि हैं, इनमें ३४० पाण्डुलिपियां जैनधर्म से संबन्धित हैं इनमें कुछ तो दुर्लभ हैं, श्रेष्ठ एवं प्रमुख महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों में 'सुभाषितावर्ण'- संस्कृत ग्रंथ जिसमें १००० से अधिक श्लोक हैं जिनका वैज्ञानिक दृष्टि से काफी महत्व है, इसमें लेखका का नाम नहीं है किन्तु किसी जैन द्वारा लिखा गया है, इसे दुर्लभ की श्रेणी में रखा गया है। नयविजय द्वारा प्रणीत चित्रसेन पद्मावती चरित्र (५३६ श्लोक), विभिन्न शारीरिक लक्षणों के अनुसार स्वभाव एवं भाग्य बताने वाली 'समुद्रिका', आचारंग, कल्पसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, शीलंक कृत आचार टीका, लक्ष्मीवल्लभ कृत-कल्पद्रुम कलिका, हरिभद्र कृत-दशवैकल्पिका वृहतवृति, दिगम्बर जैनों की संस्कृत एवं प्राकृत में

प्रार्थना तथा सामायिक पाठों का संग्रह, हेमचन्द्र की प्रसिद्ध रचना 'परिशिष्ट पर्व' और प्राकृत गाथाओं के प्रसिद्ध जैन पाठ संग्रह, प्रवसंसारोद्वार की प्रति (इस प्रति मं १६०९ गाथाएं हैं), दिगम्बर जैन धर्म सिद्धांत पर श्रीवकोटि की कृति 'आराधना', शहजकुशल की रचना 'श्रुतिविचार', एक अति महत्वपूर्ण ग्रंथ- विद्वान ब्राह्मणों को जैन धर्म में लाने के लिए- उनसे शास्त्रार्थ का निर्देश देने वाली- मुनिसुंदर की रचना 'त्रैवेद्यगोष्ठी', जैन नैतिकता पर रत्नशेखर की कृति 'आचार प्रदीप', जैन गृहस्थों के दायित्व के बारे में पूज्यपाद कृत उपासकाचार, देवेन्द्र कृत- प्रश्नोत्तरमाला, सोमसेन रचित जैन रामायण 'पद्मपुराण', कथा-संग्रह-सम्यकत्व कौमुदी कथा, एक महत्वपूर्ण कृति-भावी जिनेन्द्रों की स्तुति, अनेक पूजा विधियों, महावीर की स्तुति गाथा आदि प्राचीन पाण्डुलिपियाँ महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक नगर तेर्मेज के समीप कारातेपे में उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं में प्रथम सदी की गुफा समुच्चय, भग्न मंदिर का गर्भागृह, कलश, छत्र, कमल, चंवर के दण्ड तथा अनेक मूर्तियों के भग्नावशेष महत्वपूर्ण हैं।

इतिहासकारों ने कुषाण को जैन व ब्राह्मण धर्म के पोषक के रूप में भी स्वीकार किया है, चूंकि कुषाण को बैक्ट्रिया राज्य (रूस का उज्जबेक एवं ताजिक) उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था अतः उसके प्रभाव क्षेत्र में जिन जातियों का निवास था उसके आधार पर पूजा, आराधना गृह बनवाये गये या बन गये थे। इसी क्षेत्र में एर्ताम नामक स्थान पर उत्खनन के दौरान पहली-दूसरी सदी के मंदिर, बौद्ध बिहार व मूर्तियों के खण्ड प्राप्त हो रहे हैं जिसमें मथुरा कला का प्रभाव झलकता है। १९७९ में एर्ताम के उत्खनन में एक बड़ा मूर्ति खण्ड पाया गया है जिसके पादपीठ पर छः पंक्तियों का एक ब्राह्मी (बाख्त्रीय) अभिलेख है जिसमें २६० अक्षर पढ़े जाने योग्य हैं इसके आधार पर कुषाण की तिथि काल का पोषण होता है।

संदर्भ : १. व.व. वेर्तोगादोवा- प्राकृत भाषाएं (मास्को १९७८, हिन्दी अनु.)
२. ग.म. वोगार्द लेविन-प्राचीन भारतीय सभ्यता दर्शन, विज्ञान धर्म (मास्को १९८०)
३. न.र. गूसेवा- जैनधर्म (शोधग्रंथ-मास्को १९६८)
४. भारत विषयक ग्रंथ सूची (अंग्रेजी, मास्को १९८२)
५. ग.म. वोगार्द लेविन, अ. विगासिन-भारत की छवि (हिन्दी अनु. मास्को १९८४)

- सुमन प्रेस, जैन मदिर मार्ग, दुर्ग (छ.ग.)

पुस्तक समीक्षा

(1) आचार्य तुलसी का राष्ट्र को अवदान : प्रस्तोत्री- समणी कुसुमप्रज्ञा, प्रकाशक-जैन विश्व भारती, लाडनूँ (नागौर) राजस्थान, प्रथम संस्करण-2014, पृष्ठ-336, मूल्य : 180रुपये।

आचार्य श्री तुलसी की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनके राष्ट्रीय अवदानों को बोधगम्य करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता असंदिग्ध है। तेरापंथ के आचार्य तुलसी का भारतीय संस्कृति और अणुव्रत आन्दोलन से जुड़ाव ने इन्हें महामानव की श्रेणी में स्थापित कर दिया। प्रस्तुत पुस्तक- धर्म और राजनीति, चुनाव की अणुव्रत आचार-संहिता, देश के प्रथम प्रधानमंत्री श्री पं. नेहरू से वार्ताएँ, राष्ट्रीय समस्यायें, राष्ट्रीय एकता एवं उसकी चुनौतियाँ, राष्ट्र निर्माण में अहिंसक समाज- संरचना के आयाम आदि विषयों के माध्यम से आचार्य तुलसी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को मुखर किया गया है। लेखिका- समणी कुसुमप्रज्ञा- एक प्रतिभावान विदुषी एवं कलम की धनी हैं। पुस्तक के आध्यात्मिक सौंदर्य के साथ इसका गेटअप नयनाभिराम एवं निर्दोष छपाई से इसका भौतिक रूप भी सुन्दर है।

(२) जिनांजलि :

('भक्तामर स्तोत्र' पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करते हुए जैन दर्शन को साहित्यिक धरातल पर स्थापित करती हुई 48 कविताओं का संग्रह।) लेखक-राजेश जैन,

प्रकाशक-नेशनल पब्लिीशिंग हाउस, 2-35 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण- प्रथम 2013, पृष्ठः मूल्य : 225रुपये।

लेखक- नेशनल थर्मल पावर कार्पोरेशन के जनरल मैनेजर हैं। वैज्ञानिक होते हुए साहित्य के प्रति अटूट अभिरुचि है। प्रस्तुत पुस्तक में भक्तामर स्तोत्र का सरल हिन्दी में मुक्त काव्यानुवाद है। लेखक ने ऊर्जा की शक्ति को, इन कविताओं में समाहित किया गया है। कविता की शब्दावली में वैज्ञानिक-पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग, लेखक का अनूठा प्रयोग है। शोध पूर्ण भूमिका **''ब्रह्माण्ड ही प्रथम जिनेन्द्र हैं''** विचारणीय है। पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी है।

- **समीक्षक, पं. निहालचंद जैन** निदेशक- वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

पाठकों के पत्र.....

➢ **''अनेकान्त''** के अप्रैल-जून 2014 अंक के लिए बधाई। नया स्वरूप, भी भव्य है। सामग्री महत्त्वपूर्ण है। प्रयत्न करें कि 100 प्रतिशत शुद्ध छपे। आ. निहालचन्द जी- आप वीर सेवा मंदिर में आ गये यह संस्था तथा आप, दोनों के लिए उपयोगी है। अकादमिक गतिविधियों को बढ़ाइये।

- डॉ० गोकुलचंद जैन
(वरिष्ठ साहित्यकार), इन्दौर (म0प्र0

➢ **इ**धर कुछ वर्षों से, **''अनेकान्त''** का नियमित और समय से प्रकाशन देखकर, वीर सेवा मंदिर की गतिविधियों पर हर्षित हूँ। अनेकान्त त्रैमासिकी की, शोधात्मक-छवि रही है, जिसका पालन निष्ठापूर्वक हो रहा है। श्रद्धेय पं0 जुगलकिशोर 'मुख्तार' जी का यह शोध संस्थान उनकी कर्मभूमि रही है और उन्होंने **'अनेकान्त'** के माध्यम से जैनसमाज में ज्ञान चेतना को वृद्धिगंत किया। उनकी भावना, साकार बनी रहे, वीर सेवा मंदिर को हमारी शुभकामनायें।

प्राचार्य (पं.) नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद (उ0प्र0)

➢ **क**ई दशकों से अनेकान्त प्रकाशित हो रहा है। मुख्तार सा. ने जो स्वप्न देखा, वह मूर्त हुआ और गौरव की बात यह है कि उसकी निरंतरता आज भी उसी रूप में बनी हुई है। इसमें प्रकाशित शोधालेखों का स्तर नवीन अनुसन्धान करने वालों को अपनी और स्वत: ही आकर्षित करता है। सामाजिक, आध्यात्मिक व ऐतिहासिक आदि विविध विषयों पर मनीषियों के पठनीय शोध पत्र, इसे सर्वांगीण करते हैं। कुछ विशेषांक भी पुस्तकालयों में खोज कर पढ़े, जैन विचारधारा को अन्य दर्शनों के साथ प्रस्तुत करने का सर्वधर्म पर आधारित विशेषांक एक अच्छा प्रयास था। इस शोध पत्रिका के आधार स्तंभों को हार्दिक धन्यवाद।

-डॉ. आनन्द कुमार जैन, जैनदर्शन विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जयपुर

Year-68, Volume-2 April-June. 2015
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल Editor

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना Pt. Nihal Chand Jain- Bina
(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली) Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नोएडा Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 25/- वार्षिक - रु. 100/-

This issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Researc
h Institution for Jainology**)**
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

जिनवाणी स्तुति

(१)

सांची तो गंगा यह वीतराग वाणी

सांची तो गंगा यह वीतराग वाणी।
अविच्छिन्न धारा निज धर्म की कहानी।।
सांची तो गंगा यह वीतरागवाणी
जामें अति ही विमल अगाध ज्ञान पानी।
जहां नहीं, शंकाादि पंक की निशानी।। सांची तो..
सप्तभंग, जल तरंग, उछलत सुखदानी।
सन्तचित मरालवृन्द रमै नित्य ज्ञानी।।
सांची तो गंगा यह वीतरागवाणी
जाके अवगाहन तैं शुद्ध होय प्रानी।
'भागचन्द' निहचै घट माहिं या प्रमानी।। सांची..

- कविवर भागचन्द

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. संपादकीय-पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में श्रावक के षडावश्यक कर्म	डॉ. जयकुमार जैन	5-18
2. अपभ्रंश साहित्य में पर्यावरण संरक्षण	डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन	19-32
3. कराधान और अचौर्यव्रत	डॉ. प्रशान्त जैन	33-43
4. Jain Model of Life Span	Dr Sam. Chaitya Pragya	44-52
5. बुन्देलखण्ड की जैन मूर्तिकला	लालबहादुरसिंह सोमवंशी	53-58
6. गुटनिरपेक्षता का सिद्धांत और अनेकान्त	डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन	59-66
7. मुनिराज प्रभाचन्द्र (सम्राट-चन्द्रगुप्त मौर्य-I) की कान्तारचर्या	डॉ. राजाराम जैन	67-73
8. भगवान महावीर की प्रासंगिकता	सिद्धार्थ कुमार जैन	74-79
9. कर्मक्षय का प्रधान कारण तप	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	80-90
10. जिनवाणी माँ के अवतरण का पर्व : श्रुतपंचमी	प्रा. पं. निहालचंद जैन	91-93
11. पुस्तक समीक्षा	प्रा. पं. निहालचंद जैन एवं राजेन्द्र 'महावीर'	94-95
12. पाठकों के पत्र		96

संपादकीय

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में श्रावक के षडावश्यक कर्म

- डॉ० जयकुमार जैन

आवश्यक का अर्थ :

प्रतिदिन के अवश्यकरणीय कर्त्तव्य को आवश्यक कहा जाता है। मूलाचार में श्री बट्टकेराचार्य ने कहा है-

'ण वसो अवसो अवस्सकम्ममावासगं त्ति वोधव्वा।'[१]

अर्थात् जो राग-द्वेष आदि के वश में नहीं होता है, वह अवश है और उस अवश का कर्त्तव्य आवश्यक कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी आवश्यक को परिभाषित करते हुए लिखते हैं-

'जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति णिव्वुत्तो॥'[२]

अर्थात् जो अन्य के वश नही है, वह अवश है और अवश के कार्य को आवश्यक कहते हैं। यह आवश्यक कर्म कर्मों का विनाशन करने वाला और निर्वाण का मार्ग कहा गया है।

आचार्य वसुनन्दी ने भगवती आराधना की विजयोदया टीका में **'आवासयन्ति रत्नत्रयमति इति आवश्यका:'**[३] कहकर आवश्यकों को आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराने वाला कहा है।

श्रमणों एवं श्रावकों के पृथक्-पृथक् आवश्यकों का कथन आचारविषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सामान्य रूप से आवश्यक का अर्थ जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं से है। प्राकृतकोश 'पाइअसद्दमहण्णवो' में अवश का अर्थ अकाम, अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतन्त्र, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों की आधीनता से रहित किया गया है।[4] श्रावक अपनी भूमिका के अनुसार आवश्यकों का पालन करते हैं।

श्रावक के षडावश्यक कर्म :

श्रावक के आवश्यक कर्मों पर समय-समय पर विचार होता रहा है। कुछ ने मुनियों के षडावश्यकों को ही यथाशक्ति श्रावकों के लिए करणीय माना है तो कुछ ने मुनियों के षडावश्यकों से भिन्न श्रावक के षडावश्यक स्वीकार किये हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने मुनियों के षडावश्यकों सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग को ही अपनी पदवी एवं शक्ति के अनुसार निषेव्य कहा है।[5] आचार्य अमितगति ने भी मुनियों के षडावश्यकों को हीश्रावकों के षडावश्यक स्वीकार किये।[6]

श्री जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में श्रावक के षडावश्यक कर्मों का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि भरत राजर्षि ने

'इज्यां वार्त्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत्॥
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात्॥'[7]

अर्थात् भरत राजर्षि ने उपासकसूत्र (उपासकाध्ययन नामक सप्तम अंग) से उन व्रतियों के लिए इज्या (पूजा), वार्ता (विशुद्ध कृषि आदिक आजीविका), दत्ति (दान), स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। यह श्रावकों का कुलधर्म है - ऐसा विचार कर भरत राजर्षि ने अनुक्रम से अर्हत्पूजा आदि षट् कर्त्तव्यों का उपदेश दिया। यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में श्री सोमदेवसूरि ने वार्त्ता के स्थान पर गुरूपास्ति को रखकर शेष पाँच को यथावत् जिनसेनाचार्य की तरह ही स्वीकार कर लिया है-

'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥'[8]

चामुण्डराय ने चारित्रसार में 'गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति'[9] कहकर श्री जिनसेनाचार्य के समान ही षट्कर्मों को स्वीकार किया है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में श्री सोमदेवसूरि के ही पद्य को यथावत् रखते हुए गृहस्थ के दैनिक षट् कर्म माने हैं।[10]

सागारधर्मामृत में श्री पं. आशाधर जी पूर्वाचार्यो द्वारा मान्य वार्ता अथवा गुरूपास्ति में से किसी एक का उल्लेख न करके मात्र पाँच कर्मों का श्रावकों के लिए उल्लेख करते हैं -

'नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहा कल्पद्रुमेन्द्रध्वजा
विज्या पात्रसमक्रियान्वयदया-दत्तीस्तपः संयमान्।
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावाणिज्यादिकः
शुद्धयाप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत्।।[११]

अर्थात् नित्यमह, अष्टाह्निकमह, सच्चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह और इन्द्रध्वजमह इस प्रकार पाँच प्रकार का पूजन; पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, दयादत्ति और अन्वयदत्ति इस प्रकार चार प्रकर का दान; तप; संयम और स्वाध्याय ये श्रावक के कर्तव्य हैं। परन्तु इन पाँचों ही कर्मों का पालन आजीविका के उपायभूत कषि, सेवा, वाणिज्य आदि के बिना हो नहीं सकती है और कृषि आदि करने में पाप से बचाव नहीं हो सकता है। अतः गृहस्थ को जिनकथित प्रायश्चित से या पक्ष, चर्या आदि धर्मस्थानों से पापों को दूर करना चाहिए।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार में पं. मेधावी ने श्री जिनसेनाचार्य का अनुकरण किया है।[12] कुन्दकुन्दश्रावकाचार में दया, दान, इन्द्रियदम, देवपूजा, गुरुभक्ति, क्षमा, सत्य, शौच, तप एवं अस्तेय इन दस को गृहस्थ धर्म कहा गया है।[13]

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में उद्दिष्ट क्रमानुसार श्रावक के षडावश्यक कर्मों का विवेचन इस प्रकार है -

१. देवपूजा -

यद्यपि श्री समन्तभद्राचार्य ने श्रावक के षडावश्यकों का रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कथन नहीं किया है, तथापि उन्होंने चतुर्थ शिक्षाव्रत वैयावृत्त्य के अन्तर्गत जिनपूजन करने का विधान किया है। वे लिखते हैं-

'देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्।।'[१४]

अर्थात् आदरपूर्वक नित्य सर्व कामनाओं के पूर्ण करने वाले और काम विकार के जलाने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवान् की सर्वदुःखों की विनाशक परिचर्या (पूजा) करना चाहिए।

स्वामी कार्तिकेय ने प्रोषधोपवास के अग्रिम दिवस, श्री जिनसेनाचार्य ने ब्राह्मण सृष्टि के बाद तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रभावना अंग के अंतर्गत जिनपूजा का उल्लेख किया है[15], किन्तु कोई पूजन-विधि नही बतलायी है। श्री सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में पूजन के भेद तथा उसकी विधि का विस्तृत वर्णन सामायिक शिक्षाव्रत के अंतर्गत किया है। उनके अनुसार जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश समय कहलाता है एवं पूजक के निर्दिष्ट कार्य सामायिक कहलाते हैं। उन्होंने देवपूजा के दो रूप बतलाये हैं- तदाकार और अतदाकार। पुष्पादि में जिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजन करना अतदाकार पूजा तथा जिनबिम्ब की पूजा तदाकार पूजा है। वे स्पष्टतया घोषित करते हैं कि अन्यमती प्रतिमाओं में जिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजा नहीं करना चाहिए।[16] चारित्रसार में भी चामुण्डराय ने प्रायः सोमदेवसूरि का ही अनुसरण किया है।[17]

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्य ने जिनदर्शन, जिनपूजा एवं जिनस्तुति को श्रावक के लिए अनिवार्य प्रतिपादित करते हुए लिखा है -

'प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥[१८]

अर्थात् जो भव्य जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा-स्तुति करते हैं; वे भव्य जीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा-स्तुति करता है। जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा-स्तुति ही करते हैं, उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है।

पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों एवं पण्डितों ने श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में देवपूजा का माहात्म्य स्वीकारते हुए स्वस्वानुकूल पद्धति से पूजा करने का विधान किया है। इन सब पर श्री सोमदेवसूरि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सर्वप्रथम पूजन का व्यवस्थित वर्णन श्री सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलकचम्पू में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि उनके पहले श्री जिनसेनाचार्य

आदिपुराण में इज्या (पूजा) के भेदों का विस्तृत निरूपण कर चुके थे, तथापि वह व्यवस्थित पद्धति-प्ररूपणा नहीं थी।

२. गुरूपास्ति -

आदिपुराण के रचयिता श्री जिनसेनाचार्य और चारित्रसारकार श्री चामुण्डराय ने श्रावक के षडावश्यक कर्मों में गुरूपास्ति के स्थान पर वार्ता को स्थान दिया है, किन्तु अन्य सभी ने प्रायः गुरूपास्ति को श्रावक का अनिवार्य कृत्य प्रतिपादित किया है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में गुरु की उपास्ति (उपासना) का माहात्म्य सर्वस्वीकृत है। श्री समन्तभद्राचार्य गुरु का स्वरूप एक तपस्वी के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहते हैं -

'विषयाशावशातीतो निराम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥'[१९]

अर्थात् जो पञ्चेन्द्रियों की आशा के वश से रहित हो, खेती-पशुपालन आदि के आरम्भ से रहित हो, धन-धान्यादि परिग्रह से रहित हो, ज्ञानाभ्यास ध्यान-समाधि और तपश्चरण में निरत हो, ऐसा तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशंसनीय है।

गुरु की उपास्ति का वर्णन करते हुए श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए, भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करना चाहिए और धर्म का श्रवण करना चाहिए। इसके पश्चात् ही बुद्धिमान लोगों के द्वारा अन्य गृहकार्य किये जाने चाहिए। पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ है।

गुरुपास्ति के महत्त्व की विवेचना करते हुए वे स्पष्टतया कहते हैं-

'गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्॥
ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे॥'

अर्थात् ज्ञान रूपी नेत्र निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से प्राप्त होता है, जिससे समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जो लोग गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी उपासना नहीं करते हैं, उनके लिए तो सूर्य का उदय हो जाने पर भी अन्धकार ही है।

सागारधर्मामृत में पण्डितप्रवर आशाधर जी स्पष्ट लिखते हैं कि प्रमाद रहित होकर मोक्ष के इच्छुक व्यक्तिओं के द्वारा गुरुजनों की सदा ही उपासना की जाना चाहिए। उन गुरुओं की आधीनता से सम्पूर्ण विघ्न उसी प्रकार दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार गरुड पक्षी के पंखों को ओढ़कर चलने वाले लोगों के पास सर्प नहीं आ सकते हैं।[21]

आचार्य श्री सकलकीर्ति द्वारा प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में अत्यन्त विस्तृत वर्णन गुरु-उपासना-विषयक किया गया है। वे लिखते हैं -

'देशका ये तरन्ति स्वयं संसारे दुःखसागरे।
तारयन्ति समर्थास्ते परेषां भव्यदेहिनाम्॥
गुरुन् संगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमाः।
नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति ते॥[२२]

अर्थात् जो अनेक दुःखों से भरे हुए इस संसार-सागर से स्वयं तरते हैं और समर्थ वे अन्य भव्य जीवों को पार करा देते हैं, ऐसे परिग्रहरहित गुरुओं की जो श्रेष्ठ बुद्धिमान् लोग सेवा करते हैं, वे स्वर्ग, राज्य आदि को पाकर अन्त में मोक्ष के स्वामी बन जाते हैं।

कुगुरुओं की उपासना का निषेध करते हुए वे कहते हैं -

'वरं सर्पारिचौराणां संगं स्यान्न परैः समम्।
मिथ्यात्वपथसंलग्नैरनन्तभवदुःखदम्॥'[२३]

अर्थात् सर्प, शत्रु और चौर आदि का समागम करना अच्छा है, परन्तु मिथ्यात्व मार्ग में लगे हुए इन कुगुरुओं का समागम अच्छा नहीं है। क्योंकि ये अनन्त भवों तक दुःखदायी बनते हैं।

इसी प्रकार धर्मापदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार, लाटीसंहिता आदि में गुरु-उपासना के प्रसंग में गुरु का स्वरूप एवं माहात्म्य उपर्युक्त रीति से प्रतिपादित किया गया है। उमास्वामिश्रावकाचार में कहा गया है कि श्रावकों को मनोवांछित कार्य की सिद्धि के लिए इस लोक में संशय रूप अन्धकार के नाश के लिए और परलोक में सुख पाने के लिए गुरुओं की सेवा करना चाहिए। गुणों से संयुक्त गुरुओं की मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से महान् विनय करना चाहिए।[24]

३. स्वाध्याय -

स्वाध्याय की गणना यद्यपि अन्तरंग तपों में की गई है, तथापि श्रावक के षडावश्यक कर्मों में तप के समाविष्ट होने पर भी स्वाध्याय का पृथक् समावेश स्वाध्याय की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य का **'ण हि सज्झायसमो तवो'** कथन इसी भाव की सार्थक अभिव्यक्ति है। जैन वाङ्मय में वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा एवं धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पांच भेद कहे हैं। वस्तुतः इन्हें स्वाध्याय के पांच अंग कहा जाना चाहिए। अपने स्वरूप का विचार होने से इसे स्वाध्याय कहा जाता है।

अमितगतिश्रावकाचार में पञ्चविध स्वाध्याय को मुक्ति चाहने वाले पुरुषों को आवश्यक कहा गया है -

'वाचनापृच्छनाम्नायनुप्रेक्षा धर्मदेशना।
स्वाध्यायः पञ्चधा कृत्यः पञ्चमीं गतिमिच्छता॥'[२५]

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में स्वाध्याय की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है -

'ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचसुषीऽपीह सम्भाव्यन्ते मनीषिभिः॥
मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारितम्॥'[२६]

अर्थात् जो मनुष्य उत्तम गुरुओं से प्रकट किये गये सच्चे शास्त्रों को नहीं पढ़ते हैं, उन मनुष्यों को विद्वान् पुरुष नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं। जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है और न ही हृदय में धारण किया है, उनके कान एवं मन नहीं है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने सागारधर्मामृत में स्वाध्याय के लिए स्वाध्यायशाला का भी महत्व वर्णित किया है। उनका कहना है कि शिष्यों की तरह गुरुओं की बुद्धि भी स्वाध्यायशाला के बिना ऊहापोह रहित होती हुई परिचित भी शास्त्र के विषय में या मोक्षमार्ग में अन्धे के समान आचरण करती है।[27] अतः स्थान-स्थान पर स्वाध्यायशालाओं की स्थापना करना चाहिए।

पण्डित मेधावी द्वारा विरचित धर्मसंग्रहश्रावकाचार में स्वाध्याय को अज्ञान का नाश करने वाला, उत्कृष्ट तप, ज्ञान एवं वैराग्यवर्धक, चित्त को

वश में करने वाला, कर्मों का नाशक होने से परम्परया मोक्ष का कारण कहा गया है। वे कहते हैं कि पूर्वकाल में जितने सिद्ध हुए हैं, आगामी होंगे तथा वर्तमान में होने योग्य हैं, वे सब नियम से स्वाध्याय से ही हुए हैं तथा होने वाले हैं। अतः संसार का नाश करने वाला यही स्वाध्याय मोक्ष का कारण है। भव्यात्माओं को एकान्त स्थान में बैठकर मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिए।[28]

कुन्दकुन्दश्रावकाचार में कहा गया है कि चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी के दिन तथा सूतक के समय और चन्द्र-सूर्य के ग्रहण के काल में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।[29]

४. संयम -

आत्मनियन्त्रण का नाम संयम है। अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पांच समितियों को पालना, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय रूप दण्डत्रय का त्याग और पञ्चेन्द्रियों के विजय को संयम कहा गया है। धवला में कहा गया है -

'संयमनं संयमः। अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपाललननिग्रहत्यागजयाः संयमः।'[३०]

मुक्ति का साक्षात् कारण होने से षडावश्यकों में संयम का विशेष महत्व है। यशस्तिलकचम्पू में श्री सोमदेवसूरि ने संयम की परिभाषा करते हुए उक्त अभिप्राय को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है -

'कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम्।
संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम्।।'[३१]

चारित्रसार में चामुण्डराय ने 'संयमः पञ्चाणुव्रतवर्तनम्'[32] कहकर पांच अणुव्रतों के पालन को संयम कहा है। आचार्य पद्मनन्दि ने संयम नामक आवश्यक का कथन करते हुए लिखा है -

'देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम्।।
त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः।।

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते।।'[३३]

अर्थात् धर्मात्मा श्रावकों को एकदेश व्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए, जिससे उसका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे। श्रावकों को मद्य, मांस, मधु तथा पांच उदुम्बर फलों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थों के बारह व्रत हैं।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि पद्मनन्दिपंचविंशतिका में आठ मूलगुणों एवं बारह व्रतों का संयम में समावेश किया गया है।

उमास्वामिश्रावकाचार तथा वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह में प्राणियों की मन-वचन-काय से रक्षा करने को प्राणिसंयम तथा इन्द्रियों को विषय से रोकने को इन्द्रिय संयम कहते हुए संयम को दो प्रकार का स्वीकार किया गया है।[34]

५. तप -

सभी जैनाचार्य इस विषय में एकमत हैं कि मुनियों के समान एकदेश रूप में श्रावकों को भी तप अवश्यकरणीय है। इसी कारण तप को श्रावक के षडावश्यकों में स्थान दिया गया है। तप की महिमा के विषय में भगवती आराधना में कहा गया है -

'तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स।
अग्गीव तवं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी।।'[३५]

अर्थात् संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि तृण को जलाती है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि कर्मों रूपी तृण को जलाती है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में यथाशक्ति तप करने का उपदेश देते हुए उसे मोक्ष का कारण कहा है। वे लिखते हैं -

'चारित्रान्तर्भावात्तपोऽपि मोक्षांगमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।'[३६]

अर्थात् चारित्र में अन्तर्भाव होने से तप को भी आगम में मोक्ष का कारण कहा गया है, इसलिए अपने सामर्थ्य को नहीं छिपाकर श्रावकों को तप का भी सेवन करना चाहिए।

वे आगे लिखते हैं कि वह तप दो प्रकार का है – बाह्य और अन्तरंग। बाह्य तप छः प्रकार का है – अनशन, अवमौदर्य, विविक्तशय्यासन, रसत्याग, कायक्लेश और वृत्तिसंख्यान।[37] अन्तरंग तप भी छः प्रकार का है– विनय, वैयावृत्त्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान। प्रायः अन्य सभी श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में भी तप को यथाशक्ति करणीय मानते हुए उसके बारह भेदों का ही विवेचन किया गया है।[38]

कुन्दकुन्दश्रावकाचार में लोकपूजार्थ किये गये तप की निष्फलता का विवेचन करते हुए कहा गया है–

'पूजालाभप्रसिद्ध्यर्थं तपस्तप्येत योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम्॥'[३९]

अर्थात् जो अल्पबुद्धि पुरुष लोकपूजा, अर्थलाभ और अपनी प्रसिद्धि के लिए तप तपता है, वह अपने शरीर का ही शोषण करता है। उसे तप का यथार्थ फल नहीं मिलता है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में कहा गया है कि पर्व के दिनों में यथाशक्ति अनशन आदि तप तपना चाहिए– 'पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः।'[40] इस प्रसंग में आचार्य पद्मनन्दि ने जनगालन, रात्रिभोजनत्याग, व्रतखण्डक देश, पुरुष, धन एवं कार्य के आश्रय न लेने का विधान तथा चतुर्विध विनय के पालन का भी उपदेश दिया है।[41] अन्य तपों के विषय में पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

६. दान –

श्रावक का छठा आवश्यक कर्म दान है। आचार्यों ने गृहस्थों को प्रतिदिन आरंभजनित पापों के प्रक्षालन के लिए दान देने का विधान किया है। श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के अन्तर्गत चतुर्विध– आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान का विधान तो किया ही गया है, किन्तु उसके विशेष महत्त्व के प्रतिपादन के लिए दान को गृहस्थ के लिए अनिवार्य आवश्यक कृत्य घोषित किया गया है। जिन्होंने षडावश्यकों का प्रतिपादन नहीं किया है, उन्होंने भी देवपूजा के साथ दान का कथन किया है।

आदिपुराण में श्री जिनसेनाचार्य ने दान को श्रावकों के लिए आवश्यक मानते हुए दान के दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार भेद किये हैं। दयायोग्य दीन प्राणियों पर मन-वचन-काय की निर्मलता के साथ अनुकंपापूर्वक डर को दूर करना दयादत्ति है। साधुओं को नवधा भक्तिपूर्वक आहार, औषध आदि प्रदान करना पात्रदत्ति कहलाता है। साधर्मी बन्धुओं के लिए श्रद्धापूर्वक भूमि सुवर्ण आदि देने को समदत्ति कहा जाता है तथा अपने वंश की स्थिरता के लिए पुत्र को कुलधर्म एवं धन के साथ कुटुम्बरक्षा का भार सौंपना अन्वयदत्ति है।[42] इसका सकलदत्ति नाम से भी उल्लेख मिलता है।

आगम में दान देते समय पात्र, कुपात्र एवं अपात्र के प्रति सावधानी वर्तने का आदेश है। साधु उत्तम पात्र, व्रती श्रावक मध्यम पात्र तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है। पञ्च पापों का सेवन करने वाला अपात्र है तथा मन्दकषायी गृहस्थ कुपात्र है। इनमें अपात्र को तो दान देना ही नहीं चाहिए। सागारधर्मामृत में पं. आशाधर जी ने लिखा है कि पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और काल का उल्लंघन नहीं करके यथाशक्ति दान देना चाहिए।[43] अन्य सभी श्रावकाचारों में भी दान का वर्णन किया गया है।

श्रावकाचारसारोद्धार में आय के चार भाग करके प्रथम दो भाग भरण-पोषण में, तीसरा भाग भविष्य के लिए संचयार्थ तथा चौथा भाग धर्मार्थ व्यय करने वाले को उत्तम दाता माना गया है। छठा भाग दान देने वाले को मध्यम दाता तथा दसवाँ भाग दान देने वाले को जघन्य दाता कहा गया है।[44]

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में यतीश्वरों को चतुर्विध दान का कथन करते हुए कहा गया है कि धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों में शक्ति के अनुसार दान अवश्य देना चाहिए। क्योंकि बिना दान के गृहस्थों की गृहस्थता निष्फल है। जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषध, अभय तथा शास्त्र चतुर्विध दान को नहीं देते हैं, उनके लिए घर जाल हैं तथा उनके बन्धन के लिए बनाये गये हैं। जिस गृहस्थ के द्वारा अभय, आहार, औषध एवं शास्त्र के दान करने पर ऋषियों को सुख होता है, वह गृहस्थ प्रशंसनीय क्यों नहीं होगा ? समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतियों को दान नहीं

देता है, वह मूढ पुरुष आगामी सुख का स्वयं नाश करता है। जो गृहस्थाश्रम दान से रहित है, वह पत्थर की नाव के समान है तथा उस पर बैठने वाला मनुष्य नियम से संसार रूपी समुद्र में डूबता है।[46]

आगे उन्होंने दयादान का वर्णन करते हुए साधर्मियों के प्रति प्रीति एवं जीवों के प्रति दया के अभाव में धर्म न रहने की बात कही है। दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़, सर्वसम्पदाओं का धाम तथा गुणों की निधि है। जिस प्रकार हार में फूल सूत्राश्रित होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य में गुण दयाश्रित रहते हैं। व्रतियों को चाहिए कि वे समस्त प्राणियों पर दया अवश्य करें। परपीडन से पाप की उत्पत्ति होती है।[47]

उपर्युक्त श्रावक के षडावश्यक कर्मों के विवेचन से हम अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में

1. आचार्य पद्मनन्दि ने यशस्तिलकचम्पूकार श्री सोमदेवसूरि द्वारा वर्णित षडावश्यकों को यथावत् स्वीकार कर लिया है।
2. उन्होंने देवपूजा के स्थान पर देवदर्शन एवं देवस्तवन को भी स्वीकार किया है।
3. गुरुओं का सम्मान न करने वालों को वे अज्ञान रूपी अंधकार से आच्छन्न मानते हैं।
4. उनके अनुसार स्वाध्याय गुरुओं के पास रहकर सद्गुरुओं से सच्छात्रों का ही किया जाना चाहिए।
5. संयम में अष्टमूलगुणों का पालन तथा बारह व्रतों का धारण अनिवार्य है।
6. कम से कम अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में यथायोग्य उपवास आदि तप तपना श्रावक का कर्तव्य है।
7. गृहस्थों को यथाशक्ति पात्रों को चतुर्विध दान अवश्य देना चाहिए तथा साधर्मीजनों के प्रति प्रीति और दया योग्य जनों के प्रति दया अवश्य रखना चाहिए।

वर्तमान युग में इन आवश्यकों का यदि युगानुकूल न्यूनतम लक्ष्य निर्धारित किया जाये तो विश्व हिंसा की विभीषिका से बच सकता है।

संदर्भ :

1. मूलाचार, 7.11
2. नियमसार, 141
3. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, 116
4. पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. 83
5. जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
   सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदापि।।
   इत्यावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
   प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।। - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 1/200-201
6. सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रिया।
   प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढाऽऽवश्यकमीरितम्।। -अमितगतिश्रावकार, 8/29
7. आदिपुराण, 38/24-25
8. यशस्तिलकचम्पू, षष्ठ आश्वास, श्लोक संख्या 879
9. चारित्रसार, शीलसप्तकवर्णनम्, श्लोक 21 के बाद गद्य भाग
10. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 403, उपासक संस्कार अधिकार पद्य-7
11. सागारधर्मामृत 1/18
12. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/26
13. कुन्दकुन्दश्रावकाचार, तृतीयोल्लास, 5
14. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 119
15. कार्तिक्येानुप्रेक्षा-75, आदिपुराण 28/26, पुरुषार्थसिद्धयुपाय-125
16. द्रष्टव्य- यशस्तिलकचम्पू, अष्टम आश्वास
17. चारित्रसार, शीलसप्तकवर्णन, श्लोक 21 के बाद का द्वितीय अनुच्छेद
18. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 410-411, उपासकसंस्काराधिकार 14-15
19. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 10
20. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 412-413, उपासकसंस्काराधिकार 16-17
21. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 414-415, उपासकसंस्काराधिकार 18-19
22. सागारधर्मामृत, 46-47
23. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 3/143-144
24. वही, 3/153
25. 'गुरुसेवा विधातव्या मनोवाञ्छितसिद्धये। संशयध्वान्तनाशार्थमिहामुत्र सुखाय च।। .....
   गुरुं बिना नकोऽप्यस्ति भव्यानां भवतारकः।मोक्षमार्गप्रणेता च सेव्योऽन्तःश्रीगुरुः सताम्।।
   गुरुणां गुणयुक्तानां विधेयो विनयो महान्। मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः।।' -
   - उमास्वामिश्रावकाचार, श्लोक 183, 193-194
26. अमितगतिश्रावकाचार, 13/81
27. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 461-417, उपासकसंस्काराधिकार 20-21

28. सागारधर्मामृत, 2/39
29. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/211-215
30. 'चतुर्दशीकुहूराकाऽष्टमीषु न पठेन्नरः।
सूतकेऽपि तथा राहुग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।।' - कुन्दकुन्दश्रावकाचार, 8/123
31. धवला पुस्तक 1 खण्ड 1 भाग 1 सूत्र 4 पृष्ठ 144
32. यशस्तिलकचम्पू, 8/892
33. चारित्रसार, श्लोक 21 के बाद तृतीय अनुच्छेद
34. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका,, 418-420, उपासकसंस्काराधिकार 22-24
35. उमास्वामिश्रावकाचार, 201 तथा संस्कृत भावसंग्रह 160
36. भगवती आराधना, 1472
37. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 197
38. वही, 198-199
39. द्रष्टव्य- यशस्तिलकचम्पू 8/890, चारित्रसारर 21 के बाद धर्मसंग्रहश्रावकाचार 6/165 लाटी संहिता 6/76-88, उमास्वामिश्रावकाचार 219-23, कुन्दकुन्दश्रावकाचार 10/25-26
40. कुन्दकुन्दश्रावकचार, 10/28
41. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका 421, उपासकसंस्काराधिकार 25
42. वही, 422-426, उपासकसंस्कारधिकार 26-30
43. आदिपुराण, 38/31-40
44. सागारधर्मामृत, 2/48
45. श्रावकाचारसारोद्धार, 3/326-334
46. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका,, 427-431, उपासकसंस्काराधिकार 31-35
47. वही, 432-435 (36-41)

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज,
मुजफ्फरनगर (उ0प्र0)

अपभ्रंश साहित्य में पर्यावरण-संरक्षण

- कर्मयोगी डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

'पर्यावरण' शब्द परि+आवरण, इन दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ है- चारों ओर का घेरा। मनुष्य को यदि केन्द्र मान लें तो उसके चारों ओर जितना भी दृश्यमान जगत् है वह सब पर्यावरण है जिसका परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से हम उपभोग करते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में पर्यावरण को लोक के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है। महर्षि वेद व्यास ने लोक को प्रत्यक्ष रूप में देखने वाले को सर्वदर्शी माना- ''प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।'' इस लोक में सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्, मनुष्य, पशु-पक्षी एवं अन्यान्य जड़-चेतन रूप सभी पदार्थ आ जाते हैं।

पर्यावरण के लिए आंग्ल भाषा में "ENVIRONMENT" शब्द प्रयोग होता है जो फ्रेंच शब्द "ENVIRON" से बना है जिसका अर्थ है आसपास का वातावरण। ऑक्सफोर्ड स्टेन्डर्ड डिक्शनरी के अनुसार-''पर्यावरण ("ENVIRONMENT) का अर्थ आसपास की वस्तुस्थिति, परिस्थितियाँ या प्रभाव है।[1] चेम्बर ट्वेन्थ सेन्चुरी डिक्शनरी के अनुसार- ''पर्यावरण से तात्पर्य विकास या वृद्धि को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ हैं।''[2] अर्थात् आसपास की यथास्थिति ही पर्यावरण नहीं है, अपितु परिस्थितिजन्य कारक भी पर्यावरण है जो विकास को प्रभावित करते हैं।

हमारा पर्यावरण जगत् प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न है जिन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं -

(१) अव्ययी प्राकृतिक संसाधन- वायुमण्डल, जल, चट्टानों, सौर ऊर्जा का सकल परिमाण जो सृष्टि में विद्यमान है; ये अव्ययी प्राकृतिक संसाधन हैं।

(२) व्ययी प्राकृतिक संसाधन- इन्हें गतिक या पुनर्नव्य प्राकृतिक संसाधन भी कहते हैं। इसके अंतर्गत उपयोग योग्य जल, वनस्पतियाँ, जन्तु, मानव जनसंख्या, खनिज पोषक द्रव्य, ऑक्सीजन, कार्बनडायआक्साइड, उर्वर मृदा आदि आते हैं।

(३) संचित प्राकृतिक संसाधन- इन्हें व्ययशील या अपुनर्नव्य संसाधन कहते हैं। इनके अन्तर्गत ठोस मृदा, पर्वत, चट्टान आदि, जीव प्रजातियाँ, प्राकृतिक भूखण्ड, भूगर्भीय जल, कोयला, प्राकृतिक गैसें, पेट्रोलियम पदार्थ, सोना, चाँदी हीरा आदि खनिज आते हैं।

उक्त प्राकृतिक संसाधन मात्र साधन ही नहीं अपितु हमारी समृद्धि के भी प्रतीक हैं; जिनसे हमारा पर्यावरण चेतना प्राप्त करता है।

आज पर्यावरण के लिए परिस्थितिकी को प्रथम स्थान पर रखा जाने लगा है। अंग्रेजी शब्द ECOLOGY का हिन्दी रूपान्तर परिस्थितिकी है। इकालॉजी शब्द ग्रीक मूल ओइकास (OIKOS) अर्थात् घर एवं लॉजी (LOGY) अर्थात् अध्ययन से बना है। अस्तु इकालॉजी का शाब्दिक अर्थ 'घरों का अध्ययन' अथवा अधिक विस्तृत भाव में निवास स्थान (पर्यावरण) का अध्ययन करना है। इसे 'पर्यावरण जीवविज्ञान' भी कहा जाता है। इकालॉजी के हिन्दी पर्याय परिस्थितिकी की व्युत्पत्ति संस्कृत के मूल परि उपसर्ग सहित स्था धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बने शब्द स्थिति से हुई है, जिसका अर्थ चारों ओर विद्यमान उन दशाओं से है जो प्रभाव डालती है एवं स्वयं भी प्रभावित होती है। किसी 'जीव' की 'परिस्थिति' का अध्ययन ही पारिस्थितिकी है।''[3]

पारिस्थितिकी के अन्तर्गत निम्नलिखित क्षेत्र प्रमुखतः अध्ययन की परिधि में आते हैं-

1. पुरा पारिस्थितिकी (Poleo Ecology)
2. जलाशय पारिस्थितिकी (Limnology)
3. सागर चित्रण (Oceanogrophy)
4. तेजोविर पारिस्थितिकी (Radio Ecology)
5. जीव भूगोलविज्ञान (Biogeogrophy)

6. कृषि पारिस्थितिकी (Agriculture Ecology)
7. वानिकी (Forestry)
8. मत्स्यपालन जीवविज्ञान (Fishery Biology)
9. वन्य जीव प्रबंध (Wild life Management)
10. अंतरिक्ष पारिस्थितिकी (Space Ecology)
11. मानुष पारिस्थितिकी (Human Ecology)

आज पर्यावरण को व्यापक आधार देते हुए पाँच बातों पर ध्यान केन्द्रित किये जाने की आवश्यकता है; यथा-

1. Ecology =पारिस्थितिकी 2. Economics =अर्थशास्त्र
3. Energy =ऊर्जा 4. Employment =रोजगार
5. Equity =समानता

उक्त पाँच बातों के समन्वय से ही पर्यावरण को सुरक्षित बनाया जा सकता है। हमारे आसपास जो दिखाई देता है वह वायु, जल, मिट्टी (पृथ्वी), आकाश, मनुष्य, पेड़-पौधे, समुद्रीजीव-जन्तु, पक्षी सभी पर्यावरण के अंग हैं। एक का अभाव दूसरे के जीवन को असुरक्षित कर देगा। यह मात्र कल्पना नहीं अपितु यथार्थ है।

डगलस व हॉलेंड के अनुसार- ''पर्यावरण या वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियों, प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है, जो जीवधारी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार और अभिवृद्धि, विकास तथा प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।'' अतः जो कुछ भी हमारे चारों ओर विद्यमान है और जो हमारे रहन-सहन की दशाओं तथा मानसिक क्षमताओं को प्रभावित करता है; वही पर्यावरण कहलाता है।[4]

सुप्रसिद्ध पर्यावरणविद् के अनुसार- पर्यावरण विश्व का समग्र दृष्टिकोण है। सामाजिक, आर्थिक तंत्रों, जैविक/अजैविक रूपों के व्यवहार, आचारपद्धति तथा स्थान की गुणवत्ता; वे गुणों के आधार पर एक-दूसरे से अलग होते हैं; ये सभी पर्यावरण के साथ कार्य करते हैं।''

पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986 की धारा 2 (क) से पर्यावरण की परिभाषा इस प्रकार है- पर्यावरण में मानवीय प्राणी, अन्य जीव-जन्तु, पौधे, सूक्ष्म जीवाणु तथा सम्पत्ति में और उनके मध्य विद्यमान

अन्तर्सम्बन्ध सम्मिलित है।'' भारतीय संविधान के ही सेक्शन 48 ए में लिखा है कि- *"Protection and improvement of environment and safeguarding of forests and wildlife"*अर्थात् पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्द्धन तथा वन एवं वन्य पशु का संरक्षण। इस तरह सेक्शन 49ए (जी) में लिखा है कि- *"It shall be the duty of every citizen of India to protect and improve the natural environment, including forests, lakes rivers and wildlife and to have compassion for living creatures."*

वास्तव में पशु-पक्षी तो अपना काम स्वभावतः करते ही हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके जिम्मे संरक्षण का कार्य है। वह अपने कर्तव्य से विमुख हो जाये तो घातक भी बन सकता है। विवेक, बुद्धि एवं पुरुषार्थ सम्पन्नता मनुष्य से अपेक्षाओं को बढ़ाती है। मनुष्य के चारों ओर की सृष्टि-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को पर्यावरण के नाम से अभिहित किया जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु चाहे वह थल के हों, नभ के हों या जल के हों; सभी का अस्तित्व पर्यावरण के सन्तुलन पर निर्भर करता है। जीव रक्षा के लिए पृथ्वी ठहराने का कार्य करती है, जल जीवन देने का कार्य करता है, अग्नि ऊष्मा प्रदान करती है, आकाश अवकाश (स्थान) देता है और वायु प्राणशक्ति प्रदान करती है। जीव-जगत् को वृक्षों से भोजन का उपहार मिलता है। यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जायें तो मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं बल्कि सृष्टि का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। अतः पर्यावरण की रक्षा करना विवेकशील मानव का प्रथम कर्त्तव्य है।

मानव विवेकशीलता की पहचान उसके सोच एवं कार्य से होती है। सम्पूर्ण प्राणियों और प्रकृति में जिजीविषा और आत्मा को मानने वाला जीव न तो किसी प्राणी को मारेगा, न किसी पेड़ पौधे को नष्ट करेगा। वह तो प्रकृति के साथ-साथ प्राणी मात्र के हितों का संवर्धन करेगा। प्रकृति हमें जीवन देती है। उसका दैहिक शोषण उचित नहीं कहा जा सकता। जबकि यह नीति स्वयं प्रसिद्ध है कि नदियाँ स्वयं अपना जल

नहीं पीतीं, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते, गायें अपना दूध नहीं पीतीं बल्कि ये सब परोपकार के लिए ही जीते हैं। कहा भी है-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः, परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

मनुष्य का संयमित जीवन पर्यावरण का हितकारक है। जैनाचार्यों का स्पष्ट मत है कि सभी प्राणी, सभी जीव तथा सभी तत्त्व मारने या हनन करने योग्य नहीं है। मन, वचन और कर्म में से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न होना; ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है-

सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे सत्ता वा हंतव्या.....।
तेसिं ह अच्छण जो एवं, णिच्चं होयव्वणं सिया॥
मणसा कायवक्केण एवं हवइ संजम॥

प्रकृति मानव की चिरसंगिनी है। मनुष्य का प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध रहता है। प्रकृति की गोद में ही वह पला बढ़ा है। नदी, प्रपात, वृक्ष, लता, कुंज, उपवन उसे आकर्षित करते रहे हैं। वनस्पतियों ने उसकी भूख मिटायी है तो नदियों के जल ने प्यास। आकाश ने उसे आधार दिया है तो वायु प्राणवायु बनकर उसे नव जीवन प्रदान करती रही है। पृथ्वी उसे 'अर्थ' से जोड़े हुए है।

प्रकृति से छेड़छाड़, रासायनिक बहिस्राव, परमाणविक कचरा, तेजाबी वर्षा और वायुमण्डल में लगातार बढ़ रही कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा के कारण मानव के लिए पारिस्थितिक संकट उत्पन्न हो गया है। परिभाषा के अनुसार पारिस्थितिकी वह अध्ययन है जो विभिन्न जीवों के सम्बन्ध में उनके अपने-अपने पर्यावरण के विषय में किया जाता है। इसके अंतर्गत सम्पूर्ण जैव जगत् यानी कवक सहित पौधे, सूक्ष्म जीव सहित जानवर और मनुष्य तक आ जाता है। फिर स्वयं पर्यावरण भी है जिसमें जैवमण्डल में विद्यमान चेतन जीव ही नहीं बल्कि प्रकृति में क्रियाशील सचेतन शक्तियाँ भी हैं।

आज वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण, स्थलीय प्रदूषण,

रेडियोधर्मी प्रदूषण, जैविक प्रदूषण से व्यक्ति परेशान है। इसके प्रमुख कारण हैं- वाहित मल, घरेलु अपमार्जक, कीटाणुनाशक पदार्थ, अपतृणनाशी पदार्थ, धुआँ, स्वतः चल निर्वातक (Automobile Exhaust), औद्योगिक उच्छिष्ट, कूड़े करकट तथा लाशों का सड़ना, रेडियोधर्मी पदार्थ, परमाणु कचरा। इनसे बचाव का मार्ग हमें खोजना होगा। आज हो रहे हृदय, श्वास संबंधी रोग, टी.बी. एड्स, कुष्टरोग, चर्मरागादि के कारण यही प्रदूषण है। हमारे आचार्यों, कवियों ने नीरोग शरीर और निरोग आत्मा का दर्शन दुनियाँ को दिया।

अपभ्रंश साहित्य की परम्परा प्रकृति से जुड़ी है। हम प्रकृतिजीवी हैं, प्रकृति प्रेमी है और प्रकृति की ओर वापिस चलो की नीति पर चलने वाले हैं। हम राजनैतिक अर्थों में नहीं किन्तु प्राकृतिक अर्थ 'Back to Nature' के पक्षधर हैं। इसी का प्रमुख सूत्र हमारे आचार्य श्रीमद् योगीन्दुदेव ने 'योगसार' (59) की इस कारिका में हमें दिया और कहा कि **जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु।**[५] अर्थात् हे जीव! जैसे आकाश शुद्ध है वैसी आत्मा भी शुद्ध कही गयी है।

कितने दुर्भाग्य की बात है कि आज आकाश भी शुद्ध नहीं रह गया है। वह विषैली गैसों से भर गया है।

प्राकृत में 'रुक्खमह' शब्द वृक्ष पूजा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अपभ्रंश साहित्य के अध्येता श्री हरिवंश कोछड़ के अनुसार- अप्रभंश भाषा का समय भाषा विज्ञान के आचार्यों ने 500 ई. से 1000ई. तक बताया है किन्तु इसका साहित्य हमें लगभग 8वीं सदी से मिलना प्रारंभ होता है। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में स्वयंभू सबसे पूर्व हमारे सामने आते हैं। अपभ्रंश साहित्य का समृद्ध युग 9वीं से 13वीं शताब्दी तक है।[7]

अपभ्रंश साहित्य के प्रमुख रचनाकारों में हम महाकवि स्वयम्भू, महाकवि पुष्पदन्त, कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान), महाकवि रइधू, जोइन्दु, विवुध श्रीधर, कवि लक्ष्मणदेव, कवि धनपल, कनकाअर, रामसिंह आदि प्रमुख हैं। इनके साहित्य में हमें प्रकृति के अनेक रूप देखने को मिलते हैं।

महाकवि पुष्पदन्त (महापुराण 2/13) ने प्राकृतिक सरस सौन्दर्य का अत्यन्त निकट से साक्षात्कार किया है। एक उदाहरण देखिए-

पडु तडि-वडण पडिय बियडायल, रुज्जिय सीह दाउणो।
णच्चिय मत्त मोर कल-कल-रव, पूरिय सयल काणणो।।[८]

विबुध श्रीधर ने वड्ढमाणचरिउ में श्वेतछत्रनगरी के वर्णन में लिखा है

जहि जल-खाइयहि तरंग-पंति। सोहदपवणाहय गयणपंति।
णव-णलिणि समुब्भव-पत्तणील। णं जंगम-महिहर माल लील।।[९]

अर्थात श्वेतछत्र नगरी की जल-परिखाओं में पवनाहत होकर तरंग-पंक्ति ऐसी शोभित होती थीं, मानों गगन-पंक्ति ही हो। नवनलिनी अपने पत्तों सहित महीधर के समान शोभित होती थी।

एक ओर यह स्थिति थी दूसरी ओर यह है कि नदियों तक में भी तरंगें नहीं है। नदियों को इस कदर प्रदूषित किया गया है कि उनके पानी से सड़ाँध आ रही है। जीव-जन्तु मर रहे हैं। नदियों के प्रदूषित पानी को पीकर अनेक बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। जिस गंगा नदी को पापहारिणी, पतितहारिणी, पतितपावनी माना जाता था वह इस तरह दूषित हो गयी है कि भारत सरकार को उसकी स्वच्छता के लिए अलग मंत्रालय बनाना पड़ा है।

मुनि कनकाअर (मुनि कनकामर) ने **करकंडुचरिउ** में गंगा का जीवन्त वर्णन करते हुए लिखा था कि-

गंगापएसु संपत्तएण गंगाणइ दिट्ठी जंतएण।
सा सोहइ सिय-जल कुडिलवंति, णं सेयभुवंगहो महिल जंति।
दुराउ वहंती अइविहाई, हिमवंत-गिरिंदहो कित्ति णाइँ।
विहिं कूलहिं लोयहिं ण्हंतएहिं आइच्चहो जलु परिदिंतिएहिं।
दब्भंकियउडहिं करयलेहिं णइ भणइ णाइँ एयहिं छलेहिं।
हउँ सुद्धिय णियमग्गेण जामि मा रूसहि अम्महो उवरि सामि।।[१०]

अर्थात् शुभ्र जलयुक्त, कुटिलप्रवाह वाली गंगा ऐसी शोभित हो रही थी मानो शेषनाग की स्त्री जा रही हो। दूर से बहती हुई गंगा ऐसी दिखलाई पड़ती है जैसे वह हिमवंत गिरीन्द्र की कीर्ति हो। दोनों कूलों पर नहाते हुए और आदित्य को जल चढ़ाते हुए, दर्भ से युक्त ऊँचे उठाये हुए

करतलों सहित लोगों के द्वारा मानों इसी बहाने से नदी कह रही है- ''मैं शुद्ध हूँ और अपने मार्ग से जाती हूँ। हे स्वामी ! मेरे ऊपर रूष्ट मत होइये।''

इसी तरह महाकवि रइधू ने **पासणाहचरिउ** में सुखदायक वन का प्रसंग उपस्थित किया है-

उव्वेइय चितइ सो वणि पत्तउगिरिकंदरभूरुहघणऊँ।
मिययणसोहिल्लउ हरि, कोहिल्लउखेयर-सुरहँ सुहावणउँ।।[११]

श्रीधर द्वितीय (विवुध श्रीधर) ने **भविसयत्तचरिउ** में प्रकृति चित्रण करते हुए लिखा है कि-

तें बाहुडंडेण कमलसिरिपुत्तेण दिट्ठाइं तिरियाइं बहुदुखभरियाइं
रायवरहो जंतासु मयजलविलित्तासु कित्थुवि महीयाहं गयणयलविगयाहं
सहासु लोंडतु हरिफलइं तोंडतु। केत्थुवि वराहांह वलवंतरेहाहं।
महावग्घु आलग्गु रोसेण परिभग्गु केत्थुवि विरालइं दिटठइ करालाइं
केत्थुवि सियालाइं जुज्झंति थूलाइं तहे पासे णिज्झरइ सरंतइं गिरिकन्दर-विवराइं भरंतइं।।[12]

यहाँ भाव यह है कि भविष्यदत्त भयानक वन में मदजल से भरे हुए हाथियों को देखता है। इस वन में कहीं पर शाखामृग (बंदर) निर्भय होकर डालियों से चिपके हुए थे, कहीं पर छोटी और कहीं पर आकाश को छूने वाली बड़ी बृक्ष शाखाओं पर लोटते हुए हरे फलों को तोड़ते हुए वानर दिखलाई दे रहे थे। कहीं पर पुष्ट शरीर वाले सुअर, कहीं पर विकराल काल के समान वन्य-पशु दिखलाई पड़ रहे थे। उसी के पास में झरना प्रवाहित हो रहा था, जो पहाड़ की गुफाओं को अपने कल-कल शब्द से भर रहा था।

आज सहज रूप में वन-पशु दिखाई नहीं देते। वे शिकारियों और मांसाहारियों की भेंट चढ़ चुके हैं। कल-कल करते झरने कब के काल कवलित हो गये हैं। पहले तो नगर की समृद्धि भी प्रकृति सम्पन्नता से झाँकी जाती थी।

संदेश रासक (छन्द-183) में अब्दुल रहमान ने प्रकृति की उदासीनता को प्रिय के अरसिकपने से जोड़ते हुए लिखा है कि-

कि तहि देसिणहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह।
अह कलरउ न कुणंति हंस फल सेवि रविंदह।

अह पायउ णतु पढ़इ कोई सुललिय पुण राइण।
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तु धण कुसुम भरु।
अह मुणिउ पहिय, अणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइ घरु।।[13]

भाव यह है कि क्या उस देश में रात्रि में निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्स्ना नहीं स्फुरित होती या कमल के फलों का सेवन करके हंस कलरव नहीं करते.... या पथिक, मैं यह मान लूँ कि प्रिय अरसिक हो गया है।

अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत ने अपने द्वारा रचित **आदिपुराण** में मगध देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि- ''वह मगध देश, सीमाओं और उद्यानों से हरे-भरे बड़े-बड़े गाँवों, गरजते हुए वृषभ समूहों और दान देने में समर्थ लोभ से रहित कृषक समूहों से निम्य शोभित रहता है।

जहाँ कमल लक्ष्मी से स्नेह करते हैं लेकिन चन्द्रमा के साथ उनका बड़ा विरोध है। यद्यपि दोनों समुद्र मंथन से उत्पन्न हुई हैं लेकिन जड़ (जड़ता और जल) से पैदा होने के कारण वे इस बात को नहीं जानते। जहाँ ईखों के खेत रस से परिपूर्ण हैं, मानों जैसे सुकवियों के काव्य हों। जहाँ लड़ते हुए भैसों और बैलों के उत्सव होते रहते हैं, जहाँ मथानी घुमाती हुई गापियों की ध्वनियाँ होती रहती हैं, जहाँ चपल पूँछ उठाये हुए बच्छों का कुल है, और खेलते हुए ग्वालबालों से युक्त गोकुल है। जहाँ चार चार अंगुल के कोमल तृण है और सघन दानों वाले धान्यों से भरपूर खेत हैं।[14]

महाकवि पुष्पदन्त ने णायकुमार चरिउ में राजगृह नगर को प्रकृति से सम्पन्न बताते हुए लिखा है कि-

जोयइ व कमलसरलोयणेहिं णच्चइ व पवणहल्लियवणेहिं।
ल्हिक्कइ व ललियवल्लीहरेहिं उल्लसइ व बहुजिणवरहेरेहिं।।
वणियऊ व विसमवम्महसरेहिं कणइ व पारावयसरेहिं।
परिहइ व सपरिहाधरियणीरु पंगुरइ व सियपायारचीरु।।
णं परसिहरग्गहिं सग्गु छिवइ णं चंद-अमिय-धाराउ पियइ।

कंकुमछडएं ण रइहि रंग णावइ दक्खालिए-सुहपसंगु॥
विरइयमोत्तिय रंगावलहिंजं भूसिउ णं हारावालहिं।
चिंधेहिं धरिय णं पंचवण्णु चउवण्णजणेण वि अइखण्णु॥[१५]

अर्थात् वह (राजगृह) नगर मानों कमलसरोवर रूपी नेत्रों से देखता था, पवन द्वारा हिलाये हुए वनों के रूप में नृत्य कर रहा था तथा ललित लतागृहों के द्वारा मानो लुकाछिपी खेलता था। अनेक जिनमन्दिरों के द्वारा उल्लसित हो रहा था। कामदेव के विषम वाणों से घायल होकर मानों अनुरक्त परेवों के स्वर से चीख रहा था। परिखा में भरे हुए जल के द्वारा वह नगर परिधान धारण किये हुए था तथा अपने श्वेत प्रकार रूपी चीर को ओढ़े था। वह अपने गृह शिखरों की चोटियों द्वारा स्वर्ग को छू रहा था और मानों चन्द्र की अमृतधारा को पी रहा था। कुंकुम की छटाओं से जान पड़ता था जैसे वह रति की रंगभूमि हो और वहाँ के सुख-प्रसंगों को दिखला रहा हो। वहाँ जो मोतियों की रंगावलियाँ चल रही थीं, उनसे प्रतीत होता था, जैसे मानों वह हार-पंक्तियों से विभूषित हो। वह अपनी उठी हुई, ध्वजाओं से पंचरंगा और चारों वर्णों के लोगों से अत्यन्त रमणीक हो रहा था।

एक हिन्दी लोकगीत में नीम के पेड़ को नहीं काटने की प्रार्थना ससुराल जाती हुई बिटिया करती है। वह कहती है कि-

निमिया कौ पैड़ो जिन काटियो बाबुल,
निमिया में चिरई को बास मोरे लाल॥
चिरई न काऊ दुख देय जु बाबुल,
बिटिया चिरइया की नाईं मोरे लाल॥
सबरी चिरइयाँ उड़इ जैहें बाबुल,
रै जैहे निमिया बिसूर मोरे लाल॥
सबरी बिटिया सासुरे जैहे बाबुल,
रै जैहे मइया बिसूर मोरे लाल॥[१६]

आज हम तरक्की के लिए पेड़ काट रहे हैं और कांक्रीट के जंगल खड़ा कर रहे हैं। जो हमारी मुश्किलें बढ़ा रहे हैं। एक शायर ने ठीक लिखा है कि-

तरक्की जिस तरह दुनिया को हासिल होती जाती है।
सितम है जिन्दगी उतनी ही मुश्किल होती जाती है।।

कवि लक्ष्मणदेव ने **णेमिणाहचरिउ** में लिखा कि **''किं फुल्लइं गंध-विवज्जिएण''**[१७] अर्थात् गन्धरहित फूल से क्या (लाभ)?

फूल तो वे हैं जो खुशबू दें, वायु को महकायें, वातावरण को, पर्यावरण को महका दें किन्तु चारों ओर फैली विषाक्त वायु नाक पर रूमाल रखकर चलने के लिए विवश करती है और तब हमें पता चलता है कि हमने उद्यानों, उपवनों को नष्टकर क्या हासिल किया है?

हमारे अपभ्रंश के अधिकांश कवि जैनधर्मी रहे हैं अतः उन्हें प्रकृति से विशेष लगाव रहा है। वे अष्टमूलगुण पालन के पक्षधर रहे हैं। विक्रम की 10वीं शती में हुए कवि धनपाल ने अष्टमूलगुणों के विषय में कहा है कि-

महु मज्जु मंसु पंचुवराइ खज्जंति ण जम्मंतर समाइं।।[१८]

अर्थात् मधु, मद्य, मांस और पाँच उदुम्बर फलों को किसी भी जन्म में नहीं खाना चाहिए। 'भावसंग्रह' (गाथा 356) में आचार्य श्री देवसेन ने भी अष्टमूलगुण पालन पर जोर दिया है-

महुमज्जुमंसविरई चाओ पुण उंवराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुण हवंति फुड्ड देशविरयम्मि।।[१९]

इनके मूल में भी जीव जगत् और वनस्पति जगत् के संरक्षण की भावना रही है। जो पर्यावरण संरक्षण के लिए जरूरी है।

भगवान् महावीर स्वामी ने कहा था कि जैसा व्यवहार तुम्हें प्रिय नहीं है वैसा तुम भी दूसरों के साथ मत करो। परोपकार भी हमारे लिए इष्ट है। अपभ्रंश के कवि श्री सुप्रभाचार्य ने वैराग्यसार में परोपकार करने की प्रेरणा दी है। प्रकृति परोपकार करती है। वे लिखते हैं कि-

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु, खसहु म धम्म णियाणि।
जे सूरग्गमि धवल धरि, ते अंधवण मसाण।।
सुप्पउ भणइं मा परिहरहु पर-उवचार (यार) चरत्थु।
ससि सूर दुहु अंधवणि अणहं कवण थिरत्थु।।[२०]

अर्थात् हे धार्मिको! निश्चित धर्म से स्खलित न हो। सूर्योदय के

समय शुभ्र गृह थे, वे ही सूर्यास्त पर श्मसान हो गये। अतएव परोपकार करना मत छोड़ो, संसार क्षणिक है।

हाँ, प्रकृति बचती है अतः प्रकृति का संरक्षण करें। इस प्रकृति की प्रकृति भी बचायें और मानव प्रकृति को भी।

महाकवि पुष्पदन्त ने उत्तरकुरुभूमि की चर्चा करते हुए आदिपुराण सन्धि-26, पद्य-2 और 3 में वहाँ की जमीन, वहाँ के जल और वहाँ के कल्पवृक्ष का वर्णन किया है। वहाँ सोने ही जमीन है, पानी ऐसा मीठा कि जैसे रसायन हो। जहाँ सूर्य कल्पवृक्षों के द्वारा सत्ताईस योजन तक आच्छादित है।[21]

जहाँ सुख उत्पन्न करने वाले दस वृक्ष हैं जो जन-मन का हरण करते हैं और चिन्तित फल देते हैं। मद्यांग वृक्ष, हर्षयुक्त पेय और मद्य, वादित्रांग, तुरंग और सूर्य, भूषणांग हार, केयूर और डोर, वस्त्रांग वस्त्र, गृहांग घर, जो मानो शरद मेघ हों। भाजनांग वृक्ष, अंगों को दीप्ति देने वाले तरह-तरह के बर्तन देते हैं और जो भोजनांग वृक्ष हैं, वे विविध भोज्य पदार्थ तथा रसयुक्त सैकड़ों प्रकार के भोजन देते हैं। माल्यांग नाम के वृक्ष देते है उन पुष्पों को जिनसे मनुष्य का सम्मान बढ़ता है,पुन्नाग, नाग, श्रेष्ठ पारिजात, भ्रमरों से सहित नवमालाएँ निर्दोष दीपांग वृक्ष तिमिरभाव को नष्ट करने वाले दीप देते हैं।[22]

आज भले ही कल्पवृक्ष हमारे बीच न हों किन्तु वनस्पति जगत् अभी पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है, जो बचा है उसे बचा सकते हैं क्योंकि हमारा भोजन, हमारी भूषा (वस्त्र), हमारे भेषज (औषधि) वनस्पति जगत् पर ही निर्भर है।

संदेश रासक अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) की रचना है जिसमें 223 छन्द (पद) है। इसमें ईश्वर द्वारा बुधजनों के कल्याण की कामना की गयी है और कहा है कि वह ईश्वर बुधजनों का कल्याण करे; जिसने समुद्र, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष तथा आकाश रूपी आँगन में तारों की रचना की है। वे लिखते हैं-

रयणायर धर गिरितरुवराइँ गयणंगणंमि रिक्खाइँ।

जेणइज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ।।[२३]

यहाँ चूँकि रचनाकार ईश्वरवादी है अत: उसने प्रकृति को ईश्वर रचित माना है किन्तु भाव यही है कि जिस तरह ईश्वर तुम्हें प्रिय है तो उसकी बनाई प्रकृति से भी प्रेम करो। प्रकृति कल्याणकारी होती है अत: उसका संरक्षण करना चाहिए।

संदेश रासक का ऋतु वर्णन भी बड़ा प्रभावी है।

रेवंतगिरिरास में विजयसेनसूरि (1231 ई. के लगभग लिखित) ने प्रकृति का रमणीक चित्र इस प्रकार खींचा है-

कोयल कलयलो मोर केकारओ
सम्मए महुयर महुर गुंजारवो, जलद जाल
बंबाले नीझरणि रमाउलु रेहइ,
उज्जिल सिहरु अलि कज्जल सामलु।[२४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश साहित्य में प्रकृति और संरक्षित पर्यावरण के अनेक चित्र समाहित है। इनसे हम पर्यावरण के संरक्षण की प्रेरणा पा सकते हैं। आज हम नगरों में रहते हैं किन्तु नगर में रहने के साथ मानों हम भूल ही गये हैं कि नगर की समृद्धि नदी, वन, पशु-पक्षी, झरने, उद्यान आदि से भी होती है और यह मानव के संरक्षण के लिए जरूरी है। अपभ्रंश साहित्य में आगत नगर वर्णन इस बात की पुष्टि करते हैं। आज आवश्यकता है कि हम अपभ्रंश साहित्य के इन सन्दर्भों को और अधिक उजागर करें ताकि पर्यावरणीय प्रदूषण दूर हो और प्रकृति-पर्यावरण संरक्षित रहे।

संदर्भ :

1.Oxfort Advanced Learners Dictionary of Current English-3rd Edition, P.292
2. Chammer's Twentieth Century Dictionary, P.312
3. पारिस्थितिकी परिचय : देवेन्द्रप्रताप नारायण सिंह, पृ. 2
4. आधुनिक जीवन और पर्यावरण : दामोदर शर्मा, हरिश्चन्द व्यास, पृ.30
5. आचार्य योगीन्दुदेव : योगसार, कारिका-59
7. अपभ्रंश साहित्य : हरिवंश कोछड़, पृ. 34

8. महाकवि पुष्पदन्त : महापुराण 2/13, हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 59
9. विबुध श्रीधर : बड्ढुमाणचरिउ
10. मुनि कनकाअर (मुनि कनकामर) : करकंडुचरिउ
11. महाकवि रइधू : पासणाहचरिउ, 6/1, घत्ता-110
12. श्रीधर द्वितीय (विबुध) : भविसयत्तचरिउ
13. अब्दुल रहमान : संदेश रासक, छन्द-183
14. महाकवि पुष्पदन्त, आदिपुराण, सन्धि-1, पद्य-11
15. महाकवि पुष्पदंत : णायकुमार चरिउ
16. बुन्देली लोकगीत
17. कवि लक्ष्मणदेव : णेमिणाहचरिउ
18. कवि धनपाल छन्द 16/8
19. आचार्य श्री देवसेन : भावसंग्रह, गाथा-356
20. सुप्रभाचार्य : वैराग्यसार, 2,3
21. महाकवि पुष्पदंत : आदिपुराण सन्धि-26, पद्य-2,3
22. वही, सन्धि-26, घत्ता-2, पद्य-3
23. अद्दमाण (अब्दुल रहमान) : संदेश रासक, पद्य-1 (संदेश रासक, संपादक- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी, चतुर्थ संस्करण-1992, पृ. 143
24. विजयसेनसूरि : रेवंतगिरिरास

- एल-६५, न्यू इन्दिरानगर,
जिला- बुरहानपुर (म.प्र.)

कराधान और अचौर्याणुव्रत

- डॉ. प्रशान्त जैन

ईसा की दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजशास्त्री जैनाचार्य सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के समान उत्कृष्ट राजनीतिक रचना है। इसमें शासन संचालन के मौलिक सिद्धान्तों का बहुत ही सुचारु ढंग से प्रतिपादन किया गया है। कौटिल्य के मतानुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र ये राज्य की सात प्रकृतियाँ कही गई हैं।[1] स्मृतिकारों ने उक्त सात प्रकृतियों को राज्य के सात अंग कहा है।[2] यद्यपि नीतिवाक्यामृत में इन सात अंगों का ही क्रमशः विस्तृत वर्णन किया गया है, किन्तु इन्हें सप्तांग कहकर उल्लिखित नहीं किया है। शुक्राचार्य राज्य को एक पुरुष मानकर राज्य के सात अंगों की तुलना मनुष्य के शरीर के सात अवयवों से करते हैं। **वे राजा को मस्तक, मंत्रियों को नेत्र, मित्रों की मान, कोश को मुख, बल (सेना) को मन, दुर्ग को हाथ एवं राष्ट्र को पैर कहते हैं।[3] कोश की तुलना मुख से इसलिए की गई है, क्योंकि जैसे मुख में खाया गया भोजन समस्त अंगों को शक्ति प्रदान कर उन्हें पुष्ट करता है, वैसे ही राजकोश में धन जमा होने से सभी अंगों की पुष्टि होती है।**

नीतिवाक्यामृत का प्रारंभ ऐसे राज्य को नमस्कार के साथ हुआ है, जिसमें प्रजा को धर्म अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों को प्रदान करने की सामर्थ्य हो।[4] अर्थ की महत्ता का विवेचन करते हुए श्री सोमदेवाचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य के सभी लौकिक एवं पारलौकिक प्रयोजन की सिद्धि करता है, उसे अर्थ कहा जाता है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिससे व्यक्ति कृषि तथा अन्य उद्योग-धन्धों में लगकर अर्थ को अर्जित कर सके।[5] अर्जित धन को दान, धर्म, परोपकार आदि श्रेष्ठ कार्यों में व्यय करने के साथ राजा को कर के रूप में भी प्रदान करने का विधान जैनाचार्यों ने किया है, ताकि राज्य के प्रजाकल्याण के कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो सके तथा राजा के द्वारा आपद्धर्म का भी पालन

किया जा सके। आचार्य सोमदेव ने सभी प्रकार के अपराधों (आर्थिक भी) के लिए दण्ड का भी विधान किया है। उनके अनुसार अपराधी को अपराध की प्रकृति के अनुसार दण्ड देना आवश्यक है। वे कहते हैं कि यदि दण्ड की उचित व्यवस्था नहीं होगी तो राजा में मात्स्यन्याय का सृजन हो जायेगा। अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार से बड़े या धनाढ्य लोग छोटे या निर्धन लोगों को कष्ट पहुँचाने लगेंगे।[6] राज्य का कार्य यदि प्रजा की सुरक्षा एवं आर्थिक समृद्धि करना है तो प्रजा का कार्य भी समीचीन कर देकर राज्य की स्थिति को सुदृढ़ता प्रदान करना है।

किसी भी देश का समृद्धिशाली होना वहाँ के कोश पर निर्भर है। राज्य के दो ही आधार स्तम्भ होते हैं- कोश एवं सैन्यबल। नीतिवाक्यामृत में कोश को राजाओं का प्राण कहा गया है।[7] आचार्य सोमदेव ने कोश को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो संकट के समय में सैन्य को सुसंगठित करने के लिए धन को बढ़ाता है, उसे कोश कहा जाता है।[8] कोश की पूर्ति के लिए कर, दण्ड के रूप में प्राप्त धन एवं राज्य के आय के अन्य अनेक साधन होते हैं। इनमें कराधान राज्य की आय का प्रमुख साधन है। अतः राजा प्रजा पर उसे पीड़ित न करता हुआ उसी के अनुरंजनार्थ विविध करो का विधान करता है तथा करवचन करने वालों का तरह तरह के यथायोग्य दण्ड का भी विधान करता है।

ऋग्वेद में कर के लिए बलि शब्द और करदाता के लिए बलिदृत शब्द का प्रयोग हुआ है,[9] जो यह स्पष्ट करने में समर्थ है कि प्राचीन काल से ही कर की परम्परा विद्यमान रही है। मनुस्मृति में भी कर के लिए बलि शब्द का प्रयोग किया गया है।[10] आचार्य सोमदेव कोश की वृद्धि के लिए उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि निम्नलिखित से कर लिया जाना चाहिए-

1. धर्मानुष्ठान एवं यज्ञादि करने बाद अवशिष्ट धनराशि पर ब्राह्मण से
2. परिवार के पालन-पोषण के पश्चात् शेष धनराशि पर व्यापारी से
3. अत्यन्त धनवान् व्यक्ति से
4. निःसन्तान व्यक्ति से
5. विधवाओं के समूह से
6. कापालिकों से

नीतिवाक्यमृतकार के अनुसार जो सम्पत्तिशाली व्यक्ति है, उनकी सम्पत्ति का विभाजन करके निर्वाह योग्य धन से शेष धन पर राजा निवेदन

करके कर के रूप में प्राप्त करे। इसी प्रकार मन्त्री, पुरोहित आदि एवं अधीनस्थ सामन्तों से भी निवेदन करके कर के रूप में धन की याचना करे तथा अपने कोश को बढ़ावे।[11] आचार्य सोमदेव का कहना है कि जो राजा आय का विचार न करके आवश्यकता से अधिक व्यय करता है, वह असंख्य धन-सम्पत्ति का स्वामी होने पर भी भिक्षुक के समान आचरण करने वाला बन जाता है।[12]

कराधान के सम्बन्ध में नीतिवाक्यामृत में कहा गया है कि राजा को राजकीय कर का निर्धारण अपने मन से न करके धर्मशास्त्रों में कहे अनुसार करना चाहिए। क्योंकि राजा यदि प्रजा से अन्यायपूर्ण ढंग से तृणशलाका भी लेता है तो पूजा को कष्ट होता है तथा उसकी पीडा से राजा का कोश नष्ट हो जाता है।[13] आचार्य सोमदेव कहते हैं कि राजा को कर के वैकल्पिक उपायों से कोशवृद्धि करना चाहिए। वे वैकल्पिक उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं। यथा -

1. जुआ में जीते गये धन को बरामद करके। 2. अपराधियों के जुर्माने से।
3. युद्ध में मारे गये लोगों का परिवार न होने पर।
4. तालाब, नदी, मार्ग में विस्मृत धन का स्वामी न मिलने पर।
5. चोरी का धन।
6. विप्लव आदि के कारण जनता द्वारा छोड़ा गया धन आदि।[14]

महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजा को पूजा से माली की भांति कर ग्रहण करना चाहिए न कि कोयला फूंकने वालों के समान।[१५] कोयला बनाने वाले तो सम्पूर्ण वृक्ष को ही जड़ सहित काट लेता है, जबकि माली आवश्यकतानुसार फूलों को ही तोड़ता है। अतः सोच विचार कर ही कर लगाना चाहिए। ऐसा न हो कि व्यापारियों को अपने व्यापार में लाभ भी प्राप्त न हो और कर भी अधिक देना पड़े। इससे तो अराजकता फैल जायेगी।[१६] मनुस्मृतिकार ने कर का विधान इस प्रकार किया है-

1. सोना एवं पशुविक्रय से प्राप्त लाभ का पचासवाँ हिस्सा।
2. कृषि आय पर बारहवाँ, आठवाँ या छठा हिस्सा।
3. शेष सभी वस्तुओं की बिक्री पर आय का छठा हिस्सा।[17]

विष्णुधर्मसूत्रकार कर की सीमा निश्चित करते हुए देश में बने समान पर दसवाँ हिस्सा तथा आयातित सामान पर मूल्य का बीसवाँ हिस्सा व्यापार कर या बिक्रीकर के रूप में ग्रहण करने का विधान करते हैं।[18] **सोमदेवाचार्य कर की सीमा निर्धारित न करके उसे यथायोग्य कहते हैं पर राजा को षष्ठांशवृत्ति कहे जाने से वह सीमा आय के छठे हिस्से से अधिक नहीं मानी जा सकती है।** वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित में राजा की आय के साधनों में कर लेने का उल्लेख किया गया है।[19] प्रजा के अतिरिक्त विजित राजाओं पर भी कर लगाया जाता था।[20] कर उतना ही होना चाहिए जितना देकर व्यक्ति आनन्द का अनुभव करे। क्षत्रचूडामणि में कहा गया है कि महाराज जीवन्धर को कर देकर प्रजा आनन्द का अनुभव करती थी।[21] समुद्र से व्यापार करने वाले सार्थवाह भी राजा को व्यापार कर प्रदान करते थे।[22]

वर्तमान कर व्यवस्था :

वित्तीय वर्ष 2014-2015 (01 अप्रैल 2014 से 31 मार्च 2015 तक) कर निर्धारण वर्ष 2015-2016 के लिए आयकर की सीमा इस प्रकार निर्धारित की गई है -

(१) अतिवरिष्ठ नागरिक (80 वर्ष या अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुष)

रु. 5,00,000.00 तक	-	कुछ नहीं
रु. 5,00,001.00 से 10,00,000.00	-	20 प्रतिशत
रु. 10,00,0001.00 से लेकर आगे	-	30 प्रतिशत

(२) वरिष्ठ नागरिक (60 वर्ष से 80 तक की आयु वाले पुरुष तथा स्त्री आयकरदाता किसी भी आयु की स्त्री आयकर दाता)

रु. 3,00,000.00 तक	-	कुछ नहीं
रु. 3,00,001.00 से 5,00,000.00 तक	-	10 प्रतिशत
रु. 5,00,001.00 से 10,00,000.00 तक	-	20 प्रतिशत
रु. 10,00,0001 से लेकर आगे	-	30 प्रतिशत

(३) अन्य व्यक्ति/ हिन्दु संयुक्त परिवार

रु. 2,50,000.00 तक	-	कुछ नहीं
रु. 2,50,001.00 से 5,00,000.00 तक	-	10 प्रतिशत

रु. 5,00,001.00 से 10,00,000.00 तक – 20 प्रतिशत

रु. 10,00,001.00 से लेकर आगे – 30 प्रतिशत

इसके अतिरिक्त एक करोड़ से अधिक की आय पर 5 प्रतिशत अधिभार (सरचार्ज) भी लगेगा।

उक्त विवरणानुसार आयकर एवं अधिभार की कुल राशि पर उपकर का विधान भी पूर्ववत् ही रखा गया है, जो 2 प्रतिशत शिक्षा उपकर+1 प्रतिशत माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा शुल्क भी है।

धारा 88 के अन्तर्गत रु. 1,50,000.00 तक की राशि की बचत करमुक्त है, पी.पी.एफ. से अर्जित करमुक्त ब्याज इसी में सम्मिलित है। बचत खाते से प्राप्त बैंक ब्याज के रु. 10,000.00 करमुक्त है। शेष सभी प्रकार के ब्याज आय में जोड़े जायेंगे।

यह पूर्णतया सत्य है कि प्रत्येक देशभक्त व्यक्ति प्रजा के कल्याण कार्यों के लिए आयकर देना चाहता है, किन्तु आयकर की प्रक्रिया इतनी जटिल धारा, उपधारा, नियम, उपनियम एवं अधिनियमों के आधीन है तथा कानूनी दाव-पेचों पर निर्भर है अतः लोग आयकर विवरणी करने से बचना चाहते हैं तथा वे न चाहते हुए भी आयकर कर चोरी में प्रवृत्ति करने लगते हैं। वास्तव में कर की बड़ी मार एवं जटिलता ने व्यक्ति को चोरी के लिए विवश किया है, वह उसकी निसर्गज प्रवृत्ति नहीं है। व्यापार कर राज्यों का विषय होने से पृथक्-पृथक् राज्य के पृथक्-पृथक् व्यापारकर लिया जाता है। इस कारण सीमावर्ती लोग अन्य राज्य से वस्तुएँ लाकर बेचते हैं तथा कर चोरी में बरबस प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कर चोरी रोकने के लिए मंहगाई, आम आदमी की जरूरतों तथा आमदनी को विचारकर करनिर्धारण की आवश्यकता है।

जैन परम्परा में श्रावक के पांच अणुव्रतों में अचौर्य नामक अणुव्रत सदाचारजन्य एक ऐसा साधन है तो सभी प्रकार के चौर्यकृत्य को रोकने में समर्थ है। कर चोरी की जो विविध धारा-उपधारायें दण्ड का विधान करती हैं, वे अचौर्याणुव्रत से आसानी से समाहित देखी जा सकती है। अतः अचौर्याणुव्रत के स्वरूप के साथ-साथ उसके अतिचारों (दोषों) की विवेचनाओं

को समझना आवश्यक है। अचौर्य का उल्लेख अस्तेय नाम से भी किया गया है; क्योंकि चौर्य एवं स्तेय पर्यायवाची हैं। अस्तेय या अचौर्य व्रत के दो भेद हैं- महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत मुनियों के लिए होता है। वह कभी भी वस्तु को ग्रहण करता ही नहीं है, अतः उसे पराई वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने के भाव को त्यागने की बात कही गई है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में स्पष्टतया कहा है-

'गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव॥'[२३]

अर्थात् जो ग्राम, नगर या वन में पर वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव छोड़ देता है, उसका तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है।

जैन साधु अचौर्य व्रत के पूर्णतया पालक होते हैं तथा कराधान से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यहाँ अचौर्याणुव्रत पर ही विचार प्रासंगिक है।

अचौर्याणुव्रत का लक्षण :

पञ्चाणुव्रतों के प्रसंग में तृतीय अचौर्याणुव्रत का लक्षण करते हुए श्री समन्तभद्राचार्य ने लिखा है-

'निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमदिसृष्टम्।
न हरति यन्न दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥'[२४]

अर्थात् जो रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए या धरोहर रखे गये पर द्रव्य को न तो हरण करता है, न अन्य किसी के लिए देता है, वह स्थूल रूप से अचौर्य व्रत अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।

प्रायः सभी श्रावकाचार प्रणेताओं ने अचौर्याणुव्रत का मिलता-जुलता स्वरूप ही वर्णित किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि चोरी आदि पापों में प्रमाद का योग रहता है। आचार्य अमृतचन्द्र तो चोरी को भी हिंसा ही मानते हैं। उनका कथन है -

'अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगात् यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥
अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्॥
हरति च तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थात्॥[२५]

अर्थात् जो प्रमाद के योग से दूसरे द्वारा नही दिये गये परिग्रह को ग्रहण करता है, उसे चोरी समझना चाहिए और वह चोरी प्राणघात का कारण होने से हिंसा ही है। धन पुरुषों के बाहिरी प्राण माने जाते हैं, अतः जो उसके धनों का अपहरण करता है, वह उसके प्राणों का ही हरण करता है।

श्रावकाचारों के अनुशीलन से जो फलितार्थ निकलता है, उसे इस प्रकार देखा जा सकता है-

(1) पानी, घास आदि सर्वयोग्य वस्तुओं का ग्रहण चोरी नही है।

(2) उत्तराधिकार में प्राप्त धन कुटुम्बी को मर जाने पर ग्रहण करना चोरी नहीं है। किन्तु जीवित अवस्था में बिना पूछे ग्रहण करना चोरी है।

(3) रिक्थ (मृत स्वामी का धन), निधि और निधान से प्राप्त धन राजा का होता है, उसका ग्रहण करना चोरी है।

(4) किसी खरीदे गये मकान में, मार्ग में, पानी में, व्रत में या पर्वत में मिला धन का ग्रहण करना चोरी है। इस धन पर राजा का अधिकार होता है।

(5) वस्तु मेरी है या नही है- ऐसी संशयास्पद वस्तु का ग्रहण करना भी चोरी की श्रेणी में ही आता है।[26]

विभिन्न आचार्यों ने अपने आचारशास्त्रविषयक ग्रन्थों में अचौर्याणुव्रत के फल एवं चोरी पाप के फल का क्वचित् संक्षिप्त एवं क्वचित् विस्तृत वर्णन किया है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि चोर का सब लोग तिरस्कार करते हैं। वह इस लोक में ताडन, मारण, बन्धन, छेदन, भेदन एवं सर्वस्वहरण आदि दुःखों को प्राप्त करता है तथा परलोक में अशुभ एवं गर्हित गति की प्राप्त करता है।[27] वसुनन्दिश्रावकाचार में चोरी के फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चोर इस लोक और परलोक में यातनाओं को पाता है। वह कभी भी सुख नही पाता है। वह भय से थर-थर कांपता रहता है, इधर-उधर भागता फिरता है, दिख जाने के डर से लुकता-छिपता फिरता है। वह अपने माता-पिता, गुरु, मित्र, स्वामी यहाँ तक कि तपस्वियों तक को कुछ नहीं गिनता है। चोर को आरक्षक रस्सियों से बांधकर पकड़ लेते हैं। वे बड़ा अपराध होने पर शूली तक पर चढ़ा देते हैं। पर लोक में भी दुर्गति को पाता है।[28] सावयधम्मदोहा में तो कहा गया है कि चोरी चोर

का हनन तो करती ही है, परन्तु वह अन्य भी बहुत से क्लेशों की खानि है। वह कुटुम्ब का भी अनर्थ करती है और कुल के यश एवं धन की भी हानि करती है।[29]

अचौर्याणुव्रत के अतिचार (दोष) :

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने यद्यपि जो अतिचार गिनाये हैं, वे व्रत के हैं तथापि अचौर्य व्रत के प्रसंग में परिमाणित पांचों अतिचारों का सीधा सम्बन्ध अचौर्याणुव्रत से ही है। अतः उनका उल्लेख अचौर्याणुव्रत के अतिचार के रूप में किया जा रहा है- 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः।'[30]

जैनाचारविषयक सभी ग्रन्थों में क्वचित् शब्दान्तर के साथ इन्हीं पांच अतिचारों का विवेचन हुआ है। यथा -

१. स्तेनप्रयोग- चोरी की प्रेरणा करना, कराना या अनुमोदना करना अथवा चोरी करने का उपाय सुझाना स्तेन प्रयोग नामक अतिचार (दोष) है।

२. तदाहृतादान- चोर के द्वारा चुराई गई वस्तु का ग्रहण करना या चोरी का माल खरीदना तदाहृतादान नामक अतिचार है।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम- राज्य नियमों के विरुद्ध आचारण करना, आय होने पर भी निर्धारित आयकर न देना, व्यापार में हुए लेन-देन को छुपाना, ताकि व्यापार कर बचाया जा सके, टोल टैक्स या चुंगी आदि नियमानुसार न देना, वस्तुओं का इसलिए निर्धारित सीमा से अधिक संग्रह करना ताकि मंहगे दामों में बेची जा सके, राज्य द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तुओं को छिपाकर बेचना, कालाबाजारी करना आदि विरुद्धराज्यातिक्रम नामक अतिचार के अन्तर्गत आते हैं। कर (टैक्स) की चोरी होने से इसे अचौर्याणुव्रत के अतिचार में रखा गया है।

४. हीनाधिकमानोन्मान- माप एवं तौल के निर्धारित प्रमाणों- मीटर, लीटर, किलोग्राम आदि को लेने-देने के इरादे से कम-ज्यादा प्रमाण वाले रखना हीनाधिकमानोन्मान नामक अतिचार है। द्रोण, प्रस्थ आदि वस्तु मापने के साधन मान तथा बॉट आदि वस्तु को तौलने के साधन उन्मान कहलाते हैं।

५. प्रतिरूपकव्यवहार- उत्तम या अधिक मूल्य की वस्तु में हीन या कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना, ताकि अधिक मुनाफा लिया जा सके। प्रतिरूपकव्यवहार नामक अतिचार है।

यद्यपि उक्त पाँच अतिचार कभी-कभी ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे ये अतिचार न होकर अनाचार या साक्षात् चोरी ही हों, तथापि इनसे व्रत का एकदेश भंग और एकदेश अभंग अर्थात् व्रत की भंगाभंग स्थिति होने के कारण इन्हें अतिचार माना गया है। इनका दण्डविधान प्राचीनकाल में भी उतना नहीं था, जितना चोर द्वारा चोरी किये जाने का था, किन्तु इन दोषों का भी दण्ड था जो कभी-कभी सुधार के अवसर के रूप में चेतावनी या कर को बढ़ाकर ग्रहण करने के रूप में दृष्टिगोचर होता है। आज भी भारतीय दण्डसंहिता की धाराओं में चोरी की प्रकृति और चोरी के दोष की प्रकृति के आधार पर दण्ड में तारतम्य की स्थिति देखी जाती है।

सूर्योदय की भावना वाले जैनाचार्यों ने जहाँ आचार के रूप में समाज को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाने की कोशिश की है, वहाँ नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए प्रायश्चित एवं दण्डविधान का भी यथोचित निर्देश किया है। भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) की धारा 121-140, 172-190 को विरूद्धराज्यातिक्रम में समाविष्ट कर सकते हैं, धारा 230-263 को प्रतिरूपकव्यवहार एवं विरुद्धराज्यातिक्रम तथा धारा 264-267 को हीनाधिकमानोन्मान में सम्मिलित कर सकते हैं। धारा 121 से 140 तक राज्यविरुद्ध एवं सेवा सम्बन्धी अपराधों के विषय में है। धारा 172-190 राज्यसेवकों द्वारा की गई राजकीय आदेशों की अवहेलना के विषय में है तथा धारा 264-267 माप-तौल सम्बन्धी अपराधविषयक है। राजकीय सिक्कों तथा सरकारी स्टाम्प की चोरी तथा जाली सिक्कों के बनाने एवं स्टाम्प पेपर के छापने सम्बन्धी धारा 230-263 को हम प्रतिरूपकव्यवहार एवं विरुद्धराज्यातिक्रम में समाविष्ट कर सकते हैं। सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध की धाराओं 378-462 में से कतिपय को अचौर्याणुव्रत के अतिचारां में देखा जा सकता है।

अत: चोरी के अपराध से बचने एवं उसके दोषों के भागी बनने से बचने के लिए अचौर्याणुव्रत का निरतिचार पालन आवश्यक है। **जैनाचार में**

अचौर्याणुव्रत का पालक चोरी सम्बन्धी अपराध एवं दोषों में प्रवृत्ति से बच सकेगा और फलतः उसे तज्जन्य दण्ड से मुक्ति मिल सकेगी।

करचोरी से बचाव के लिए कतिपय सुझाव :

(1) कर देने एवं विवरणी भरने की प्रक्रिया सरलतम हो।

(2) कर लगाने की प्रक्रिया भारतीय विधानों के अनुकूल हो। करमुक्त राशि महगाई के अनुपात में हो। महगाई 100प्रतिशत से अधिक बढ़ जाने पर भी आयकर की सीमा मात्र 25प्रतिशत बढ़ाई गई है।

(3) सभी प्रकार के उपकर समाप्त हों ताकि सामान्य आयकर दाता को परिगणन के लिए वकीलों के चक्कर न काटना पड़े।

(4) व्यापार कर में दोहरी प्रणाली (केन्द्रीय कर, राज्यकर, स्थानीय कर, उपकर आदि) समाप्त की जाये।

(5) राजकीय खर्चे बचाकर कर को आसानी से देने योग्य बनाया जा सकता है।

(6) करचोरी को प्रोत्साहन देने वाली 80-जी आदि धाराओं में छूट के प्रावधान पर पुनर्विचार किया जाये।

संदर्भ :

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6/1
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/353, नारदस्मृति-5
3. शुक्रनीति, 1/61-62
4. नीतिवाक्यामृत, 5/2
5. वही, 2/1-2
6. वही, 9/7
7. वही, 21/5
8. वही, 21/1
9. ऋग्वेद, 7/6
10. मनुस्मृति, 7/80
11. नीतिवाक्यामृत, 11/14
12. वही, 16/18
13. वही,16/13
14. वही, 9/5
15. महाभारत, शान्तिपर्व 71/20
16. वही, 87/13-14
17. मनुस्मृति, 7/129-131
18. विष्णुधर्मसूत्र, 3/29-131
19. पार्श्वनाथचरित, 1/66
20. वही, 1/67 एवं 2/113
21. क्षत्रचूडामणि, 11/5
22. वही, 3/11
23. नियमसार, गाथा 58
24. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 57
25. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 102-103
26. द्रष्टव्य- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 34-35, उपासकाध्ययन, 249-358, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, 59-63, सागारधर्मामृत 4/50, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार चतुर्दश परिच्छेद, गुणभूषणश्रावकाचार, 3/27, लाटीसंहिता, 5/29-36, उमास्वामीश्रावकाचार, 357-366, पूज्यपादश्रावकाचार 23, व्रतोद्योतनश्रावकाचार 94, कुन्दकुन्दश्रावकाचार 406 आदि।

27. सर्वार्थसिद्धि, 7/9, 28. वसुनन्दिश्रावकाचरार 101-111,
29. सावयधम्मदोहा, 48 30. तत्त्वार्थसूत्र, 7/27

- एम.कॉ., एम.आई.टी., पी.एच.डी.,
प्रधानाचार्य- जैन इंटर कालेज, **खेकड़ा** (बागपत) उ0प्र0

प्रेरक बोधकथा-

जीवन का तीसरा आयाम - वीतरागता

- जीवन का प्रथम आयाम है - **'राग',** जो मोह का अनुवर्ती होता है।
- जीवन का दूसरा आयाम है - **'द्वेष',** जो राग का प्रतिपक्षी है।
- जीवन का तीसरा आयाम है - **'वीतराग'**- राग से परे, फिर द्वेष का कारण ही मिट जाता है।
- वीतराग- समता के सागर में अनासक्ति के मोती है।
- हमें जिसके प्रति राग होता है, उसे अपने पास रखना चाहते हैं, और जिसके प्रति द्वेष है, उसे दूर करना चाहते हैं। वीतरागी में न सम्मोहन होता है और न ही वितृष्णा।

ऋषि याज्ञवलक्य की दो पत्नीं थीं। कात्यायनी और मैत्रेयी। जब वे वैराग्य भाव से आश्रम छोड़ने लगे, तो पूर्ण परिग्रह से रहित होने के लिए उन्होंने दोनों को बुलाकर- आश्रम की सभी वस्तुएँ आधी आधी बाँटने को कहा। कात्यायनी राजी हो गयी।

लेकिन मैत्रेयी ने उपनिषद का एक सूत्र कहकर इसका रहस्य जानना चाहा- **''येनाऽहं नामृता स्याम्, किमहं तेन कुर्याम्''** अर्थात् जिसे पाकर मैं अमर न हो सकूँ उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? यदि धन और वस्तुएँ आपके लिए व्यर्थ हो गयी, तो हमें किसलिए दे जा रहे हो? और यदि सम्पदा सार्थक है तो आप छोड़कर क्यों जा रहे हो? ऋषि याज्ञवलक्य धर्म संकट में पड़ गये। सच में- मैत्रेयी ने जीवन का तीसरा आयाम उद्घाटित कर दिया।

(सौ बोध कथाओं से साभार- लेखक पं. निहालचंद जैन)

JAIN MODEL OF LIFE SPAN : A Scientific Approach

- Dr Samani Chaitya Pragya

Abstract

We observe a great difference of life span among species and so also among the members of the species. What determines the length of life is a problem of the present research. It is hypothised that a number of factors play their role in life span determination and there exists an intricate relation between these factors. It analyzes various factors that determine the life span both in the field of Jainism and science and concludes that a life span is determined by a number of factors, namely - karma, genes, pr¢´a and other factors and there exists an intricate relation between these factors. All of them as a team determine the lifespan.

Some men live more than 100 years, No mouse lives more than 4 years. Why is it two more than 4 years. Why two mammalian species so similar in many ways should have such a very different life spans? During past twenty years, Gerontology has attracted the interest of increasing number of biologists. This has led to rapid accumulation of knowledge regarding ageing. But still very little is known as Mc dawar (1946) opines -

"The problems of natural death and old age are hardly yet acknowledged to be within the province of genuine scientific enquiry."[1]Yet we see that a number of hypotheses have been and is being put forward various scientists, as follows:

Wear and tear theory : According This view the cells, just as a meaning through continuous working undergoes wear and tear process as they become old and finally die. In early 1960s, Radiation included somatic mutation hypothesis contested that other theory of ageing which probably provoked more experience total work than any other, was somatic mutation theory, which hypothesized that death of cell is due to accumulation of mutations in ordinary somatic cells of the body and the ionizing radiation a very potent mutagenic agent is one of the most effective ways of short timing the life of experimental animals.

The error catastrophe hypothesis: In 1963 Orgel suggested that progressive decrease in accuracy of protein synthesis might be one of the factors contributed age related deterioration of cells.[2] Codon Restriction Hypothesis: Strechler (1967) the propounder of this theory suggests that as a result of differentiation, cell loses the ability to translate genetic information.

Free radical hypothesis: *According to this hypothesis the free-radicals (unpaired electrons) are left out, due to oxidation taking place in the cells. And these free-radicals in turn damage the nucleic acids of cells (DNA) thus leading to death of the cell.*[2]

Programme theory: *Development, differentiation and programmed senescence is two outcome concept of codon restriction theory according to which, senescence is the result of genetic programme that bring about differentiation is accepted.*[3]

According to Kanugo H.S. (1999) Ageing is passive process that occur from failure of the organism or the system to maintain various activities. All activities are controlled by enzymes and proteins, which in turn are coded by genes. It is due to failure

of several genes to maintain their activity. Though genes such as ced-3 and ced-4 genes cause the death of certain predetermined cells during development of carnorhabities elegance is known,[4] Still Kanugo concludes that it is suggested that no specific gene causing ageing is not yet been found because no specific character initiates ageing in all individuals of species. Since there is no specific timed changes or events that leads death, searching for gene is futile. But recently the scientists in Britain (2007) have found a gene as IRS-1 as the gene that that controls the function of insulin is found to regulate lifespan as well. The mice without the gene were seemed to live longer and healthier[1]. ‘

Vital energy – Hypothesis :

The 100 Volt bulb glows, until the current flows in it, once the circuit is off, even the bulb is. Similarly why cannot we assume a kind of vital energy which flows in our life, and keep us alive and that once it comes to an end even the life?

What is vital energy (vitality?)

Considering the general meaning of it, genentologists including Raymond pearl—One of the founders of modern gerontology explain vitality as

“By vitality we mean nothing move than ability to sustain life the ability to survive.” In Jainism the word pran is used for vitality

Which is defined in and *Gommamsâra* as follows:

> *PrâGanti jehiA jîva pâGa te honti niddhitattâ*
> *PrâGiti jîvati ebhiriti prâG*ati[1]

means the energy by which soul attains living is *prâGa*.

There are 10 kind of prana or vitalities explained in *Gommamasâra* in the following verse:

paEcavi iEdiynamanvaci kayike'u
ânâpanap âna aupanena Honti dasa pâGâ[2]

There are 10 kinds of vital energy viz. the five sensual vital energiesî

3 The powers of body mind and speech
1 The respiratory vital energy
1 The vital energy of life span.

Here, the last vital energy of life-span is considerable, which is force by which life exists.

What regulates the vital energy?

A magnet attracts the pran fillings very easily with its magnetic force and when moved it attracts more. So is the soul attracts the karmic particles through attracted its passion and attracts more with activity of body, mind and speech.

lhâGaA [3] enumerates eight kinds of karma as follows:
jîvâGaA ammha kammapadio cinimsuv a cinamti va taA jahâGa GâvarnijjaA darisanavarnijjaA veyanijjaA MohanijjaA âuyaA nâmaA gottaA antarâyaA auyaA nâmaA gottaA antarâyaA.

There are eight kinds of karmic aggregrates acquired by soul which are as follows:

1. Knowledge obscuring Karma
2. Intution obscuring Karma
3. feeling producing Karma
4. Deluding Karma
5. Life span determining Karma
6. Body making Karma

7. Status determing Karma
8. Obstrective Karma.

Out of these Auyam i.e. life span determing, body making and obstructive karma is important in the present context. samaysara, also agrees with it as its 249th verse indicates.

aukkhayena maranam jivanam jinavarehim pannatam
aum na haranti fuha kaha te maranam kayam fehim.

It is declared by Jaina that death of living beings is caused by disappearance of their age-determining Karma.

The 252nd verse indicates in brief the whole idea of aging of an individual, our on can observe -

Audayena jivadi jivo evam bhamanti savvanhu
aum ca na ditti tuham
kaham nu te jiviyam kayam tehim.[1]

The omniscient ones declare that an organic being lives because of operation of age-karma. The commentary explains that the life of an organic being depends upon the operation of life span (age) Karma. So long as the age karma persists to operate organic being continues to live. When it ceases to be life also ceases to be, since the age karma is entirely self determined its operation it cannot be given by any body else.[2]

It is the life span determing karma which determines the kind and period of life span organism undergoes. But even body determining karma does play an important with life span determining karma: The following six body determining karma. Without which, the life span bondage do not occur:

1. State of being – *Gati nâmaniddhatta âyu'ya*
2. Duration – *Sthiti nâmaniddhatta âyu'ya*
3. Body size – Avagâhana niddhatta Ayushya

4. Number of sense — Jati nâmaniddhatta âyu'ya
5. Number of space points – prade'a âyu'ya
6. Intensity of fruition – Anubhaga âyu'ya[2]

Gati When does bondage of life span occur?

When Gautam asked this question,
Lord answers in Bhagavati,

SeGaA bhante! auye kahiA ka4e? KahiA SamâiGGe Goyama! purame bhave kade purime bhave samainne[1]

Gautam! in the past life one acquires life span of present life. Therefore bondage of next life takes place in the present life.

Factors affecting life span (Causes of reduction of life span)

There are number of factors which can reduce the life span of being. thanam quotes the following reasons as described below:

1. Intense emotional conditions 2. Use of weapons
3. Food too less or too much 4. Physical ailments
5. Falling into pit etc. 6.Touch (snake biting) etc.
7. Stoppage of respiration.

The above causes are quite lucid by themselves. They do not need much verification. However, the third cause has been considered by the scientists is to be verified through experiments as the experiments of Mc Cay and his colleagues clearly demonstrates that. If food is restricted then the total life span of many different vertebrates e.g. Daphnia planarians and some rotifers is increased, the life span of mammals can also be prolonged by restricting food intake. They kept young rats on diet, which was nutritionally adequate but deficient in calories. The effect of this was to prevent rats from reaching maturity and they died at age much greater than animals fed adequately.

Mc-cay noted that rats had lower incidence of diseases of lung middle ear kidney. Such experiments have been repeated by number of people. In general they confirm that dietary restriction either in juvenile period throughout life increase the total life span.[2]

Miller and payne 1968 after a study concluded that rats were prevented from achieving their maximum weight and there for from becoming obese. It may be that some of restricted diet used by workers were effective in prolonging life because. They are prevented or delayed the deterious effects of obesity that less affected ageing process.[3]

Can we modify human ageing and longitivity.

(Although it cannot be said that one can really said one can challenge old-age and death but still it right be thought that after searching for causes of ageing these is hope of finding a cure.) It is probably lore that, we shall never discover our "obxir of life" which will prevent senescence, but it conceivable that we could retard ageing process and shortening of life span by environ mental manipulations.

Our present knowledge suggests that this might be achieved through dietary control.[1]

According to Acharya Mahajna that preventing factors that reduces the life span could lead one to live longer than if not prevented.[2] As he suggests to have less attachment on –

1. Having less attachment and fear.
2. Preventing self from weapons
3. Early care of pain and illnesses
4. Prevention of poisonous touch
5. Moderate food intake
6. Carefulness in walking and moving
7. Regular breathing.

The factors listed by *lhâGaA* suggests that though life span of being cannot be increased, still being more careful regarding accidents, nutrition, psychological and emotional stress can retard ageing process, prevent the early death, thereby increase the longevity.

Soul

immortal (- karma), mortal (+ Karma)

CYCLE OF

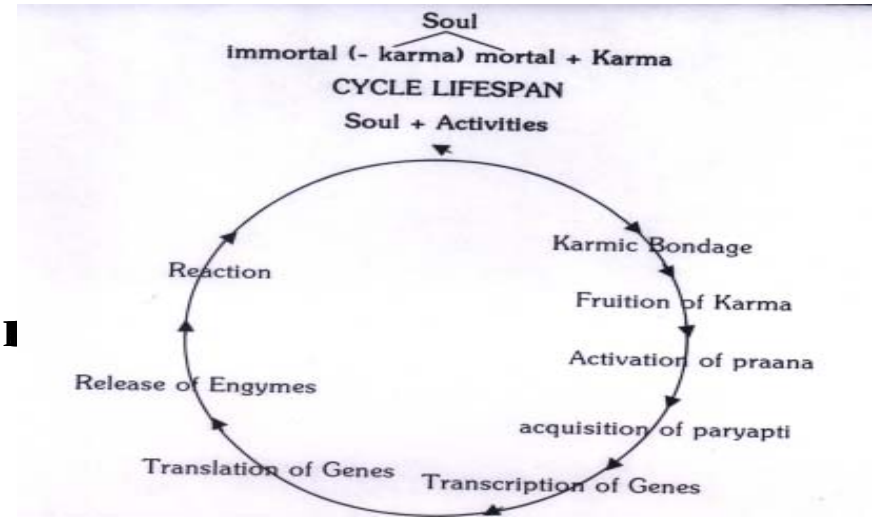

The soul is immortal in nature but is compelled to take birth and die because of bondage of karmic atoms, which acts on soul, accumulates the material which makes it to take birth and spend a span of time on earth and leaves the body when the span is over. In order to lead a span of life it has to accumulate particles, through pary¢pti, used them through pr¢´a and leading formation of genes which when are transcribed and translated determines the kind of life, and all his activities. These activities again lead bondage of new life and the cycle goes on. But effort and environment can bring changes. Thus this cycle plays a vital role.

It can also be explained other way round, as, what regulate your activities is genes. What programmes genes is electric force i.e. vitality, and what regulates vitality is karma, but these karmic bondages are also not final determinant. They can be changed with efforts and environmental changes.Thus it can be concluded that a life – life span is determined by a number of factors, namely - karma, genes, prana and other factors and there exists an intricate relation between these factors. All of them as a team determine the lifespan.

(Footnotes)

[1].Morion J. Lamb – *Biology of ageing, Blackie, Glaslaw 1997, p. 5.*

[2]. *Ibid, p. 143.*

[3] Reader 's Digest*, The End of Ageing, Vol. 50th, January 2004, p. 73.*

[4] Morion J. Lamb*, p. 159.*

[5] Kanugo N.*, Genes and ageing*

[6] *Cambridge University Press, U.S.A., 1994.*

[7] *Times Of India, 23 oct 2007 , p i*

[8] *Gommatsara jivakanda* IV/129, Nemichand Siddhanta Chakravarti, ed. by Bahadur J.K. Todays and Tommorrow Fronters and Publishers, New Delhi, 1991

[9] *Ibid,* IV/130.

[10] *Thanam , 13th* ed. Muni Nathmal, Jain Vishva Bharati, Landun, 1976.

[11] *Samaysara,* 249, 252, by Acarya Kundakunda ed. Prof. A. Chakravarti, Bharatiya Jnanapith, New Delhi, 1989.

[12] *Ibid.*

[13] *Thanam* vii /72, Aubhedapadam, p. 734

[14] *Biology of ageing,* p. 80*.*

[15] *Ibid, p. 81.*

[16] *M*orion, Lomb*, Biology of aging, p. 171.*

[17] Acharya Mahaprajna *, Apane Ghar Mein,* Adarsha Sahitya Sangha Prakashan*,* Delhi, 1995.

बुन्देलखण्ड की जैनमूर्तिकला
(उत्तरप्रदेश के संदर्भ में)

- लाल बहादुर सिंह सोमवंशी

भारतीय इतिहास में बुन्देलखण्ड भारतवर्ष का हृदय है। यह भाग उत्तरी अक्षांश 23^0-45^1 तथा 26^0-50^1 और पूर्वी देशान्तर 77^0-52 तथा 82^0 के मध्य स्थित है।[1] भू-भाग का ''बुन्देलखण्ड'' नाम लगभग चौदहवीं शती ई0 में पड़ा। इसके पूर्व यह क्षेत्र चेदि, जुझौति, जेजाकभुक्ति आदि नामों से जाना जाता था। पृथ्वीराज चौहान के शिलालेख[2] से यह विदित होता है कि 12वीं शताब्दी तक इस देश का नाम जेजाक भुक्ति था। बुन्देल खण्ड इस क्षेत्र का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। इस भू-भाग पर बुन्देलखण्ड के राजाओं का आधिपत्य होने के कारण यह नाम प्रचलित रहा। इस वंश के नामकरण के सम्बन्ध में ''वीर सिंह देव चरित'' तथा ''छत्रप्रकाश'' में वर्णित कथा का संदर्भ दिया जाता है।[3]

बुन्देलखण्ड में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव रहा है। स्वाभाविक ही धर्म की अनेक मूर्तिशिल्प गढी गयी है। यहां के कई पुरातात्विक स्थलों पर जैनधर्म से संबन्धित प्रतिमाऐं सुरक्षित रखी हुई है। जो बुन्देलखण्ड के उत्तरप्रदेश में स्थित है। ये स्थान इस प्रकार हैं:-1. देवगढ़, 2. सीरोन खुर्द, 3. दूधई-चाँदपुर, 4. महोबा, 5. बानपुर।

देवगढ़ का प्राचीन नाम ''लुअच्छगिरि'' था। जो गुर्जर प्रतिहार राजा भोजदेव के शिलालेख में मिलता है।[4] यह उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले में 24^0 15^0 उत्तरी अक्षांश तथा 78^0 $15^{'}$ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है।[5] यह स्थान ललितपुर से 33 कि0मी0 की दूरी पर स्थित है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली की कई मूर्तियाँ देवगढ़ में सुरक्षित है।[6] मूर्ति के ऊपर लता पत्र तथा बिच्छू छिपकली आदि कीड़े चढ़े हुये दिखाये गये है। यहाँ से भरत की कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक मूर्ति में नवनिधियों के साथ अंकित है।

यहां से सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधु-साध्वियों की मूर्तियां हैं जो अन्यत्र कम ही देखने को मिलती है। उपाध्याय की एक मूर्ति पर अभिलिखित लेख से शिष्य परम्परा का ज्ञान होता है। उपाध्याय उच्चासन पर आसीन है। उनके बाँये हाथ में पुस्तक है और दाहिना हाथ उपदेश मुद्रा में है।[7] यहीं साहू जैन संग्रहालय की दशभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति आकर्षक है। यही बाहुबली गोम्मटेश्वर की कैवल्य प्राप्ति के लिए उनके द्वारा की गई कठिन तपस्या को प्रकट करने के लिए उनके शरीर पर लतापत्र बिच्छू आदि को एक स्त्री द्वारा हटाने का दृश्य बड़ा ही मनोहारी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देवगढ़ में मूर्ति शिल्प का विकास 5वीं से 15वीं शताब्दी तक अनवरत चलता रहा।

सिरोन खुर्द ललितपुर जिले का प्रसिद्ध जैनधर्म का केन्द्र है। यह स्थान ललितपुर जिले के उत्तर-पश्चिम में 20 कि0मी0 दूरी पर अवस्थित है। सीरोन खुर्द में ही एक बड़े शिलापट्ट पर महत्वपूर्ण अभिलेख[8] जिसे विद्वानों ने ''सीय डोणी शिलालेख'' बताया है। इसे सर्वप्रथम डॉ0 हाल ने खोजा था जिसे बाद में प्रोफेसर कीलहार्न ने सम्पादित किया। यह सीरोन खुर्द ग्राम के पूर्व में प्राप्त हुआ था।[9] इसी ग्राम के पूर्व में शांतिनाथ का मन्दिर है। जिसे बुन्देल राजाओं ने बनवाया था। इसमें शांतिनाथ[10] की कायोत्सर्ग मुद्रा में विशाल प्रतिमा स्थापित है। सीरोन से ही कई प्रतिमाओं का संग्रह कर 'मड़ावरा' में जैन संग्रहालय का निर्माण किया जा रहा है तथा प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार पत्रिका माह फरवरी 2010 वर्ष 7 अंक में पृष्ठ 27 पर विस्तृत तीर्थंकरों के रंगीन चित्र प्रकाशित हुए हैं। इस स्थान से लगभग दो फर्लांग दूर एक विशाल जैन प्रतिमा खेत में पड़ी है। इसे स्थानीय लोग ''बैठादेव'' कहते हैं पर वास्तव में यह आसनस्थ तीर्थंकर प्रतिमा है। बुन्देलखण्ड में यह विशालतम् प्रतिमा है।

सीरोन खुर्द देवगढ़ से मूर्तिकला में कई साम्यता रखता है। इन दोनों स्थानों पर जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था। फलतः अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। देवगढ़ और सीयडोणी शिलालेख में भोजदेव तथा उनके

उत्तराधिकारियों के नाम आये हैं। दोनों अभिलेखों में वर्णित भोजदेव एक ही हैं।

दूधई-चाँदपुर ललितपुर जिले में आते हैं जो पृथक-पृथक दो स्थान हैं। इनकी संस्कृति कला समान है। इसलिए यहां पर एक साथ ही विवेचन किया गया है। धौर्रा से लगभग 11 कि0मी0 दक्षिण पश्चिम की ओर घने जंगलों में स्थित है।[12] यह ललितपुर से दक्षिण में लगभग 27 कि0मी0 दूर है। प्राचीन काल में यह बड़ा नगर था तथा व्यापारिक मार्ग से जुड़ा था। अल्बरूनी ने भी इसे एक बड़े शहर के रूप में उल्लेख किया है।[13] झाँसी से प्राप्त एक अभिलेख में 'दुग्ध कुप्याग्राम' का उल्लेख आया है।[14] यहां पर दो जैन मंदिर स्थित है। चांदपुर 24'30' उत्तरी अक्षांश तथा 78^0 18 पूर्वी देशान्तर पर मध्य रेलवे के धौर्रा स्टेशन से लगभग 3 कि0मी0 दूर स्थित है।[15] यह गाँव जंगलों के मध्य स्थित है। रेलवे लाइन के पार जैन मंदिर स्थित है। ये मंदिर पूर्णरूपेण खंडित हो चुके हैं।

झाँसी-मानिकपुर मध्य रेलवे लाइन पर महोबा स्टेशन है। जहाँ से शहर लगभग 5 कि0मी0 पड़ता है। अनुश्रुतियों के अनुसार चंदेलवंश के संस्थापक चन्द्रवर्मा ने 16 वर्ष की आयु में यहीं 'महोत्सव' मनाया था। ''महोत्सवनगर'' शब्द का परिवर्तित रूप ही महोबा है। महोबा ब्राह्मण, जैन, और बौद्ध तीनों धर्मों की मुख्य नगर के रूप में जाना जाता है। यहां से जैन धर्म की काफी मूर्तियां प्राप्त हुई है। तीर्थंकरों में ऋषभनाथ, पद्मप्रभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की महोबा से प्राप्त प्रतिमाऐं राजकीय संग्रहालय झांसी में संग्रहीत हैं। अधिकांश मूर्तियों के पादपीठ पर अभिलेख खुदा है। ऋषभनाथ की मूर्ति पर अंकित अभिलेख में तिथि सं. 1228 तथा मूर्तिकार कैल्हण का नाम दिया गया है। इसी प्रकार पद्मप्रभनाथ की सम्वत् 1219 में बनी प्रतिमा पर मूर्तिकार रामदेव का उल्लेख है। राज्य संग्रहालय लखनऊ में महोबा की कई मूर्तियां प्रदर्शित है यथा- बाहुबली 12वीं शती ई0 सम्वत् 1213 की, सुव्रतनाथ मूर्ति की पलथी, लाँक्षनयुक्त, नमिनाथ की चरण चौकी 12वीं सम्वत् 1324 का हिरण लांक्षनयुक्त शांतिनाथ की मूर्ति की चरण चौकी, ऋषभनाथ 12वीं शती ई0 इसके अतिरिक्त महोबा से ही अम्बिका 12वीं

शती खंडित चौबीसी 12वीं शती ई0 की प्रतिमाएं लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महोबा जैन मूर्ति शिल्प का भण्डार रहा होगा। तथा कई जैन मंदिर मिट्टी की गर्त में दबे पड़े होंगे।

अतिशय क्षेत्र बानपुर

महावीर की महक शान्ति का सौम्य यहां अर्पण है।
जैनधर्म के तीर्थ बानपुर तुमको कोटि नमन है।।
बाइस भुजी अनुपम गणेशजी, शांतिनाथ का आलय।
भारत भर में अद्वितीय है सहस्रकूट चैत्यालय।।

- कैलाश मडवैया

उत्तरप्रदेश के झाँसी संभाग में बुन्देलखण्ड के जिला ललितपुर से 48 कि0मी0 तहसील महरौनी से 14 कि0मी0 बानपुर स्थित है। महाभारत में बानपुर का बाणपुर नाम से अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार वाणासुर दैत्य यहां राज्य किया करता था। यहाँ पर लगभग 280X200 फुट के क्षेत्रीय में श्री 1008 अतिशय दिगम्बर जैन क्षेत्र अवस्थित है जिसके अन्तर्गत 10वीं शती ई0 के पूर्व तक की मूर्तियां विद्यमान हैं। प्रांगण में पांच विशाल मंदिर स्थित है। इस निर्जन क्षेत्र को ग्राम-वासी 'खिराडल' के नाम से जानने लगे थे। सन् 1940 के आसपास प्रातः स्मरणीय मुनि 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज वानपुर पधारे और इस क्षेत्र का दर्शन कर दंग रह गए। उन्होंने इसे अपना साधना स्थल बनाया और यही क्षण इस क्षेत्र के लिए पुनर्जीवन का प्रारंभ बन गया। यहीं पर भगवान् शांतिनाथ की 18फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। जनश्रुति यह भी है कि वि0स0 1001 के आसपास 'देवपाल' नाम के एक बानपुर निवासी ग्वाला (गहोही) की धर्मपत्नी ने एक रात स्वप्न में जिनेन्द्रदेव के दर्शन किए। उसकी पत्नी जैनधर्म की परमभक्त थी। उसी की प्रेरणा से देवपाल ने जैनधर्म स्वीकार कर यहाँ मूर्तियों का निर्माण करवाया। भगवान् शांतिनाथ जी की प्रतिमा के दोनों ओर प्राप्त पादमूल में उत्कीर्ण शिलालेख से भी निर्माता के नाम की पुष्टि होती है। मंदिर संख्या एक में भगवान् ऋषभनाथ जी वेदी पर स्थापित है। मूर्ति पर सन् 1142 स्पष्ट अंकित है। मूर्ति की ऊँचाई लगभग डेढ़ फुट है। मंदिर संख्या दो के बाहरी भाग में एक विशाल आठ फुट ऊँची

तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित है। मंदिर संख्या तीन में श्री चरण जी एवं तीर्थंकर की बैठी प्रतिमा है। मंदिर संख्या चार बड़े बाबा का मंदिर कहलाता है। इस मंदिर में सम्वत् 1001 की निर्मित विशालकाय प्रतिमा भगवान शांतिनाथ की है। जिसकी ऊँचाई 18 फुट है। क्षेत्र के पूर्वी भाग में स्थापत्य कला का प्रतीक अद्भुत रमणीक सहस्रकूट चैत्यालय स्थापित है। यह 10वीं शती ई0 का चैत्यालय स्थापत्य कला में बेजोड़ है। चैत्यालय के सम्बन्ध में अहारजी स्थित शिलालेख में विस्तार से वर्णन है जो भगवान शांतिनाथ के पादमूल में स्थित है।[16] इससे यह प्रमाण मिलता है कि सूर्य के सदृश्य यहां भी सम्पन्न देवपाल हुए जिनके द्वारा वानपुर में सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण करवाया गया। शिलालेख सं. 1237 का है। यह चैत्यालय वास्तुकला विशेषज्ञ 'पापट' द्वारा निर्मित है।[17] शिखर पर मध्य से ऊपर उत्तर की ओर एक चौबीसी का भी अंकन है। इसी समूह में वीणा वादिनी सरस्वती अम्बिका, जिसकी गोद में शिशु प्रियंकर और नीचे खड़े खिलौना लिए बालक शुभंकर का अंकन है। चक्रेश्वरी अप्सरा दर्पण लिए इसी मंदिर में शोभायमान है। पुरातत्ववेत्ताओं की दृष्टि में यहां की सरस्वती प्रतिमा को अद्भुत कहा है। यहीं से ही एक शिलाखण्ड जो 4X5फुट 6इंच का है भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया गया है। इस शिलाखण्ड में कुल 70 मूर्तियां उत्कीर्ण है जिनमें 53 तीर्थंकरों की एवं शेष शासन देव-देवियों की मूर्तियां अत्यन्त कलात्मक ढंग से शोभायमान है। मध्य में पद्मासन में तीर्थंकर की एक बड़ी मूर्ति है। दोनों ओर पार्श्वनाथ की खड़ी मूर्ति बनी है। 'क्षुल्लक चिदानन्द स्मृतिग्रंथ' में श्री नीरज जैन जी ने ''वानपुर का चतुरमुख सहस्रकूट जिनालय'' नामक लेख में विस्तार से प्रकाश डाला है। श्री नीरज जैन जी के साथ श्रद्धेय पंडित खुशालचंद जी गोरावाला और श्री पन्नालाल जैन भी इस अतिशय क्षेत्र में पधार चुके हैं। वानपुर में ही दो जैन मंदिर हैं जिनमें एक 'नया मंदिर' और दूसरा 'बड़ा मंदिर' के नाम से जाना जाता है। इस मंदिर में कुछ पुरातत्व महत्व की प्राचीन मूर्तियां विराजमान हैं। मंदिर में प्राचीन भित्तिकला देखते ही बनती है।

निष्कर्ष रूप में इस क्षेत्र ने भारतीय मूर्ति शिल्प को जो महत्वूपर्ण योगदान दिया। संक्षेप इस प्रकार है:- गुप्तकाल की मूर्तिकला का सुन्दरतम

उदाहरण इसी क्षेत्र के हैं। इसी क्षेत्र में चन्देल कला शैली को जन्म दिया। मूर्तियों के निर्माण में कई तरह का ग्रेनाइट, लाल बलुआ पत्थर भूरा काला, हरा पत्थर, संगमरमर धातु की तरह बजने वाला पत्थर आदि बनावट देखी जा सकती है। इतने अधिक मूर्तिकारों के नाम इसी क्षेत्र से ज्ञात हुए है। यहां जैन और हिन्दूधर्म का अच्छा तालमेल रहा है। एक ही स्थान पर एक समय में दोनों धर्मों का पुष्पित पल्लवित समान रूप से हुआ है। जैन आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधु-साध्वियों को इतनी बड़ी संख्या में मूर्तियाँ इसी क्षेत्र से प्राप्त हुई है।

संदर्भ :

1. त्रिवेदी एस0डी0 बुन्देलखण्ड का पुरातत्व पृष्ठ।
2. आ0 स0 रिपो0 भाग 2, पृ. 98
3. दास : ब्रज रत्न, बुन्देलों का इतिहास
4. ए0 एस0 आई0 रिपोर्ट कनिंघम भाग 10 पृ. 107
5. ए0 एस0 आई0 तथैव कनिंघम भाग 10 पृ. 82-89
6. तिवारी मारूति प्रसाद उ0प्र0 (पुरातत्व विशेषांक) वर्ष 9 अंक 12 पृ. 52-54
7. डॉ. त्रिवेदी बुन्देलखण्ड का पुरातत्व पृ. 55
8. ए0 एस0 आई0 रिपोर्ट (कनिंघम) भाग 10, पृ. 103
9. डॉ. त्रिवेदी एस. डी. बुन्देलखण्ड का पुरातत्व पृ. 84
10. जिला गजेटियर झांसी (1965) पृ. 362
11. डॉ. त्रिवेदी बुन्देलखण्ड का पुरातत्व पृ. 86 से साभार
12. जिला गजेटियर झांसी (1965) पृ. 362
13. अल्बरूनीज इंडिया वाल्यूम 1 पृष्ठ 202
14. ''दुग्ध कुप्यो हमयांग्राम' अभिलेख की 10वीं पंक्ति इपी इण्डिका भाग 1, पृ. 214-217
15. जिला गजेटियर झांसी (1965) पृ. 333
16. 'अनेकान्त' पृ. 45
17. अनेकान्त पत्रिका 1963

- संग्रहाध्यक्ष (से.नि.)
64 ए, कृष्णा विहार, दर्पण कालोनी,
पो. आर0 के0 पुरी, ग्वालियर-474011 (म0प्र)

गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त और अनेकान्त

- डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन

मुख्य रूप से गुटनिरपेक्षता का अर्थ है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी में सम्मिलित न होना, हर प्रकार की आक्रमण सन्धि से दूर रहना, शीत युद्ध से अपने को पृथक रखना तथा राष्ट्रहित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना।

गुटनिरपेक्षता की नीति का उद्देश्य विश्वशांति, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के लिए निरन्तर प्रयास करना है। गुटनिरपेक्षता की नीति को सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को है। गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाते समय पं. नेहरू ने कहा था कि- यदि हमने अपने को किसी एक गुट के साथ जोड़ लिया तो एक प्रकार से शायद यह अच्छा कदम सिद्ध होगा। उन्होंने गुट निरपेक्षता को परिभाषित करते हुए कहा कि ''गुटनिरपेक्षता का अर्थ है सैनिक गुटों से अपने आपको अलग रखने का किसी देश द्वारा प्रयत्न करना। इसका अर्थ है जहाँ तक हो सके तथ्यों को सैन्य दृष्टि से न देखना तथा चाहे कभी-कभी ऐसा करना भी पड़ता है, परन्तु हमारा स्वतंत्र दृष्टिकोण होना चाहिए तथा सारे देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होने चाहिए।

1961 में गुट निरपेक्षता के तीन कर्णधारों- पं. नेहरू, कर्नल नासिर और मार्शल टीटो ने इसके पाँच आधार स्वीकार किये थे-

1. सदस्य देश स्वतंत्र नीति पर चलता हो।
2. सदस्य देश उपनिवेश का विरोध करता हो।
3. सदस्य देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो।
4. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो।

5. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दी हो।

गुट निरपेक्षता की जो बुनियाद भारत ने 1946-47 में रखी थी वह समय के साथ अधिक मजबूत हुई है। पं. नेहरू के शब्द उल्लेखनीय है कि जहाँ स्वतंत्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो वहां न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।

गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय शक्तिमूलक राजनीति से पृथक रहना तथा सभी राज्यों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग है।

अनेकान्तवाद भी एक दार्शनिक सिद्धान्त होने की अपेक्षा दार्शनिक मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यापित करने की पद्धति विशेष है। अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयास करना है। अतः वह सत्य की खोज की एक व्यावहारिक पद्धति है जो सत्ता को उसके विविध आयामों में देखने का प्रयत्न करती है। अनेकान्त का कार्य उन सभी दर्शनों की सापेक्षिक सत्यता को उजागर करके उनमें रहे हुए विरोधों को समाप्त करना है। इस प्रकार अनेकान्त एक सिद्धान्त होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक पद्धति ही अधिक है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद की एक दर्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई. चतुर्थशती) को भी अनेकान्तवाद की इस व्यावहारिक महत्ता के आगे नतमस्तक होकर कहना पड़ा-

जेण विणा लोगस्स विवहारो सत्वहाण णि व्वडई।
तस्स भुवणेक्क गुरूणो णमों अणेगंत वायस्स।।[९]

अर्थात् जिसके बिना लोक व्यवहार का निर्वहन भी सर्वथा सम्भव नहीं है, उस संसार के एक मात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है। क्योंकि अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने,

समझने और समझाने का प्रयत्न है। जैन दार्शनिकों ही यह दृढ़ मान्यता है कि अनैकान्तिक दृष्टि के द्वारा परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के मध्य रहे हुए विरोध का परिहार करके उसमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

अनेकान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने अपनी अष्टशती में लिखा है -

सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्ष्णोऽनेकान्तः।[२]

अनेकान्त के स्वरूप का समर्थन करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कथन है- **अर्पितानर्पितासिद्धे।**[३] अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है क्योंकि अर्पित-अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनर्पित-अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है। अतएव एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक प्रकार के व्यवहार की विषय मानी गई है।

आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुचिता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचाराधाराएँ तथा राजतन्त्र, कुलतंत्र, अधिनायक तंत्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। सभी एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। आज का राजनैतिक संघर्ष मात्र आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का भी संघर्ष है। आज अमेरिका, चीन और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम शेष न कर दे।

अनेकान्त को आधार मानकर जैनधर्म या भारतीय प्रज्ञा के धनी आचार्य लोग संसार के झगड़ों को मिटा सकते हैं। दुनियाँ के सभी झगड़ों का कारण एकान्तवाद है। आग्रहवादिता और अहं वृत्ति से उपजी और अनसुलझी समस्याओं का समाधान अनेकान्तवाद में खोजा जा सकता है।

अनेकान्तवाद किसी भी समस्या का समाधान एकान्तिक नहीं, अपितु सापेक्षवाद के आधार पर प्रस्तुत करता है। अनेकांतवाद राजनैतिक जीवन के

विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करता है जिससे मानव जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।

पं. नेहरू ने कहा था कि गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम चुप रहेंगे। जहाँ भी अन्याय होगा, स्वतंत्रता को खतरा होगा या किसी पर आक्रमण किया जायेगा। हम उसका विरोध करेंगे और ऐसे समय में हम तटस्थ नहीं रहेंगे। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र न्याय पक्ष का समर्थन करता है। गुटनिरपेक्षता तृतीय विश्वयुद्ध की जनता को अपना भविष्य निर्मित करने में सहायता देती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका और सोवियत संघ के शीत युद्ध में दोनों में नव स्वतंत्र राष्ट्रों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। भारत जैसे अनेक राज्य शीत युद्ध को विश्वशांति के लिए हानिकारक मानते थे इसलिए उन्होंने शीतयुद्ध का विरोध करना अपनी विदेश नीति का मूल सिद्धान्त बनाया। गुटनिरपेक्षता के समर्थक देशों ने शीतयुद्ध का विरोध तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा राष्ट्रों के मध्य सहयोग का समर्थन किया।

गुटनिरपेक्षता की नीति के समर्थक मानते हैं कि सैन्य और राजनीतिक गठबन्धन विश्वशांति के लिए खतरा है क्योंकि प्रत्येक गठबन्धन का एक प्रतिकूल गठनबंधन है इसलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में भय, शंका, घृणा और अविश्वास को जन्म देता है।

गुटनिरपेक्षता की नीति शीतयुद्ध तथा शक्ति की राजनीति के विरुद्ध शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा पारस्परिक विकास में विश्वास करती है। गुटनिरपेक्षता यह मानती है कि साम्यवादी तथा गैरसाम्यवादी राष्ट्रों के बीच मित्रता पैदा करना तथा उसका विकास करना सम्भव है।

गुटनिपेक्षता की नीति शस्त्रीकरण का विरोध करती है। यह शस्त्रीकरण के स्थान पर शांतिपूर्ण विकास और अधिक समृद्धि को महत्व देती है। गुटनिरपेक्षता की नीति राष्ट्रवाद की समर्थ है। यह नीति प्राचीन राष्ट्रों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के पक्ष में है।

यह नीति जाति रंग के आधार पर भेदभाव न करके विश्वबन्धुत्व और विश्वशांति में विश्वास करती है। यह नीति समयानुकूल परिवर्तन में विश्वास करती है। यह निर्भीकता और साहस की नीति है। यह विश्वशांति

की समर्थक है परन्तु यदि आवश्यक हुआ तो युद्ध का सहारा भी ले सकती है।

गुटनिरपेक्षता अलगाववाद अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से दूर रहने की नीति नहीं है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्णतया भागीदार होने की नीति है। इसका उद्देश्य विश्व राजनीति के मात्र एक असहाय दर्शन बनकर रहना नहीं है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करना और अन्तर्राष्ट्रीयशांति सुरक्षा में सहयोग देना है।

नवस्वतंत्र राष्ट्रों के लिए अपने तीव्र आर्थिक विकास के लिए दोनों ही गुटों के सहयोग और सहायता की आवश्यकता थी। एक गुट में सम्मिलित होने का अर्थ होता है कि पूरी तरह उसी गुट पर निर्भर रहना और दूसरे गुट के सहयोग से वंचित रहना। राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, स्वतंत्र विदेश नीति तथा आर्थिक विकास सभी दृष्टिकोणों से गुटनिरपेक्षता की नीति श्रेयस्कर थी। नव स्वतन्त्र राष्ट्र चाहते थे कि वे केवल औपचारिक रूप से ही स्वतंत्र न हो बल्कि महाशक्तियों के प्रभाव से भी मुक्त हों। उन्होंने यह अनुभव किया कि गुटनिरपेक्षता में अपनी आस्था व्यक्त करके ही अपनी नीति और कार्यवाही को स्वतंत्र रूप से कर सकते हैं। गुटनिरपेक्षता के कारण उन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर ऐसी स्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई जो बड़ी शक्तियों के प्रभुत्व से छोटे देशों को प्राप्त नहीं हो पायी थी। वे राष्ट्र किसी भी बड़े राष्ट्र की छाया मात्र बनना पसंद नहीं करते।

आज तो विज्ञान भी कण के अस्तित्व के लिए वैसा ही प्रतिकण आवश्यक मानता है। यह भी सिद्ध कर दिया है कि वे परस्पर विरोधी नहीं, एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोग हैं और इतना ही नहीं एक दूसरे पर प्रभाव भी डालते हैं।

वास्तव में अनेकान्त सत्य का नहीं, सत्य दृष्टि का विवेचन है। वह एक विचार सरणि है, विभिन्न दिशाओं व दृष्टिकोणों से, अलग-अलग बाजुओं या पहलुओं से अथवा अनेकान्त अधिक से अधिक अपेक्षाओं से अध्ययन करने की प्रक्रिया है।

यदि अनेकान्तवाद का सहयोग लिया जाय, इसके महत्व को समझा जाय, उसकी उपयोगिता समझी जाय और इसके माध्यम से चिंतन किया जाय तो निम्न लक्षण फलित होने की प्रबल संभावना है।[4]–

1. मानवीय एकता का विकास 2. सहअस्तित्व की भावना का विकास 3. व्यवहार में प्रामाणिकता और 4. आम निरीक्षण की प्रवृत्ति का विकास।

अनेकान्त चिंतन से प्राप्त लक्ष्य को व्यवहार में लाने से जीवन, आचरण के बदलाव संभव है। मनुष्य का अहं विरोध, घृणा, असहिष्णुता आदि दुर्गणों को विकसित करता है, जबकि अनेकान्त समन्वय का, विरोध परिहार का मार्ग प्रशस्त करता है। अनेकान्त का मार्ग मानव की ज्ञान, दर्शन एवं आचरण में समन्वय स्थापित कर दु:ख मुक्ति की ओर ले जाता है।

वर्तमान में राजनैतिक जीवन में वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है इस विचार दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्जवल रह सकता है।

राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र वस्तुत: राजनैतिक स्याद्वाद है।[5] आज स्याद्वाद सिद्धान्त का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनितिज्ञों पर है। राजव्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं अपितु जनहित में संरक्षण एवं मानव की पाशविक वृत्तियों के नियंत्रण की है।

आज विश्व की ऐसी चिन्तनशैली की आवश्यकता है, जिससे एकता, समरसता, सहिष्णुता, समता, शांति तथा सामंजस्य एवं समन्वय रह सके।

भारत की पहल पर 1947 के आरम्भ में नई दिल्ली में ''एशियाई'' सम्बन्ध सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें अनेक राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। 18 अप्रैल 1985 के वाण्डुंग सम्मेलन (इण्डोनेशिया) में

आयोजन किया गया जो इस प्रयास में अगला कदम था। इस सम्मेलन में यह बात उभर कर सामने आई कि महाशक्तियाँ अपने फैसले दूसरे पर न लादे। इस सम्मेलन में अनुमोदित सिद्धांत निर्गुट आंदोलन के आधार बने।

वर्तमान में निर्गुट देशों की संख्या 118 है। इनके द्वारा आयोजित शिखर सम्मेलन में मुख्य रूप से जिन पर विचार विमर्श हुआ वह निम्न है-

1. नि:शस्त्रीकरण और आणविक परीक्षणों पर रोक लगाना।
2. विश्वशांति और आणविक परीक्षणों पर रोक लगाना।
3. राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने में शांतिपूर्ण वार्ता का मार्ग अपनाने पर बल दिया गया।
4. महाशक्तियों से अपील की गई कि वे हथियारों की स्पर्धा को समाप्त करे तथा विश्वयुद्ध का खतरा समाप्त करने के लिए वार्तालाप प्रारंभ करे।
5. भारत द्वारा रखे गए आतंकवाद प्रस्ताव पर सदस्य देशों द्वारा आतंकवाद के विरूद्ध कार्यवाही की मांग करना।
6. सदस्य राष्ट्रों द्वारा पृथ्वी रक्षा कोष की स्थापना पर सहमति।
7. बारहवाँ गुट निरपेक्ष सम्मेलन का मुख्य ध्यान व वार्तालाप तीन प्रमुख मुद्दों-शांति नि:शस्त्रीकरण तथा विकास पर केन्द्रित रहा प्रदूषण को कम कर पर्यावरण की रक्षा करना।

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ -

1. अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा में बढ़ावा। 2. विश्वशांति की स्थापना में सकारात्मक भूमिका। 3. नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मांग। 4. विश्व लोकमत के निर्माण में सहायक।

संसार के जितने भी विद्वान् अनेकान्त तर्क पद्धति के परिचय में आते हैं, वे सभी इस पर मुग्ध हो जाते हैं। डॉ. हर्मन जेकोबी, डॉ. स्टीनकोनो, डॉ. टेसीटोरी, डॉ. पारोल्ड, जार्ज बर्नाड शा, जैसे चोटी के पाश्चात्य विद्वानों ने इस सिद्धान्त की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है-

स्याद्वाद या अनेकान्त किसी भी विषय के दो अन्तों को छोड़कर शांति का मध्यम मार्ग ग्रहण करने का आदेश देता है।

भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डॉ. रामधारीसिंह दिनकर का स्पष्ट अभिमत है कि स्याद्वाद का अनुसन्धान भारत की अंहिसा साधना

का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना शीघ्र अपनायेगा विश्वशांति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।[6]

इस प्रकार गुट निरपेक्षता के मूल में अनेकान्त के बीज ही परिलक्षित होते हैं। महात्मा गांधी पर जैन धर्म एवं दर्शन का प्रभाव तो सर्वविदित ही है, पं. नेहरू की भी यदि गुटनिरपेक्षता की घोषणा में इन्हीं सिद्धान्तों पर दृष्टि रही हो तो यह अतिश्योक्ति नहीं है। गुटनिरपेक्षता के आधार सूत्र अनेकान्त पर ही आधारित है। अभी तक गुटनिरपेक्ष सम्मेलन एवं उनमें प्रस्तावित प्रस्ताव तथा उपलब्धियों से भी यही प्रतीत होता है कि अनेकान्त एवं गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ भी समान ही हैं आगे भी इन्हीं सिद्धान्तों पर चलकर विश्वशांति की दिशा में सार्थक प्रयास हो सकता है जिससे विश्वशांति की प्राप्ति संभव हो सकेगी।

संदर्भ :

1. सन्मति तर्क प्रकरण 3/7
2. अष्टशती पृ. 286
3. तत्वार्थसूत्र, 5/31
4. अनेकान्तवाद और उसकी उपयोगिता, डॉ. सुदर्शन मिश्र, पृ. 178
5. अनेकान्तवाद सिद्धान्त और व्यवहार, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 42
6. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 135

– प्राध्यापक संस्कृत
शासकीय कमलाराजा कन्या स्वशासी महाविद्यालय,
ग्वालियर (म0प्र0)

मुनिराज प्रभाचन्द्र (पूर्वनाम-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य-I) की कान्तार-चर्या

-मूल लेखक-अपभ्रंश-महाकवि रइधू
- प्रो. डॉ. राजाराम जैन

जो स्थल पुण्य-पुरुषों की चरणरज से संस्पर्शित होते हैं वे आगामी-युगों में निश्चय ही पावन तीर्थभूमि के रूप में पूजित होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द आदि अनेक आचार्यों ने उनका भक्तिभाव से स्मरण किया है। ऐसे स्थल भारत में बिखरे पड़े हैं, भले ही उनमें से कुछ भौगोलिक परिवर्तनों के कारण लुप्त-विलुप्त हो चुके हों अथवा स्थानीय परिस्थितियों के प्रभाव से उनके नामों में संकोच, विस्तार अथवा कुछ परिवर्तन या परिवर्धन हो चुके हों। जैसे- सम्मेद शिखरजी के लिए शिखरजी, चित्रकूट (राजस्थान) के लिए चित्तौड़, कटवप्र के लिये श्रवणबेलगोला, आरामनगर (अर्थात् बगीचों का नगर) के लिये आरा (बिहार), काशी के लिये वाराणसी या बनारस, पुण्यत्तन के लिये पूना या पुणें, उपाध्याय के लिए झा-आदि-आदि।

काल-प्रभाव से तीर्थ-भूमियों के नामों में भले ही परिवर्तन हो जाय किन्तु उनके चामत्कारिक अतिशय में परिवर्तन नहीं होता जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण है कटवप्र (श्रवणवेलगोला) की कान्तार-चर्या अर्थात् निर्जन अटवी में भी निर्दोष तपस्या के चमत्कार से शास्त्रोक्त-विधि से दैवी-शक्ति द्वारा निर्मित मुनि-आहार की प्राप्ति।

आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) ने वटवप्र की गुफा में आकाशवाणी से जब सुना कि उनका अन्त समय आ गया है, अतः उन्होंने आचार्य विशाख के नेतृत्व में अपने 12000 साधुसंघ को चोल-देश (दक्षिण-भारत) की ओर भेज दिया था।

किन्तु अपने नवदीक्षित पट्ट-शिष्य मगधाधिपति सम्राट चन्द्रगुप्त-मौर्य (प्रथम) को उसके बारम्बार अनुनय-विनय करने पर उक्त आचार्य भद्रबाहु

ने उसे अपने पास ही रहने दिया, किन्तु उन्हें (आचार्य भद्रबाहु को) बड़ी चिंता हुई कि कटवप्र के इस वन्य-प्रान्त में सुकुमार प्रकृति वाले चन्द्रगुप्त अथवा प्रभाचन्द्र के आहार की व्यवस्था कैसे संभव होगी? फिर भी उन्होंने प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) को कान्तार-चर्या करने का आदेश दिया। किन्तु तपोभूमि के चमत्कार से उसकी व्यवस्था किस प्रकार संभव हुई, उसकी तपस्या की दैवी-शक्तियों ने कितनी-कितनी और किस-किस प्रकार परीक्षा ली, उसका अपभ्रंश के महाकवि रइधू (वि.सं. 1440-1536) ने बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है।

मेरी दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु के कान्तार-चर्या संबन्धी उक्त आदेश में दो दृष्टिकोण थे। प्रथम तो यह कि उससे चन्द्रगुप्त के आचरण की परीक्षा हो जाती कि भूख-प्यास के दिनों में भी अपनी इन्द्रियों एवं मन पर वह पूर्ण विजय प्राप्त कर सका है या नहीं? अथवा, उसके शिथिलाचारी होने की कोई सम्भावना तो नहीं है? दूसरा यह कि यदि उसने यथार्थ तपस्या की है, तो उसके प्रभाव से उसे घने निर्जन जंगल में भी क्या निर्दोष आहार मिल सकता है? महाकवि रइधू के वर्णनानुसार देखिए-

Knowing about his short life through Akasvani (devine Voice of Sky at Katavapra, (South India) Bhadrabahu sends the Sadhu-Sangha ahead to Chola Country under the leadership of Acarya Visakhanandin and stays himself with Chandragupta there, Bhadrabhau direts Chandragupta to accept Kantara-Carya (taking ceremonial food in the forest).

तहिं सज्झाउ करिवि रिसि संठिउ
ता मज्झिम-णिसि सद्दु समुट्ठिउ।
तुम्हहँ णिसही इत्थु जि होसइ
गयणसद्दु एरिसु तहु घोसइ।
तं णिसुणिवि मुणिणा जि णिमित्तं
णिय थोबाउ सुमुणिउ पवित्तं।
सिरिविसाहणंदी मुणिपुंगमु
संघ-भारु करिवि सुय-संगमु।
बारह-वरिसइँ गुरुपय-सेवमि
इह अडवि णियकालु जि खेवमि।
जो सिस्सु जि गुरुपय णाराहइ
सो किं तवयरणें सिउ-साहइ।
इय भणंतु थक्कउ परम्त्थें
णउ गउ ताइँ मुणिहँ सत्थें।
भद्दवाहु अणसणु मंडेप्पिणु
संठिउ जीवियास-छंडेप्पिणु।

चंदगुत्ति उववास करंतउ ता तहिं ठिउ गुरु-सेव करंतउ।
ता गुरुणा तहिं तासु जि भासिउ वच्छ णिसुणि जिण-सुत्ति पयासिउ।
घत्ता- गुरुवयण-सुणेप्पिणु पय-पणवेप्पिणु गउ अडविहिं भिक्खाहिं मुणि।
ता कुवि पुणु जक्खणि तवहु परिक्खणि आया तत्थ जि पवरगुणि।।

अर्थात् ऋषिकल्प-भद्रबाहु जब आत्म-ध्यान करते हुये वहाँ स्थित थे, तभी मध्यरात्रि में एक शब्द उत्पन्न हुआ (अर्थात् एक वाणी सुनाई दी) कि- ''तुम्हारी निषिद्धिका (समाधिभूमि) यहाँ ही होगी। आकाशवाणी ने तुम्हारे लिये यही घोषणा की है''।

आकाशवाणी द्वारा अपनी आयु अल्प जानकर आचार्य भद्रबाहु विशाखनन्दी के नेतृत्व में साधुसंघ को चोल-देश की ओर भेज देते हैं। चन्द्रग्रुप्त गुरुसेवा के निमित्त वहीं रह जाता है। भद्रबाहु उसे कान्तार-चर्या के लिए आदेश देते हैं।

उस (आकाश) वाणी को सुनकर ऋषिकल्प-भद्रबाहु ने अपने निमित्त-ज्ञान से जान लिया कि ''अपने पवित्र मुनिपद की आयु अब थोड़ी ही रह गयी है।'' अत: उन्होंने श्रुतज्ञानी श्री विशाखनन्दि-मुनिपुंगव को संघ का आधार (नायक आचार्य) बनाकर सबसे क्षमापण (क्षमा) कर संघ को विसर्जित कर दिया (आगे भेज दिया) और पावन महामुनि चन्द्रगुप्त उन्हीं ऋषिकल्प के पास यह सोचते हुये रह गये कि- ''बारह वर्षों तक गुरुपद (चरणों) की सेवा करता हुआ इसी अटवी में मैं अपने समय को व्यतीत करता रहूँगा। जो शिष्य अपने गुरु के पदों की आराधना नहीं करता, वह तत्पश्चरण से शिव-साधना क्या करेगा?'' इस प्रकार कहते हुए वे चन्द्रगुप्त-महामुनि परमार्थ से (निश्चय से) वहीं ठहर गये और उन विशाख आदि मुनीन्द्रों के साथ उन्होंने आगे का विहार नहीं किया।

ऋषि-भद्रबाहु जीवित रहने की आशा छोड़कर अनशन मॉडकर (अर्थात् चतुर्विध-आहार का सर्वथा आजीवन त्यागकर) वहीं कटवप्र के पर्वत-शिखर की गुफा में समाधिस्थ हो गये और चन्द्रगुप्त भी उपवास करते हुए तथा गुरु की सेवा करते हुये वहीं पर स्थित रहे। तभी गुरुश्री भद्रबाहु-स्वामी ने उन चन्द्रगुप्त-मुनि से कहा- ''हे वत्स, सुनो, जिनसूत्र में ऐसा प्रकाशित किया गया है (स्पष्ट किया गया है) कि साधु को वन्य-प्राप्त में भी अपनी

कान्तार (वन)-भिक्षा के लिये जाना चाहिये और वहाँ अलाभ होने पर प्रोषध (उपवास) करना चाहिये। मार्ग का आलोचन प्रथम विधेय है। वह अपने (अन्तराय-) कर्म के प्रमाण रूप जानना चाहिये।''

Muni Chandrahputa has to face Antarayas (Hindrances in taking food as per principle) on account of available food articles which were against the canons. However, from the 4th day he starts getting prescribed pure food.

घत्ता- गुरु के वचनों को सुनकर तथा उनके चरणों में प्रणामकर मुनिराज चन्द्रगुप्त भिक्षा के लिये अटवी में गये। उसी समय वहाँ एक प्रवरगुणी यक्षिणी उस मुनिराज के तप (ब्रह्मचर्य) की परीक्षा के लिये आयी।

कंकण-कडय-विहूसिय णियकरु दक्खालइ छहरस चट्टइ धरु।
मुणिवरु तं पिच्छिवि चिंतइ मणि एहु अजुत्तु ण गिण्हइ बहुगुणि।
गउ बाहुडि अलाहु मुणेप्पिणु गुरुहुँ तं जि अक्खिउ पणवेप्पिणु।
अवरहिं दिसि संपत्तउ जामहिं सिद्ध रसोइ दिट्ठ तिं तामहिं।
णाणाविह रसवत्तिहिं जुत्ती विणु जुवतीए तेण खणि चिंती।
हुय अलाहि गुरु आसमि आयउ तं असेसु रिसि पुरु अभिवायउ।
मुणिणा भव्वु-भव्वु तहु वुत्तउ ठिउ उववासिं पुणु जि पवित्तउ।
अवरदिसहिं गुउ अण्णहिं वासरि एक्कलिय तिय दिट्ठि वणंतरि।
करिकर वद्धंजलि पुणु धरेप्पिणु पडिगाहइ ठा-ठाहु भणेप्पिणु।
तं पि अजुत्तु मुणिवि णिरु चत्तउ जाइवि तिं णियगुरुहुँ पउत्तहु।
रिसि जंपइ तव पुणि संजाया पइँ अभंग रक्खिय वयछाया।
तुरियइँ दियसि अवरदिसि पत्तउ भिक्खाकारणि णिम्मल-चित्तउ।
णयरु एक्कु तिं तत्थ जि दिट्ठउ गोउर-पायारेहिं मणिट्ठिउ।
जिणहर-चउहट्टेहिं रवण्णउ तत्थ पइट्ठउ सवणु रवण्णउ।
सावय दारापेहण थक्कें चंदगुत्ति पडिगाहिउ एक्कें।

घत्ता- विहिपुव्वें मुणिवरु सुरकरिकरवरु चरिय करिवि संपत्तु लहु।
णिय गुरुहु जि भासिउ सयल पयासिउ णयरु इक्कु इत्थु जि पहु।।

कान्तार-चर्या में सिद्धान्त विरुद्ध साधन-सामग्री देखकर चन्द्रगुप्त मुनि को लगातार अन्तराय होता रहता है किन्तु चौथे दिन उन्हें निर्दोष आहार प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् उस यक्षिणि ने कंकण एवं कटक से विभूषित अपने हाथों में धारण किये हुये छहरस सहित चार प्रकार के आहार उन मुनिराज को दिखलाए। उन्हें देखकर बहुगुणी मुनिवर-चन्द्रगुप्त ने अपने मन में विचार किया कि यह अयुक्त है (ठीक नहीं है, इसमें कुछ गड़बड़ है) अतः उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया। उसे अलाभ (अन्तराय) मानकर लौट गये। गुरु के निकट जाकर, प्रणाम कर उन्हें यह समस्त वृतान्त कह सुनाया और प्रत्याख्यान लेकर स्थित हो गये।

दूसरे दिन, उन्होंने पुनः वन-भ्रमण की (कान्तार-चर्या) उत्कण्ठा की और जब वे अन्य दूसरी दिशा में पहुँचे, तब उन्होंने वहाँ सिद्ध की हुई (शाला) रसोई देखी, जो नाना प्रकार के रसों से युक्त थी। किन्तु वह रसोई (तैयार) बिना युवती के थी। इसी कारण मुनिराज ने उस पर तत्काल विचार किया और उस दिन भी अन्तराय हुआ मानकर वे गुरु के आश्रम में लौटे और अभिवादन कर उनको समस्त-वृतान्त निवेदित किया। तब मुनि भद्रबाहु ने उन चन्द्रगुप्त को भव्य-भव्य (बहुत-ठीक-बहुत-ठीक) कहा। पुनः चन्द्रगुप्त पवित्र-भावना से (सम-वीतरागी परिणामों से) उपवास धारण कर स्थित हो गये।

अन्य (तीसरे) दिन वे चन्द्रगुप्त मुनि अन्य दिशा में कान्तार-चर्या हेतु गये। वहाँ वन के बीच में उन्होंने एक अकेली स्त्री देखी। उस अकेली स्त्री ने अपने हाथों में जलयुक्त मिट्टी का घड़ा लेकर उनका ''ठा-ठा'' (अत्र तिष्ठ-अत्र तिष्ठ आदि) कहकर पडगाहन किया। 'अकेली स्त्री से आहार लेना भी अयुक्त है', ऐसा विचारकर मुनिराज चन्द्रगुप्त ने फिर आहार-त्याग किया और जाकर अपने गुरुदेव से निवेदन कर दिया। तब गुरु ने कहा कि ''तुम्हें पुण्यबन्ध हुआ, क्योंकि तुमने व्रत की छाया (शोभा) को अभंग (निरतिचार) रखा (रक्षा की) है।''

निर्मल चित्त चन्द्रगुप्त-मुनि भिक्षा के निमित्त चतुर्थ दिन अन्य दिशा में पहुँचे। यहाँ उन्होंने गोपुर तथा प्राकारों से युक्त चौराहों से रमणीक तथा

मणिनिर्मित जिनगृहों से युक्त एक नगर देखा। वे क्षपणक (चन्द्रगुप्त)-श्रमण वहाँ जा पहुँचे। वहाँ (श्रावकगण अपने-अपने) दरवाजों पर उनकी प्रतीक्षा में खड़े हुये थे। उनमें से एक (श्रावक) ने चन्द्रगुप्त-मुनि को पडगाहा।

घत्ता- ऐरावत हाथी की सूँड के समान श्रेष्ठ हाथों वाले वे मुनिवर विधिपूर्वक (नवधा-भक्ति सहित) चर्या (भिक्षा) करके शीघ्र ही अपने आश्रम में लौट आये और अपने गुरु से बोले- ''हे प्रभु, यहाँ एक नगर है-

तहिं सावय-जण-पवर जि णिवसहिं दाण-पूय-विहि ते णिरु पोसहिं।
एक्कहिं घरि मइँ अज्ज जि भुत्तउ सुयकेवलि तिं णिसुणिवि वुत्तउ।
भुव्वु-भुव्वु संजाउ गुणायर हुवउ णिसल्लु हउँमि वयसायर।
दिणि-दिणि जाइवि तहिं भुंजेव्वउ णियसत्तिए उववासु करेव्वउ।
एण विहाणे सो तहिं णिवसइ घोरतवेण सदेहु किलेसइ।
भद्दबाहु चेयणि झाएप्पिणु धम्मज्झाणे पाण-चएप्पिणु।
गउ सुरहरि रिसि सुयकेवलि तासु कलेवरु ठविउ सिलायलि।
गुरुहुँ पाय गुरुभित्तिहिं लिहियइँ णियचित्तंतरम्मि स णिहियइँ।
चंदगुत्ति संठिउ सेवंतउ गुरुहुँ विणउ तियलोयमंहतउ।

घत्ता- आयरिउ विसाहणंदि सवणे चोल-देसि गउ संघ-जुउ।
एत्तहिं पाडलिपुरि जे जि ठिया तत्थ अईव दुक्कालु हुउ।

अर्थात् ''जहाँ अनेक उत्तम श्रावक-जन निवास करते हैं, और जो दान एवं पूजा-विधि से निरंतर अपने (धर्माचार) को पोषित रखते हैं, वहीं पर मैंने एक घर में आज आहार-ग्रहण किया है।''

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने उसका कथन सुनकर उससे कहा- 'हे भव्य, हे गुणाकर, बहुत भद्र (कल्याणकर) हुआ। हे व्रतसागर, अब मैं निःशल्य हो गया। अब तुम प्रतिदिन जाकर विधि-पूर्वक आहार ले लिया करो और अपनी भक्ति-पूर्वक उपवास भी किया करो। इस प्रकार विधिपूर्वक वह चन्द्रगुप्त-मुनि वहाँ (आश्रम-गुफा में) रहने लगे और घोर तपस्या करते हुये कायक्लेश सहने लगे।

चन्द्रगुप्त मुनि ने श्री श्रुतकेवली-भद्रबाहु का कलेवर (मृत-शरीर) शिलातल पर स्थापित कर दिया। पुनः उनके चरणों को विशाल भींठ (दीवाल) पर लिख दिया (उकेर दिया) और उन्हें अपने चित्त के भीतर भी

निधि के समान स्थापित कर लिया। वे स्वयं गुरु-चरणों की सेवा करते हुए वहीं स्थित रहे। ठीक ही कहा गया है कि- ''तीनों लोकों में गुरु की विनय ही महान् है।''

घत्ता- उधर आचार्य विशाखनन्दि-श्रमण (मुनि) अपने संघ-सहित चोल-देश में पहुँचे और इधर, जो-जो आचार्य पाटलिपुत्र में ठहर गये थे, वहाँ (पाटलिपुत्र में) उन्हें अत्यन्त भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा।

मुनि प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) जब तपस्यारत थे तभी आचार्य विशाखनन्दि अपने 12000 साधुसंघ के साथ चोल-देश से वापिस कटवप्र लौटकर आये। तब उस निर्जन गहन-वन में उनकी आहार-चर्या की विषम-समस्या उत्पन्न हो गइ। इसी चिंता में एक दिन निकल गया।

अगले दिन महामुनि प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) ने आचार्य विशाख से एक विशिष्ट दिशा की ओर संकेत करते हुए ससंघ कान्तार-चर्या (वन्य-प्रान्त में आहार-चर्या) हेतु जाने का निवेदन किया। समयानुसार वे चले और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सभी संघ के आहार-हेतु शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्था है। पूरा नगर सजा हुआ था। श्रावकों ने उनको पडगाह कर आहार-दान दिया और सभी प्रमुदित हो उठे। वहाँ से प्रस्थान करते समय एक साधु ने अपने कमण्डल एक वृक्ष की टहनी पर लटका दिया और नगर-सौन्दर्य देखते-देखते उस कमण्डल को उठाना ही भूल गया और सभी के साथ वापिस अपनी कुटी पर लौट आया। स्मरण आते ही वह कमण्डल उठाने गया तो कमण्डल तो मिल गया किन्तु सजा-धजा नगर लुप्त था तथा वहाँ केवल गहन-वन ही देखने को मिला।

वस्तुत: यह कठोर तपस्वी महामुनि प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) की तपस्या का दैवी-चमत्कार ही था कि इतने बड़े साधु संघ के लिये भी वहां विधिपूर्वक आहार-दा.न मिला।

इसके बाद वे प्रभाचन्द्र महामुनि तो कटवप्र पर ही तपस्यारत रहे किन्तु आचार्य विशाख ने ससंघ पाटलिपुत्र की ओर विहार किया।

इसके बाद ही महाकवि रइधू ने अपने भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त-कथानक में भद्रवाहुकालीन (ई.पू. चतुर्थ सदी) द्वादश-वर्षीय भीषण दुष्काल तथा अन्य अनेक दुखद रोमांचक घटनाओं की चर्चा की है, जो इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

-बी-५/४०सी,सेक्टर-३४,धवलगिरि,नोएडा(यू.पी.)२०१३०१

महावीर जयंती ०२ अप्रैल २०१५ पर विशेष

भगवान महावीर की प्रासंगिकता

- सिद्धार्थ कुमार जैन

युग पुरुष तीर्थंकर कालातीत होते हैं। कैवल्यज्ञान का दिव्य अवदान उन्हें अमरता की सौगात दे जाता है। वे समय की धारा में विलीन नहीं होते हैं। जब भीतर, आलोकित हो जाता है, तो बाहर के कुहासे/ अंधकार मिट जाते हैं। अंधकार तो अज्ञान और मोह का होता है, भगवान महावीर के भीतर से मोह और अज्ञान का अंधेरा समाप्त हो जाने से वे सर्वकालिक ज्योतिर्धर बन गये।

भगवान महावीर की पहचान बाहरी वैभव या चमत्कार से नहीं जुड़ी है। वे सर्वदैशिक व सर्वकालिक इसलिए हो गये कि उन्होंने अपनी आत्म वृत्तियों से युद्ध कर और अन्त:कषायों को परास्त कर विजयी बने। इस आत्मदेवत्व के कारण वे महावीर कहलाये। किसी बाहरी युद्ध के विजय से नहीं, आत्म विजय के कारण उनकी जन्म-जयंती/ जन्म कल्याणक ढाई हजार वर्षो से पूज्य भाव एवं श्रद्धा से मनती आ रही है।

मानवीय- मूल्य कभी पुराने नहीं पड़ते। महावीर की दिव्य- देशना, मानवीय- मूल्यों के संरक्षण/ संवर्द्धन के लिए भारत वसुंधरा पर हुई थी। जिनकी देशना में (1) समता (2) सहिष्णुता (3) सहअस्तित्व (4) संयम और (5) स्वतंत्रता के पंचशील सूत्र उदभासित हुए थे जो आज भी उतने ही सामयिक और प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे जब दिव्य ध्वनि से अवतरित हुए थे।

समता- यह प्रकृति का अवदान है। इसलिए महावीर सा नैसर्गिक पुरुष दूसरा खोज पाना मुश्किल है। उनमें आकाश सी निरालंबता और तरुवर सी निसर्गता थी। जैसे प्रकृति ने उन्हें अवतरित किया हो। आवरण

उन्हें स्वीकार नहीं रहा। उनका दिगम्बरत्व/वीतरागत्व प्रकृति की सच्चाई थी। जैसे प्रकृति में छिपाने को कुछ नहीं है वैसे ही महावीर निरभ्र थे।

भगवान महावीर की खोज- अनीन्द्रिय-मूलक थी, इन्द्रिय जनित नहीं। इन्द्रियों का संबन्ध बाहर से है, पदार्थों से है और विज्ञान की सारी खोज- पदार्थों से जुड़ी है। विज्ञान-शरीर और मन से लेकर भूत तत्वों तक फैला है। जबकि अनीन्द्रिय की खोज वीतराग-विज्ञान पर टिकी है। वह अध्यात्म की यात्रा है। वह आत्मानुसंधान है। वीतराग विज्ञान के हिमालय से समता की पावन गंगा अवतरित होती है। उस गंगा को बुलाने के लिए आत्म-पुरुषार्थ का भागीरथ चाहिए।

जीवन-मृत्यु में जय-पराजय में, सुख-दुख में, प्रशंसा और निंदा में समताशील बने रहना, यह वीतराग-विज्ञान का करिश्मा हो सकता है। संसार- सुवर्ण एवं मृतिका को समभाव से कैसे देख सकता है?

समता- जीव की अपनी मौलिकता है, उसकी प्रकृति है, जबकि विषमता उसकी विकृति है। महावीर का दिव्य संदेश विषमता से बचने का रहा। समता की पावन गंगा के दो कूल है। (1) सहिष्णुता (2) सहअस्तित्व दिगम्बरत्व की कल्पना सहिष्णु बने बिना नहीं की जा सकती। आकाश की ओढ़न और पृथ्वी की बिछावन, आकाश सा हृदय और पृथ्वी सी क्षमा, जब जीवन की परिभाषा बन जाये, तो दिगम्बरत्व की पहचान प्रगट होती है।

साधना चाहे अणुव्रत पालन की हो या महाव्रत के अनुशीलन की, सहिष्णुता के पांव बिना वह लंगड़ी है। अनुशासन बाहरी हो या भीतरी, सहिष्णुता उसकी प्राथमिक शर्त है। इसके बिना स्वतंत्रता, उच्छृखल है। उपसर्ग- सहिष्णुता के मित्र बन जाते हैं। श्रमण साधना में बाईस परिषह कहे गये। सहिष्णुता की ढाल से परिषहों का आक्रमण झेला जा सकता है।

- समता की फसल में सहिष्णुता पैदा होती है।

- विवेक से सहिष्णुता को बल मिलता है और

- सहिष्णुता से सह अस्तित्व की अवधारणा का विकास होता है।

सहअस्तित्व-

- सह अस्तित्व के गर्भ में अनाग्रह के बीज छिपे होते हैं।

– वस्तुतः संघर्ष का जनक हमारी आग्रह वृत्ति है। आग्रह वृति–सत–असत और हेय–उपादेय को नहीं, स्वार्थ को देखती है। आग्रह वृति से मिथ्यात्व को बल मिलता है और जहाँ मिथ्यात्व है, वहां अविवेक है। अविवेक संघर्ष और युद्ध रचता है।

– महाभारत अविवेक का संग्राम था, जो आग्रह की भूमि पर लड़ा गया था।

– भगवान महावीर ने स्याद्वाद और अनेकान्त के आलोक में सह अस्तित्व को प्राण दिये। आचरण में रूपायित हुआ अनेकान्त– सह अस्तित्व की अनुकम्पा से।

– सह अस्तित्व के आंगन में **'परस्परोपग्रहोजीवानाम्'** का अमर सूत्र पुष्प बनकर फला फूला। प्रत्येक प्राणी सापेक्षता और सह अस्तित्व से जुड़ा है। एक का उपकार दूसरे को उपकृत कर रहा है। इसके बिना न जीवन संभव है और न जीवन का विकास।

– प्रकृति में अकारण कुछ नहीं है। भले ही हमारी अज्ञानता उसमें प्रयोजन न ढूंढ पाये। वृक्ष हमसे सांसे ले रहा और हम वृक्षों के कारण प्राणवायु पा रहे हैं। मनुष्य मनुष्य से ही नहीं वृक्षों तक से जुड़ा है।

लेकिन हमारा अहंकार हमें तोड़ता है। अहंकार समस्याएं पैदा करता है।

– सह अस्तित्व आदमी को आदमी से ही नहीं, वरन् चराचर से जोड़ता है। वह समस्याओं का निरसन का विश्वशांति की स्थापना में अहम भूमिका निभाता है।

संयम– मनुष्य के पास 'ज्ञान का अनंत भण्डार है। उसकी पकड़ में सब कुछ कैद हो रहा है, केवल वह स्वयं को नहीं पकड़ पा रहा है। स्वयं को नहीं खोज पा रहा है।

महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन मृत्यु शय्या पर थे। एक पत्रकार ने उसने अंतिम इच्छा जाननी चाही कि मरने के बाद दूसरे जन्म में आप क्या होना चाहेंगे? आइन्स्टीन ने कहा– कुछ भी हो जाऊँ पर एक वैज्ञानिक नहीं।

जिसने सारी जिन्दगी विज्ञान के लिए समर्पित की हो उसके मन में विज्ञान के प्रति इतना अफसोस। आइन्स्टीन ने कहा– सुबह 10 बजे डाक्टरों ने जबाव दे दिया कि तुम चौबीस घंटे से ज्यादा नहीं जी सकोगे। मैंने सैकड़ों

आविष्कार किये मगर उस तत्व की खोज करने का कभी प्रयास नहीं किया, जिसके कारण मैं अब तक जीवित हूँ। जिसके निकल जाने के बाद आइन्स्टीन आइन्स्टीन नहीं मात्र माटी का पुतला रह जायेगा। सबको जाना पर उस 'एक' से अनजाना रहा। उसकी खोज नहीं कर पाया। सही है; जिसे पाना है- जो होना है- वह तुम्हारे भीतर ही है। संयम से उस होने को प्रगट किया जा सकता है। संयम जीवन की बुनियाद है। लेकिन नियम, व्रत, संयम, चरित्र ये सब प्रवचन की वस्तुएं बन गयी हैं। अब तो इन पर सेमिनार भर आयोजित होने लगे हैं।

जीवन से सम्यक् चरित्र कट गया है। इसलिए आज अध्यात्म घुटने टेककर विज्ञान का दास बन गया है। खोटी वृतियों/ कृतियों के कारण उसका ज्ञान चारों खाने चित्त है। चरित्र के नाम पर आदमी छद्म बन गया है। वह मंदिर में आत्म चेतना के सरोवर में तैरता है, परन्तु बाहर निकलते ही शरीर की सेवा में लग जाता है। जो आत्म बोध उसने मंदिर में अर्जित किया था, देहरी पार करते ही संसारार्पण कर देता है। इसलिए चरित्र का फूल मुरझाया हुआ है। इसमें न ताजगी है और न ही सुरभि।

- जीवन में पूज्यता आती है सम्यक् चरित्र और संयमाचरण से।

- वीतराग विज्ञान अद्भुत शब्द है। वीतराग एक सिद्धान्त (Theory) दर्शन हो सकता है, परन्तु उसके साथ विज्ञान जुड़ जाने से उसमें क्रियात्मकता/ प्रयोग (Experiment) जुड़ गया जब जीवन में वीतराग भाव झलकने लगे, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब, तब वह वीतराग विज्ञान बन जाता है।

- **संयम**- आचरण से जुड़ा व्यावहारिक तत्व है, जो श्रम/पुरुषार्थ से पाया जाता है। श्रमण वही जो संयम की परिपूर्णता हासिल करे। महावीर की देशना थी कि चारित्र/ संयम की पूर्णता बिना निर्वाण सुख नहीं मिल सकता।

संयम के अनुशीलन से कर्मों की पराधीनता कट सकती है/ कटती है और आत्मा अपनी मौलिकता में लौटती है।

स्वतन्त्रता- मनुष्य अपनी वासना के कारण परतंत्र/ पराधीन है। अपनी कामनाओं का गुलाम है। हमारी अनंत इच्छाओं/ अभिलाषाओं के चक्रव्यूह ने आत्मा की स्वतंत्रता को ओझल बना दिया है। वह परतंत्र नहीं होना

चाहता परन्तु दूसरों का स्वामी बनकर उसे परतंत्र बनाये रखने में रस लेता है। यही उसकी स्वतंत्रता को बाधित किये है।

भगवान महावीर ने परतंत्रता की बेड़ी/ अदृश्य जंजीरें काटने के लिए पहले मोह को विसर्जित करने की बात कही। मोह दुख का जनक है। जहाँ मोह है वहां परवशता है। मोह कैसे दूर हो। महावीर ने सूत्र कहा:- संसार के प्रति जितना कर्ता और भोक्ता बनोगे कर्मों का बंधन उतना ही जकड़ेगा और मोह के व्यामोह से विरत नहीं हो सकोगे। इसके विपरीत जितना ज्ञाता और दृष्टाभाव अपने अंदर, संसार के प्रति पैदा करोगे उतनी निरासक्ति होगी, अस्पर्श भाव होगा और कर्म बंधन की परवशता से उन्मुक्त होंगे।

- मनुष्य, शरीर का दास बनकर रह गया। देह सौन्दर्य में आत्म सौन्दर्य भूल गया। देह/ इन्द्रियाँ- क्षरणशील हैं इसलिए इनका सौंदर्य भी क्षरणधर्मा है। आत्मा अक्षर है, अतः आत्म-सौंदर्य-शाश्वत है।

- जब तक इन्द्रियों की वासना से ऊपर नहीं उठोगे, स्वतंत्रता कोसों दूर खड़ी रहेगी। अतः मौलिकता में लौटने का सूत्र है: आत्म स्वातंत्र्य का अवबोध। वासनायें- हमारी परतंत्रता का ताना बाना बुनती हैं। इस जाल से छुटकार पाये बिना 'स्वतंत्रता' आकाश कुसुम है।

- विश्व की बेहताशा बढ़ रही हिंसा व क्रूरता, अशांति व आतंकवाद, युद्ध व संघर्ष की विभीषिका ने अहिंसा के मसीहा महावीर को अब ज्यादा प्रासंगिक बना दिया है। अहिंसा की मशाल से ही हिंसा का तमस (अंधकार) दूर होगा।

- विश्व की ज्वलन्त समस्याओं के हल करने के लिए महावीर की अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त आज ज्यादा महत्वपूर्ण बन गये हैं। आण्विक-हथियारों की प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ में महावीर की देशना, ठहरने का शुभ संकेत दे रही है। कह रही है; रुको और रोको इन आण्विक अस्त्रों के बढ़ते भंडारों को, तभी विश्वशांति की वार्ताएँ सार्थक हो सकती हैं।

- कत्लखानों के बाहरी अहातों में मूक पशुओं का जमाव देखकर महावीर की अहिंसा बिलखने लगी। एक दर्द भरा प्रश्न इन पशुओं की ओर से महावीर पूछ रहे हैं राजनीति की सत्ता पर बैठे मनुष्य से कि क्या इन्हें जीने का अधिकार नहीं है ? यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है।

– भोगवाद की संस्कृति में, लिप्सा और अराजकता के इस बदलते परिवेश और पर्यावरण में महावीर ज्यादा प्रासंगिक बन गये हैं। महावीर को पाने की प्यास मनुष्यता का तकाजा है। विवेक/प्रज्ञा की आँख खोलें तो महावीर को सामने खड़ा पायेंगे और यदि संवेदना की/ विवेक की आंख बंद कर ली, तो सही मानिये, सामने खड़े हुए महावीर भी नहीं दिख सकेंगे। महावीर को खोजें और जियें अपने जीवन में।

– संगीत निर्देशक, केन्द्रीय विद्यालय, जशपुर (छ.ग.)

– अर्हं –

– अर्हं हमारा इष्ट है। यह अर्हत् का बीज-मंत्र है।

– अर्हत्– जिसमें अपनी असीम क्षमताओं को प्रकट करने की अर्हता जाग जाती है और जो दूसरों की अर्हता, जगाने में लग जाता है। भगवान् महावीर 'अर्हत्' थे। अर्हं– तीर्थंकर का प्रतीक है।

आनन्द-केन्द्र (थाइमस-ग्रन्थि) में अर्हं का ध्यान कर स्थाई आनंद का अनुभव करें।

– अर्हं है – (i) हमारे अस्तित्व की, हमारे इष्टदेव की स्मृति।

(ii) यह है सहज आनन्द को जाग्रत करने वाला और मानसिक-तनाव को दूर करने वाला, मनोकायिक रोगों से बचाने वाला।

(iii) इसके ध्यान से विकल्प शान्त होते हैं।

अर्हं शब्द-'(i) 'अ'– तैजस शक्ति का स्वरूप है।

(ii) 'र'– अग्नि-बीज है, इससे बुरे संस्कार नष्ट होते हैं।

(iii) 'ह'-आकाश-बीज है, जो चिदाकाश का अनुभव बढ़ाता है।

(iv) 'म्' – एक झंकार जो ज्ञान तंतु सक्रिय बनाता है।

– आचार्य श्री महाप्रज्ञ

(जैनविश्वभारती, फर. 2011) से साभार

कर्मक्षय का प्रधान कारण तप

-डॉ० श्रेयांसकुमार जैन

जैन साधना का लक्ष्य कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है। कर्मक्षय के लिए तप करना आवश्यक है क्योंकि तप के बिना कर्म क्षय नहीं है और जिस क्रिया से कर्मक्षय न हो उसका नाम तप भी नहीं है इसीलिए भट्टाकलंकदेव ने तो कहा ही है कि जो कर्मक्षय के लिए तपा जाय, वह तप है।[१] आचार्य वीरसेन का कहना है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इच्छा का निरोध तप है।[२] वारसाणुवेक्खा में लिखा है कि पञ्चेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषाय का विनिग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिंतन करना तप है।[३] भगवती आराधना के अनुसार अकर्तव्य के त्यागरूप चारित्र में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है, वह तप है।[४] जयसेनाचार्य का कहना है कि रागादि समस्त भाव इच्छाओं के त्याग से स्वस्वरूप में प्रतपन विजयन करना तप है।[५] नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- पांच इन्द्रियों - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और छठा मन को वश में करना, इन पर संयम रखना, इच्छाओं पर पूर्ण रूप से अंकुश लगाना तप है। इस प्रकार आचार्यों द्वारा तप की विविध परिभाषाएं लिखी गई हैं।

व्रत ग्रहण और तप करने से इच्छाओं का निरोध होता है। इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं उन अनन्त इच्छाओं को रोकने का निरुन्धन करने का कार्य, तप करना है। तप से सभी इच्छाएं नष्ट हो जाती है। जब तक इच्छाएं नहीं रुकतीं वहाँ तक तप नहीं है। मन में उद्दाम इच्छाएं पनप रहीं हों और ऊपर से यदि त्याग कर भी दिया गया हो, तो वस्तुतः वह त्याग नहीं है, वह तप नहीं ताप है। तप धर्म साधना का प्राण है। इस विराट विश्व में जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियां हैं और लब्धियां हैं, वे तप से सम्प्राप्त होती हैं। संसार के पदार्थों को छोड़कर तपस्या को अंगीकार करना श्रेष्ठ है किसी आचार्य ने कहा है **''तपोमूला हि सिद्धयः''** समस्त सिद्धियां तपमूलक हैं। आचार्य नेमिचन्द्राचार्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि ''जितनी भी लब्धियां हैं

वे तप से ही सम्प्राप्त होती हैं।[६] तप से आत्मा में एक अद्भुत तेज का संचार होता है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने तप को स्वीकार करने को कहा है।

बौद्धसाहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने साधनाकाल के प्रारंभ में छः वर्ष तक बहुत ही उग्र तप की साधना की थी। जिससे उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, उन्होंने केशलुञ्चन आदि भी किया था। अनशन तप की उपेक्षा कर उसे पूर्ण रूप से न मानकर मध्यममार्ग का उपदेश दिया किन्तु तप का सर्वथा निषेध नहीं किया। उन्होंने चार सर्वश्रेष्ठ मंगल माने हैं, उनमें तप को भी एक मंगल[७] माना और उस तप को सर्वप्रथम स्थान दिया। तथागत ने यह भी कहा- ''मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ और तप की उस पर दृष्टि होती है।[८] एक बार विंबसार से कहा- मैं तपस्या करने के लिए जा रहा हूँ क्योंकि उस मार्ग में मेरा मन लगता है।[९] अंगुत्तर निकाय के दिट्ठिबद्ध सुत्त में तप और व्रत करने की प्रेरणा दी है। संयुक्तनिकाय में कहा है कि तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का अंतरंग स्नान है।[१०] जो जीवन के विकारों के मल को धोकर साफ कर देता है। उक्त कथनों से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य में तप का विशेष महत्त्व प्रतिपादित है।

वैदिकसाहित्य में भी तप का वर्णन भरा पड़ा है। वैदिकसंहिताओं में तप के अर्थ में तेजस् शब्द व्यवहृत हुआ है। जीवन को तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने के लिए तप की साधना के लिए प्रेरणा दी गई है। शतपथ ब्राह्मण[११] में कहा है तप रूप तेजः शक्ति से मानव संसार में विजयश्री को वरण करता है और समृद्धि उसके चरण चूमने को लालायित रहती है। कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख मिलते हैं कि प्रजापति ने तप किया और और उसी के प्रभाव से सृष्टि की[१२] ऋषियों ने कहा है तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।[१३] श्रेष्ठ और परमज्ञान तप से सही प्रगट होता है।[१४] इसी प्रकार सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथ और वैदिकपुराण, आयुर्वेद शास्त्रों में तप की महिमा वर्णित है। यह भारतीय संस्कृति का प्राण तत्त्व है। अतः विस्तार से वर्ण्य है।

जैनधर्म में तप की विशेष महत्ता है, इसलिए जैनाचार्यों ने तप का विस्तार से वर्णन किया है। तप चारित्र का प्रधान अंग है। चारित्र मोक्षप्राप्ति का चरम साधान है। अतः मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ सभी श्रावकाचार एवं श्रमणाचार

संबन्धी ग्रंथों में चारित्र का वर्णन किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अन्त में चारित्र का वर्णन करते हुए तप को सेवन करने के लिए कहा है-

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षांगमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।
पुरुषार्थ ०१९७

सम्यक्चारित्र में गर्भित होने से तप भी आगम में मोक्ष का अंग कहा गया है। इसलिए वह तप भी अपनी शक्ति को नहीं छिपाने वाले और अपने मन को वश में रखने वाले पुरुष के द्वारा सेवन योग्य है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव का भाव है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए तप भी विशेष हेतु है बिना तप अंगीकार के कर्मों की निर्जरा अशक्य है। मोक्षाभिलाषी को मन को वश में रखकर शक्ति को न छिपाकर तप अवश्य ही करना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तपसानिर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा तप को संवर और निर्जरा का मुख्य कारण बताया ही है। तप के बिना मोक्षमार्ग ही प्रशस्त नहीं होता। तप सम्यक्चारित्र में अन्तर्भूत है। चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है और तप के बिना चारित्र नहीं है। अतः तप महत्वपूर्ण है, जो लोग तप की उपेक्षा करते हैं, तप को भी क्रियाकाण्ड जैसे शब्द से व्यवहृत करते हैं उन अज्ञानियों को संबोधन करते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर का कहना है कि तप को क्रिया काण्ड कहकर निज आत्मा के शत्रु मत बन जाना। जो संयम-चारित्र की अवहेलना कर रहा है, ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपनी आत्मा का घात अपने द्वारा ही कर रहा है। ध्यान रखना कभी भी ऐसा मत कह देना कि तप तो क्रियाकाण्ड है। हाँ यदि वह तप परमार्थ से शून्य है, तो क्रियाकाण्ड है, क्योंकि जो व्रती शील व संयम को धारण करके भी परमार्थ से शून्य होते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। परमार्थ से शून्य होकर जो कुछ भी किया जायेगा, वह सब संसार का हेतु बनेगा। जो तप को मोक्षमार्ग नहीं मानता, वह जैन आगम से बाह्य यानि मिथ्यादृष्टि है।[१५]

यहाँ आचार्य श्री तप के माध्यम से सम्यक् तप की चर्चा कर रहे हैं जो कषायों का उपशमन कर जैनाचार्यों द्वारा बताये गये तप की आराधना

करता है, वही मोक्षमार्गी है। वर्तमान में वेश बनाकर कठोर से कठोर क्रियाओं को करते हुए खोटे तप तपे जा रहे हैं, उनसे संसार समाप्त होने वाला नहीं है इसलिए जिनमत में प्रतिपादित तप का आचरण ही कर्मक्षय का निमित्त है।

तप मुख्य रूप से मुनि आचरण का विषय है। मुनि ही महाव्रती होते हैं। सकल संयम महाव्रत कहा जाता है। प्रवचन पर महाव्रत को समझाते हुए कहते हैं- जिनव्रतों को महापुरुष धारण करते हैं, उन व्रतों का नाम महाव्रत है। अथवा जिनव्रतों को धारण करने से आत्मा महान् बन जाती है, उसका नाम महाव्रत होता है। सकलव्रती की तपस्या ही फल देने वाली होती है क्योंकि वह निर्दोष रीति से की जाती है।

आत्मशोधन की साधनभूत प्रक्रिया तप को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का कहा गया है[१६] आचार्य अमृतचन्द्रदेव पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में सकलचारित्र के प्रतिपादन में अनशन, अवमौदर्य विविक्तशयासन, रसत्याग, कायक्लेश, वृत्तेःसंख्या को बाह्य तप कहा है।[१७] इनसे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है। श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा योग मूलगुण हीन नहीं होते हैं। (मूलाचार ३५८)

बाह्य तपों और अभ्यंतर तपों की संख्या और संज्ञा तो सभी आचार्यों ने समान रूप से स्वीकार की है किन्तु क्रम में भेद पाया जाता है जैसे मूलाचार कार ने निम्न क्रम लिखा है-

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्ति परिसंख्या।
कायस्स य परितावो विवित्तसयणासणंछट्ठं।। मूलाचार ५/१४९

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग कायक्लेश तथा विविक्तशयनासन से बाह्य तप के छह भेद है।

तत्त्वार्थसूत्रकार **अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशयासन-काय क्लेशाः बाह्य**[१८] **तपः**। अर्थात् अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयासन और कायक्लेश यह बाह्य तप है।

मूलाचार की परम्परा का अनुसरण तत्त्वार्थसूत्रकार ने संज्ञा के अर्थ में किया है किन्तु मूलाचार में कायक्लेश का उल्लेख पांचवे क्रम पर और विविक्तशयासन का छठे स्थान पर है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में विविक्तशयासन को तृतीय स्थान पर, कायक्लेश को

पांचवे स्थान पर वृत्तिपरिसंख्या छठे स्थान रख तत्त्वार्थसूत्र से भिन्नता अपनायी है। तत्त्वार्थसूत्र में अनशन, अवमौदर्य के बाद वृत्तिपरिसंख्यान का क्रम औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि वृत्तिपरिसंख्यान का सम्बन्ध आहारचर्या से है। विवक्तशयासन के बाद कायक्लेश भी संगतिपूर्ण है। अब अनशन आदि तपों का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। अनशन-खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा परित्याग कर देना अनशन तप है। धवल,[१९] तत्त्वार्थवार्तिक[२०] आदि ग्रन्थों में अनशन तप का वर्णन विस्तार से है।

अवमौदर्य :- भूख से एक ग्रास, दो ग्रास, तीन ग्रास आदि क्रम से भोजन घटाकर लेना, घटते-घटते एक ग्रास मात्र लेना अवमौदर्य तप है। संयम की जागरूकता, दोष, प्रशम, संतोष स्वाध्याय और सुख की सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है।[२१]

विविक्तशय्यासन :- अध्ययन और ध्यान में बाधा करने वाले कारणों के समूह से रहित विविक्त एकान्त एवं पवित्र स्थान में जो शयन/बैठना है विविक्तशय्यासन तप है।[२२] विविक्त (एकान्त) में सोने-बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन के अभाव से जीवों की रक्षा होती है।[२३]

वर्तमान में मुनिजन इस विविक्तशय्यासन तप की उपेक्षा कर रहे हैं। उपेक्षा ही नहीं इस तप को स्वीकार ही नहीं कर रहे हैं। इसी से आश्रम या मठ अथवा स्वनाम से तीर्थ रूप आवासों का निर्माण कराकर रह रहे हैं। आवासों में सर्व सुविधाएं भी एकत्रित की जाती हैं, जिनके कारण वायुकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना होती है। इस आलेख के माध्यम से श्रावकों के लिए बताने का प्रयास है कि तपस्वियों की वसतिका कैसी होती है- शून्य घर, पहाड़ी की गुफा, वृक्ष का मूल, देवकुल, शिक्षाघर, धर्मायतनधर्मशाला किसी के द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर, क्रीडा के लिए आये हुए के आवास के लिए बनाया गया ये सब विविक्त वसतिकाएँ है।[२४] ऐसी वसतिका में रहने वाला साधक कलह आदि दोषों से दूर रहता है। ध्यान में अध्ययन में बाधा को प्राप्त नहीं होता।[२५] जहाँ स्त्री, नपुंसक और पशु हो, उद्गम उत्पादन दोष से रहित वसतिका में साधु को रहना चाहिए।[२६] मूलाचार में स्पष्ट कहा है कि प्रमत्त-अप्रमत्त मुनिराजों को ऐसे स्थानों पर नहीं रहना चाहिए जहाँ राग परिणाम बढ़ें और गृहस्थों का वास हो-

"तियञ्च गाय-भैंस आदि मनुष्य, स्त्री, स्वेच्छाचारिणी, वेश्या आदि भवनवासिनी, व्यन्तर आदि विकारी वेशभूषा वाली देवियाँ अथवा गृहस्थ जन सहित गृहों को/ वसतिकाओं को छोड़ देना चाहिए।[२७]

उक्त जिनाज्ञा को मानते हुए यदि मुनिजन गृहस्थों के साथ कोठियों गृहों में रहना छोड़ दे तो उनकी चर्या तो निर्दोष चलेगी ही और जिनधर्म की प्रभावना भी होगी।

रसत्याग :- रसों के त्याग को रसत्याग कहा जाता है। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक तथा घृतपूर्ण, अपूप, लड्डू आदि को जो त्याग करना है, इनमें एक-एक या सभी का छोड़ना तथा तिक्त, कटुक, कषायले खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।[२८] इन्द्रियों के जीतने वाले मुनिराज घृतादिगरिष्ठ रसों के त्यागी होते हैं।[२९] इस तप में मक्खन, मद्य, मांस, मधु महा अनर्थकारी है। दोषों को उत्पन्न करने वाले होने से विकृतियां हैं। यावज्जीवन सर्वथा त्याज्य हैं।[३०]

तत्त्वार्थवार्तिककार ने रसों के भेद न गिनाकर "**घृतादिरसत्यजनंय**" घृत, दही, गुड़, तेल आदि रसों को छोड़ना रसत्याग है। इतना ही कहा है साथ में प्रश्न किया है कि जितनी भी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं, सभी रस वाली हैं, उन सबका उल्लेख होना चाहिए तब अकलंकदेव ने उत्तर दिया कि यहाँ विशेष रस से प्रयोजन है जो रस इन्द्रियों को विशेष रीति से लालायित करने वाला है, उसी का त्याग आवश्यक है।[३१] तत्त्वार्थसार में नमक को रस नहीं गिनाया। मात्र तेल, क्षीर, इक्षु, दधि और घी को लिया है। तत्त्वार्थवार्तिक में नमक को ग्रहण किया गया है। इस तप से प्रबल इन्द्रियों का विजय होता है। रसऋद्धि आदि महाशक्तियाँ प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।[३२]

कायक्लेश :- अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापन, वृक्षमूल, सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना कायक्लेशतप है।[३३] मूलाचार में कहा है "खड़े होना कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधि नियम ग्रहण करना इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना यह कायक्लेश तप है।[३४] इस तप को आसन शयन आदि क्रियाओं के माध्यम से करना चाहिए। आसन-वीरासन, स्वस्तिकासन वज्रासन, पद्मासन, हस्तिशुण्डासन आदि शयन-शवशया, गोशया, दण्डशया तथा चापशया। इनके सिवाय शरीर से ममत्व छोड़कर श्मशान

आदि में कायोत्सर्ग से खड़े रहना कायक्लेश तप के प्रकार हैं।[३५] दातुन नहीं करना खुजली, स्नान तथा थूकने का त्याग, रात में जागते रहना और केशलोंच ये सब काय क्लेश कहे गये हैं।[३६] कायक्लेश तप करने से विद्वानों को बल ऋद्धि आदि अनेक महाऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला सुख प्राप्त है और कामेन्द्रिय पर विजय होती है।[३७] विषय सुखों में आसक्ति नहीं होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है।[३८]

वृत्ते संख्या (वृत्तेपरिसंख्यान) :- कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पड्गाहन होगा तो आहार लूंगा, नहीं तो नहीं, इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्ति परिसंख्यान है।[३९] एक घर, सात घर, एक गली, अर्द्धग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्ति परिसंख्या तप है।[४०] घरों, दाता, बर्तनों या भोजन का नियम वृत्तिपरिसंख्यानतप है।[४१] यह तप आशा तृष्णा की निवृत्ति के लिए किया जाता है।[४२] वृत्तिपरिसंख्यातनतप करने से योगियों में क्षीर वीरता उत्पन्न होती है। आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं। लोलुपता का भी विनाश होता है।[४३]

बाह्य तपों के विवेचन के बाद अंतरंग तपों का वर्णन पुरुषार्थसिद्धयुपाय में किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव अभ्यन्तर तपों के भेदों का उल्लेख कर उन्हें पालने को कहते हैं -

विनयो वैय्यावृत्यं प्रायश्चितं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्योऽथ ध्यानं भवनि निषेव्यं तपोतरंगमिति।। पु०सि० १९९।।

विनय, वैय्यावृत्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान इन अन्तरंग तपों का सेवन करना चाहिए।

पूर्वाचार्यों ने बाह्यतपों के समान अन्तरंग तपों के नाम तो समान ही दिए हैं किन्तु क्रम में भिन्नता है। आचार्य वट्टकेर प्रायश्चित, विनय वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान व्युत्सर्ग[४४] आचार्य उमास्वामी प्रायश्चित, विनय वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, ध्यान आ०[४५] अमृतचन्द्र विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय, ध्यान।

केवल व्युत्सर्ग और उत्सर्ग शब्द का अन्तर है। ये प्रायश्चित आदि अन्य धर्मावलम्बियों के द्वारा अनभ्यस्त हैं, उनसे नहीं किये जाते हैं। अतः इनको उत्तर और अभ्यंतर तप कहते हैं। वे प्रायश्चित्तादि तप अन्तःकरण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं इसलिए ये अभ्यन्तरतप हैं। अथवा ये

प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते हैं। इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं।[४६] अब इनका वर्णन किया जाता है।

विनय :- विनीत होना विनय है, कषाय का इन्द्रियों का मर्दन करना विनय है अथवा विनय के योग्य गुरुजनों के विषय में यथायोग्य नम्रभाव रखना विनय है।[४७] दर्शन, ज्ञान, तप, चारित्र उपचार विनय का पालन करने वाला मोक्ष का नायक कहा गया है।[४८] विनय, तप, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, उपचार के भेद से चार प्रकार का है और तप को मिलाकर पांच प्रकार है।

वैय्यावृत्य :- आपत्ति का प्रतिकार करना वै यावृत्य है।[४९] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, ध्यान, अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य के लिए पुस्तक आदि उपकरणों को देना, शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा मुक्ति पूर्वक और भी साधर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वै यावृत्य कहलाता है।[५०] मूलाचार में कहा है -

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढा उलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वृत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए।। मूलाचार ३८९

आचार्य आदि पांचों में बाल वृद्ध से सहित गच्छ में वै यावृत्य को कहा गया है, सो सर्व शक्ति से करना चाहिए।

तप और त्याग में आचार्यों ने शक्ति के अनुसार कहा है, किन्तु वै यावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वै यावृत्ति के विशेष महत्व को सूचित किया है। यहाँ विनय के बाद वैयावृत्य रखने का मुख्य कारण है कि अहंकारी किसी की सेवा नहीं कर सकता है। आचार्य वट्टकेर[५१] और आचार्य उमास्वामी ने वै यावृत्य के दस भेद बतलाये हैं।[५२] तपस्वियों की वै यावृत्ति का फल स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रायश्चित :-

आचार्य वट्टकेर लिखते हैं 'अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्व संचित पापों से विशुद्ध हो जाता है, वह प्रायश्चित है, जिससे स्पष्ट तथा पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है, वह तप भी प्रायश्चित कहलाता है।[५३] आचार्य श्री वीरसेन ने भी कहा है कि ''संवेग और निर्वेद से युक्त, अपराध करने वाला साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए

जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित नाम का तपः कर्म है।'[५४] इनके आलोचना, प्रतिक्रमण-तदुभय- विवेक- व्युत्सर्ग- तप- छेद-परिहार-उपस्थापना नौ भेद हैं।[५५]

उत्सर्ग (कायोत्सर्ग) :- शरीर ममत्व तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह के समागम का त्याग करना मुनि का व्युत्सर्ग तप है।[५६] जो शरीर से पूर्णतया निर्ममत्व होते हैं, उन साधुओं के उत्सर्ग तप है जो शरीर पोषण में लगा रहता है उससे यह तप कैसे होगा ? इसके अंतरंग उपाधि और बहिरंग उपाधि दो भेद हैं। इस तप के प्रभाव से कर्मक्षय होते हैं। ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वाध्याय :- स्वयं के अध्याय का अध्ययन जिसमें हो, उसका नाम स्वाध्याय है। वट्टकेर आचार्य कहते हैं कि जिनोपदिष्ट बारह अंगों और चौदह पूर्वो का उपेदश करना, प्रतिपादन आदि करना स्वाध्याय है।[५७] यह परम तप है क्योंकि कर्मों की निर्जरा का जितना समर्थ कारण स्वाध्याय है, उतना अन्य तप नहीं। स्वाध्याय की महिमा शास्त्रों में विस्तार से वर्णित है। स्वाध्याय के पांच भेद बाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश हैं। स्वाध्याय का फल केवलज्ञान प्राप्ति कहा गया है।[५८] आचार्य सकलकीर्ति का कहना है 'जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भाव शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धान्त ग्रंथों का पठन-पाठन करते हैं, उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है।[५९] अतः स्वाध्याय नियमपूर्वक करना परमावश्यक है।

विचार यह करना है कि किसका ध्यान, कौन सा ध्यान कार्यकारी है ? आचार्य उमास्वामी द्वारा समाधान दिया गया है वे कहते हैं ''उत्तम संहनन वाले एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।[६०] अर्थात् उत्तम संहनन धारी पुरुष ही ध्याता हो सकते हैं। एक पदार्थ को लेकर चित्त को उसी में स्थिर कर देना ध्यान है। ध्यान के आर्त्त रौद्र धर्म्य और शुक्ल चार भेद हैं[६१] अन्य प्रकार से निश्चयध्यान और व्यवहारध्यान अथवा प्रशस्तध्यान और अप्रशस्तध्यान रूप से भी भेद बताये गये हैं।

अन्तरंग की सिद्धि के लिए जैसे वटलोई को तपाते हो, पर वटलोई को तपाने मात्र पर दृष्टि नहीं है। दृष्टि दूध पर है, उसी प्रकार मुमुक्षु जीव

बहिरंग तप करता जरूर है। लेकिन दृष्टि अंतरंग आत्म दुग्ध को शुद्ध करने की होती है। यदि अंतरंग पर दृष्टि नहीं है तो बहिरंग तप कार्यकारी नहीं होता। अन्तरंग तप के बिना बहिरंग तप का महत्व हीन बताते हुए बतलाते हैं कि यह सुनिश्चित है कि बहिरंग तपस्या से मुनिराज तो बनते हैं, परन्तु गुणस्थान तभी बनता है, जब बहिरंग में निर्ग्रन्थ भेष तथा अंतरंग में तप होता है। वही तपस्वी भी है। तपस्वी के बाह्य तप साधना संक्लेशों का निवारण कराती है और अभ्यन्तर तप मनःशुद्धि पूर्वक आत्मशुद्धि में कारण होते हैं। आत्मशुद्धि के साथ अनन्त कर्मों की निर्जरा तप के द्वारा ही होती है। इसीलिए तप को आत्मोत्थान का प्रशस्त पथ कहना सयुक्तिक ही है।

संदर्भ :

१. कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः। तत्त्वार्थवार्तिक ९/६/१७ पृ. ५९८
२. तिण्णरयणणभाविब्भावट्ठमिच्छणिरोहो। धवल ३/५/४
३. विसयकसायविणिग्गहभावं काऊणझाणमज्झाए।
जो भावइ अप्पमाणं तस्स तवं होदिणियमेण।। वारसअणुवेक्ख १७७
४. भगवती आरधना १० ५. प्रवचनसार गाथा ७९ की तात्पर्यवृत्ति
६. महामंगलसुत्त ७. सद्दाबीजंतमोवुट्ठि (कासी भारद्वाज सुत्त)
८. सुत्तनिपात पवज्जासुत्त
९. तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानयनोदकम्। संयुक्तनिकाय १/१/१८
१०. तपसा वै लोकं जयंति। शतपथब्राह्मण ३/४/४१०२७
११. इदं वा अग्रनैव किंचनासीत् तदसदेव सन् मनोऽकुरुत स्यामिति तदतप्य।
तस्मातपेनाद धूमो जायत कृष्णयजुर्वेद तै. २/२/९
१२. तपो में प्रतिष्ठा (तै.ब्राह्मण ३/७/७०)
१३. गोपथ ब्राह्मण १/१/९
१४. परिणाम तव वसेणं इमाइं हुंति लद्धओ।।४९२।।
१५. पुरुषार्थदेशना पृ. ४२७
१६. दुविहो य तवायारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।मूलाचार।। पु.सि.
१७. अनशनमवमौदर्यं विविक्तशयासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो ब्राह्मण।।पु.सि.
१८. तत्त्वार्थसूत्र ९/१९
१९. चौथे, छठें, आठवें, दसवें और बारहवें दिन एषणा का ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एम मास, एक ऋतु एक अध्ययन या एकवर्ष्ज तक एषण का त्याग करना अनेषण नाम का तप है। धवन ३/५५
२०. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९ २१. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/३ २२. आचारसार ६/१५

२३. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/१२
२४. सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल भगुंतगार देवंकुले।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि या विवित्ताइं। भगवती आराधना २३३
२५. कलहो वोलो झंझा वा मोहो संकरो ममत्तिं च।
ज्झाणाज्झयणविधादो णत्थि विवित्ता एवसधीए।।भग.अ. २३४
२६. भगवती आराधना २३० से २३२ गाथा
२७. मूलाचार गाथा ३५७
२८. खीरदहीसप्पिलेलगुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायंविल मधुररसाणं च जं चयणं।।मूलाचार ३५२
२९. सर्वार्थसिद्धि ३०. मरणकण्डिका २१९-२०
३१. तत्त्वार्थवार्तिक - सर्वत्याग प्रसंग इतिचेत् न प्रकर्षगते।।४९/८
३२. मूलाचार प्रदीप १८७१ ३३. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/१३ ३४. मूलाचार ३५६
३५. अचारसार ६/१९ ३६. मरणकण्डिका २३४ ३७. मूलाचारप्रदीप १८२५-२६
३८. तत्त्वार्थवार्तिक १/१९/१४ ३९. मूलाचारप्रदीप १८०८ ४०. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/४
४१. मूलाचार ३५ ४२. तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९/४
४३. मूलाचारप्रदीप १८०९
४४. पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विडस्सग्गो अव्यभतरओ तवो एसो।। मूलाचार ३६०
४५. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। त.सू>९/२०
४६. तत्त्वार्थवार्तिक ९/२०/१-३ ४७. आचारसार ६/६९
४८. दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचम गइण यगो भणिओ।। मूला. ३६४
४९. आचारसार ६/८६ ५०. मूलाचार १९७९-८०
५१. (१) गुणाधिकों में (२) उपाध्यायों में (३) तपस्वियों में (४) शिष्यों में (५) दुर्बलों में (६) साधुओं में (७) गुण में (८) साधुओं में कुल में (९) चतुर्विध संघ में (१०) मनोज्ञ में।
५२. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्। त. सू.९/२४
५३. मूलाचार ३६९
५४.धवल पु. १३/५९
५५. आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापना। त.सू. ९/२२
५६. मूलाचारप्रदीप १९९८ ५७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-६९
५८. बाह्यभ्यन्तरोपघ्यो। त.सू. ९/२८
५९. वारसग जिणक्खादं सज्झायं कथितं वुधे । मूलाचार ७/१०
६०. भगवती आराधना १०६ विजयोदया टीका
६१. धवल ९/२५९ ६२. मूलाचारप्रदीप १६५१२-५३

- अध्यक्ष संस्कृत विभाग, दि० जैन कॉलिज, बड़ौत (उ.प्र.) २५०६११

श्रुतपंचमी (२२ मई २०१५) के पावन-प्रसंग पर : विशेष टिप्पण

जिनवाणी माँ के अवतरण का पर्व : श्रुतपंचमी

'षट्खंडागम'

‘शिक्षा से संस्कार’

पर्व को कैसे मनाएं -

पुस्तक समीक्षा

(१) भगवान महावीर का बुनियादी चिंतन

(२) तारण तरण आम्नाय का इतिहास

लेखक- मनमोहन चन्द्र संयोजन- डॉ. मनीषा जैन,
प्रकाशक- अ.भा. श्री तारण तरण जैन महासभा,
प्रथम संस्करण-२०१३, पृष्ठ-४९४, मूल्य : ५०० रुपये।

(३) जैन आगमों में वर्णित वृक्ष एवं पर्यावरणीय अनुचिंतन (एक नई किताब)

पाठकों के पत्र

अनेकान्त

'अनेकान्त'

Year-68, Volume-3 July-Sept. 2015
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त **ANEKANT**

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) **(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)**

संस्थापक Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' **Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'**

सम्पादक मण्डल **Editor**

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना Pt. Nihal Chand Jain- Bina

(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली) Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi

प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नोएडा Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida

प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur

प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 25/- वार्षिक - रु. 100/-

This issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Researc
h Institution for Jainology**)**
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

णमोकार मंत्र : एक भजन

प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं।

आध्यात्मिक पथ के अभिनेता, वीतराग प्रभु विश्व- विजेता।
शरच्चन्द्र सम-श्वेत णमो अरिहंताणं,
प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं ।।1।।

अक्षय अरुज अनंत अचल जो, अटल अरूप अमल निश्चल जो
अजरामर अद्वैत णमो श्री सिद्धाणं,
प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं।।2।।

धर्म संघ के जो संवाहक, निर्मल धर्म-नीति निर्वाहक।
शासन में समवेत णमो आयरियाणं,
प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं।।3।।

आगम अध्यापन में अधिकृत, नील, कमलवत् जीवन अविकृत।
शम, संयम समुपेत णमो उवज्झायाणं,
प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं।।4।।

आत्म साधना लीन अनवरत, विषय-वासनाओं से उपरत।
रागद्वेष निरखेत णमो लोएसव्व साहूणं,

'तुलसी' हे अनिकेत णमो अरिहंताणं।
प्राञ्जल प्रणत सचेत णमो अरिहंताणं।।5।।

- आचार्य श्री तुलसी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. स्थायी स्तम्भ- युगवीर-गुणाख्यान	प्रा. निहालचंद जैन	5-7
2. संपादकीय-दर्शनमोहनीय और....	डॉ. जयकुमार जैन	8-14
3. इतिभासियाइं का दार्शनिक विवेचन	डॉ. धर्मचन्द जैन	15-32
4. जैन साहित्य में लेश्या-विमर्श	डॉ.श्रीमतीराका जैन	33-47
5. गाँधी और जैनदर्शन	प्रो. बच्छराज दूगढ़	48-54
6. अर्जन के साथ विसर्जन के सूत्र उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में	सुधा भण्डारी	55-64
7. Need of the Day-Comparative Study of Indic-religions	Prof. Sagarmal Jain	65-69
8. सम्मइसुत्तं में प्रतिपादित सह-अस्तित्व का दार्शनिक विवेचन	श्रीमती दीप्ति मेहता	70-79
9. न्यायविद्या-स्वरूप एवं परंपरा	डॉ. योगेश कुमार जैन	80-90
10. पुरस्कार एवं सम्मान	वी. के. जैन, महामंत्री	91
11. पुस्तक समीक्षा	प्रा. निहालचंद जैन	92-93
12. पाठकों के पत्र		94
13. नवीन कार्यकारिणी समिति-2015		95
14. वीर सेवा मंदिर के प्रकाशन ग्रन्थों पर विशेष छूट		96

स्थायी-स्तम्भ : 'युगवीर' गुणाख्यान

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक-पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' का जीवनवृत्त एवं साहित्य साधना

-पं. निहालचंद जैन, निदेशक वीर सेवा मंदिर

जीवन परिचय :

जैन पुरातत्त्व इतिहास एवं साहित्य के पुरोधा, प्राच्यविद्या-महार्णव, आचार्य पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार युगवीर' जैन साहित्य-जगत के भीष्मपितामह रहे। इन्हें जैनविद्या शोध के युग-पुरोधा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सरसावा (सहारनपुर) में जन्मे (20 दिसम्बर 1877) आपका बचपन एक मेधावी, प्रतिभा सम्पन्न श्रमशील छात्र के रूप में रहा। घर के धार्मिक संस्कारों का प्रभाव ऐसा पड़ा कि वे नियमित पूजा-पाठ व शास्त्र स्वाध्याय करने लगे।

1902 में मुख्तारगिरी (वकालत) की परीक्षा पास की और सहारनपुर में अपनी वकालत की प्रेक्टिस शुरू की। बाद में 1905 में देवबंद में वकालत करने लगे। धर्मपत्नी के दिवंगत (1918) होने के पश्चात् वे साहित्य साधना की ओर उन्मुख हुए और तत्कालीन त्रिमूर्ति-बाबू सूरजभान जी वकील, डॉ. ज्योतिप्रसाद जी एवं बाबू जुगलकिशोर जी ऐसे क्रांतिकारी विचारधारा के प्रचारक बने जिन्होंने जैन समाज की कुरीतियों और रूढ़ धर्मिक मान्यताओं के विरोध में आवाज उठायी और अन्तर्जातीय विवाह एवं दस्सा पूजाधिकार का समर्थन किया।

साहित्य-साधना :

काव्य-रचना के अंकुर मुख्तार साहब में बाल्यकाल से ही अंकुरित हो गये थे। आचार्य पद्मनंदी की 'अनित्य पंचाशत्' कृति युवा कवि जुगलकिशोर को इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने उसका पद्यानुवाद कर डाला जो 1914 में 'अनित्य भावना के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् 1914 में मुख्तारी छोड़ने के बाद आपका पूरा समय साहित्य साधना में व्यतीत होने लगा। तत्कालीन प्रसिद्ध साप्ताहिक जैन पत्र ''जैन गजट'' के वे सम्पादक बने। उस समय इसकी प्रसिद्धि बुद्धिजीवियों में अत्यधिक थी। अपने क्रांतिकारी विचारों से सुप्त जैन समाज को झकझोर दिया था। आपने सन् 1918 तक जैन गजट

का सम्पादन अबाधगति से किया। स्व. पं. नाथूराम 'प्रेमी' जो हिन्दी सत्साहित्य प्रकाशन के भीष्मपितामह माने जाते थे, आपकी कर्मठता और हिन्दी सत्साहित्य प्रकाशन की तथा स्व. बाबू राजेन्द्रप्रसाद (भारत के प्रथम राष्ट्रपति) ने अपनी आत्मकथा में आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'प्रेमी' जी के ही आग्रह पर आपने 'जैन हितैषी' का सम्पादन सन् 1919 में अपने कंधों पर लिया और उसे नया स्वरूप दिया।

सन् 1920 में आपका एक काव्य संकलन 'वीर पुष्पांजलि' नाम से प्रकाशित हुआ। उस समय वह समाज के घोर विरोध का सामना कर रहे थे। परन्तु अपनी स्थापित मान्यताओं की अकाट्यता से वे विरोधियों से लोहा लेने में पीछे नहीं हटे। उनकी निम्नांकित चार पंक्तियाँ उनके अटूट विश्वास और दृढ़ स्वभाव को रेखांकित करतीं हैं।

सत्य समान कठोर, न्यायसम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास रहित, कूटोक्ति क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंच भर नहीं टलूँगा,
तो भी हूँगा मान्य, ग्राह्य श्रद्धेय बनूँगा।

1929 में आपने दिल्ली के करोलबाग में **'समन्तभद्राश्रम'** की स्थापना की एवं अनेकान्त मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। बाद में उसका नाम 'वीर सेवा मन्दिर' संस्था परिवर्तित कर इस संस्था को दिल्ली से सरसावा ले गये। क्षु. गणेशप्रसाद वर्णी जी की प्रेरणा से सन् 1951 में इसे पुनः दिल्ली ले आये। 16 जुलाई 1954 वीर शासन जयन्ती के सुअवसर पर इसके भव्य भवन का उद्घाटन स्व. साहू शान्ति प्रसाद जी के करकमलों से हुआ। इस संस्था के भवन के निर्माण में स्व. लाला राजकृष्ण (कोयले वाले) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

सन् 1928 में **'मेरी द्रव्य पूजा'** और 1933 में पूज्यपाद देवनन्दी की सिद्ध-भक्ति के पद्यानुवाद **'सिद्धिसोपान'** नाम से प्रकाशित हुई। साथ ही उनकी काव्य कृतियों का एक प्रशस्त संकलन **'युग भारती'** के नाम से भी प्रकाशित हुआ।

पं. जुगलकिशोर जी की साहित्य साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार और प्राचीन जैन साहित्य का अन्य सम्प्रदायों के साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षा, शोध-मंथन आदि का निर्भीकता से प्रकाशित करना। सन् 1913 में आपकी ''जिनपूजाधिकार

मीमांसा'' प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् 1917 में **'ग्रन्थ परीक्षा'** के प्रथम व द्वितीय भाग, सन् 1921 में - तृतीय भाग और 1934 में चतुर्थ भाग प्रकाश में आये। **'ग्रन्थ परीक्षा'** प्रथम भाग में आपने 'उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार और **'जिनसेन त्रिवर्णाचार'** इन तीन ग्रन्थों की परीक्षा की। इसी प्रकार द्वितीय भाग में 'भद्रबाहु संहिता' तृतीय भाग में भट्टारक सोमसेन के त्रिवर्णाचार, धर्म परीक्षा, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और पूज्यपाद उपासकाचार तथा चतुर्थ में सूर्यप्रकाश ग्रन्थ का परीक्षण किया।

'मेरी भावना' और युगवीर- एक दूसरे के पर्यायवाची

'मेरी भावना' पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' की जीवन साधना का मानो घोषणापत्र था। जो सर्वप्रथम **'जैनहितैषी'** पत्रिका के अप्रैल-मई 1916 के संयुक्तांक में प्रकाशित हुई और आज यह एक कालजयी रचना बन गयी है। यह कृति अत्यन्त लोकप्रिय हुई जिसका अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी और कन्नड़ भाषाओं में अनुवाद भी हुआ जिसका उल्लेख कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने अनेकान्त (जन. 1944) में किया था।

मुख्तार साहब की एक बड़ी विशेषता थी कि वे प्राचीन हस्तलिखित पोथियों और गुटकों की तलाश में रहते थे और कोई उत्कृष्ट कृति मिल गई तो उसकी अन्य दूसरी प्रति विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों से मँगाते और उनका गम्भीर अध्ययन कर तुलनात्मक पाठ-भेद खोजकर शुद्ध पाठ को स्वीकार कर उसका अनुवाद करते तथा उसकी मौलिक प्रस्तावना भी लिखते थे। एक बार कानपुर के प्रसिद्ध हकीम श्री कन्हैयालाल जी के आग्रह पर शास्त्र प्रवचन हेतु कानपुर पधारे। हकीम जी के मकान के नीचे एक पंसारी की दुकान थी। जब वे मंदिर जा रहे थे, उन्होंने पंसारी को एक हस्तलिखित ग्रन्थ के पन्ने फाड़कर उनमें सोंठ, हल्दी मिर्च की पुड़िया बनाते देखा। उनकी पैनी दृष्टि ने यह ताड़ लिया कि यह कोई महत्वपूर्ण जैन कृति होना चाहिए। वे तुरन्त पंसारी के पास गये। विनम्रता से बोले- यह जिनवाणी है इसकी यह कैसी दुर्दशा हो रही है? कृपया यह वस्ता मुझे दे दो। बदले में, मैं अखबार लाकर देता हूँ और चाहो तो कुछ कीमत भी। पंसारी भोला था। हकीम जी का किरायेदार था। उसने वह वस्ता मुख्तार साहब को दे दिया। उस बस्ते को जब मुख्तार साहब ने खोला तो उन्हें एक ऐसी कृति मिल गई, जिसकी मुख्तार साहब को वर्षो से तलाश थी। वे अत्यन्त आनंदित हुए। इस प्रकार उनका प्राचीन-साहित्य और इतिहास से बहुत लगाव था।

******

संपादकीय

दर्शनमोहनीय कर्म और उसके आस्रव-बन्ध की मीमांसा

– डॉ. जयकुमार जैन

भारतीय दर्शन-जगत् में कर्मवाद का वैशिष्ट्य सर्वविदित है। क्योंकि कर्म के रहस्य को जाने बिना न तो अध्यात्मवाद को समझा जा सकता है और न पुनर्जन्म एवं मुक्ति की अवधारणा का कोई प्रयोजन रहता है। डॉ. हजारीप्रसाद का कहना है कि कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।[1] सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने 1909 ई. में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित अपने आलेख में लिखा है कि 'भारतीयों में कर्मबन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह उक्त सिद्धान्त को जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता।'[2]

जैन दार्शनिक, जीव को बन्धन में डालने वाले जिस तत्त्व को **कर्म** कहते हैं, किञ्चित स्वरूप भेद होने पर भी उसे वेदान्त **अविद्या** या **माया,** बौद्ध **वासना,** सांख्य-योग **आशय एवं क्लेश,** न्याय-वैशेषिक **धर्माधर्म,** संस्कार एवं अदृष्ट और मीमांसक **अपूर्व** कहते हैं।

जैन मान्यता के अनुसार जिनके द्वारा जीव को परतन्त्र किया जाता है अथवा जो जीव को परतन्त्र करते हैं, उसे कर्म कहा जाता है। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जो किया जाता है, वह कर्म है।[3] आप्तमीमांसा की वसुनन्दी सैद्धान्तिक चक्रवर्ती द्वारा विरचित पदवृत्ति में कहा गया है-

'कर्म मिथ्यात्वासंयमकषाययोगकारणसंचितपुद्गलप्रचय:।'[4] अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के कारण संचित पुद्गल प्रचय को कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक में जो कर्मरूप परिणत होने योग्य नियत पुद्गल हैं, वे जब जीव के मिथ्यात्व आदि परिणाम के अनुसार बन्ध

को प्राप्त हो जाते हैं, तो उन पुद्गलों को कर्म कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ'।।[५]

अर्थात् जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप में परिणमित हो जाते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है। कुन्दकुन्दाचार्य के इस कथन में जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम को परस्पर निमित्त नैमित्तिक कहा गया है।

प्रकृति की अपेक्षा कर्म आठ प्रकार हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन अष्टविध कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कहलाते हैं क्योंकि ये जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन अनुजीवी गुणों का घातकर इन्हें प्रकट नहीं होने देते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म अघाातिया हैं। ये जीव के अनुजीवी गुणों का घात न करके अभाव रूप प्रतिजीवी गुणों को घातने में निमित्त बनते हैं। इनमें मोहनीय कर्म ही नवीन कर्म-बन्ध कराने में कारण बनता है।

मोहनीय का निर्वचन करते हुए श्री सिद्धसेन गणी ने तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में **'मोहयति मोहनं मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्'**[६] कहकर जो मोहित करता है, उसे मोहनीय कहा है। अभिप्राय यह है कि जो कर्म मिथ्यात्व आदि रूप होकर प्राणी को मोहित करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जो पुद्गल द्रव्य स्वरूप कर्म जीव को विमूढ़ (कर्तव्याकर्तव्यशून्य) बना देता है, उसे मोहनीय कहते हैं। जो प्राणियों को सत्-असत् के विवेक से रहित कर देता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में मोहनीय कर्म की उपमा मद्य से देते हुए कहा गया है कि- **'मद्यपानवत् हेयोपादेयविचारविकला।'**[७] अर्थात् मद्यपान के समान हेय और उपादेय के ज्ञान का न होने देना मोहनीय कर्म की प्रकृति है।

मोहनीय कर्म आठों कर्मों में सबसे शक्तिशाली कर्म है, इसे राजा के समान तथा शेष सात कर्मों को प्रजा के समान माना गया है। विनयचन्द ने चौबीसी में कहा है-

'अष्टकर्मनो राजवी हो मोह प्रथम क्षय कीन।'

यह कर्म आत्मा के शुद्ध स्वरूप वीतराग भाव को विकृत करता है, उसे प्रकट नहीं होने देता है। इसके कारण ही आत्मा राग-द्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होकर स्वस्वरूप में रमण नहीं कर पाता है। इस कर्म की समानता मदिरापान से इसलिए की गई है क्योंकि जैसे मदिरा पान करने से मनुष्य पराधीन हो जाता है, उसे अपनी भी प्रतीति नहीं रहती है तथा वह हिताहित को नहीं समझ पाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव तत्त्व का सच्चा श्रद्धान नहीं कर पाता है। कहा भी गया है-

'जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेण विमूढो जीवा उ परव्वसो होइ॥'[८]

मोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है- दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय। जो आत्मा के तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मगुण का घात करता है उसे दर्शनमोहनीय कहते हैं और जो चारित्र गुण का घात करता है उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं।

दर्शनमोहनीय के प्रसंग में दर्शन का अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मगुण है। इस तत्त्वार्थश्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है।[९] पञ्चाध्यायी में दर्शनमोहनीय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

'यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात्॥
तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक्॥[१०]

अर्थात् जिस प्रकार मदिरा आदि के पीने के परिणाम से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है तथा वह सफेद वर्ण की शंख आदि वस्तुओं को विभ्रमवश पीला देखता है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक समाप्त हो जाने से मिथ्यादृष्टि अनात्मीय को आत्मीय समझने लगता है।

जो कर्म तत्त्वार्थश्रद्धान रूप दर्शन को मोहित करता है, उसे दर्शनमोह या दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म का स्वभाव तत्त्वार्थ का अश्रद्धान है। जयसेनाचार्य ने लिखा है कि-

'दर्शनमोहोदये सति निश्चयशुद्धात्मरुचिरहितस्य व्यवहाररत्नत्रय तत्त्वार्थरुचिरहितस्य वा योऽसौ विपरीताभिनिवेशपरिणामः स दर्शनमोहः।'[११]

अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के उदय होने पर जो निश्चय से शुद्धात्मरुचि से हीन विपरीत अभिनिवेश रूप परिणाम है तथा व्यवहार से जो रत्नत्रय एवं तत्त्वार्थ रुचि से हीन विपरीत अभिनिवेश रूप परिणाम है, वह दर्शनमोहनीय है। वास्तव में जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान को विपर्यासित कर देता है, वह दर्शनमोहनीय कर्म है।

दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण पर विचार करते समय सहसा यह विचार आता है कि आचार्य उमास्वामी ने काय, वचन एवं मन की क्रिया को योग कहा है तथा उस योग को ही आस्रव माना है- **'कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आश्रवः।'**[१२] आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, उसका नाम योग है। यह या तो शरीर के निमित्त से होता है या वचन के निमित्त से होता है या मन के निमित्त से होता है। इसलिए निमित्त के भेद से योग को काय, वचन, मन रूप तीन प्रकार का कहा गया है। यह योग आस्रव कहलाता है। यहाँ यह अवधेय है कि आस्रव के लिए तीनों का होना अनिवार्य नहीं है। एकेन्द्रिय जीव के तो केवल एक काययोग ही होता है।

भावयोग और द्रव्ययोग के भेद से योग के दो भेद भी हैं। कर्म एवं नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्तभूत आत्मा की शक्ति विशेष को भावयोग कहते हैं और उस शक्ति के कारण जो आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, उसे द्रव्ययोग कहते हैं। योग के निमित्त से आस्रव के जो शुभ और अशुभ दो भेद कहे गये हैं, वे अघातिया कर्मो की अपेक्षा से हैं, क्योंकि उन्हीं में पुण्य एवं पाप प्रकृतियाँ होती हैं। घातियाकर्म तो पापरूप ही होते हैं, अतः वे अशुभ ही हैं।

केवली के अवर्णवाद, श्रुत के अवर्णवाद, संघ के अवर्णवाद, धर्म के अवर्णवाद और देव के अवर्णवाद से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। पूज्यपाद स्वामी के अनुसार गुणवान् महान् व्यक्तियों में जो दोष नहीं है, उनकी उनमें उद्भावना करना अवर्णवाद कहलाता है- **'गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः।'**[१३]

केवली में वीतरागता और सर्वज्ञपना संभव नहीं है, क्योंकि जगत् में सभी प्राणी रागद्वेषी एवं अज्ञानी देखे जाते हैं। यह केवली का अवर्णवाद है। आगमज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें अज्ञात वस्तुओं का उपदेश होता है, यह श्रुत का अवर्णवाद है। संघ केशलोंच का दुःख भोगता है, वे नरक आदि

का उपदेश करते हैं जबकि नरक आदि नहीं है, यह संघ का अवर्णवाद है। धर्म सुखदायक नही है, क्योंकि धार्मिक दु:खी देखे जाते हैं, यह धर्म का अवर्णवाद है। मूर्ति में पूज्य पुरुष नहीं रहते हैं या देव सुरादि का सेवन करते हैं, यह देव का अवर्णवाद है।[14]

उक्त सभी प्रकार का अवर्णवाद् मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म का जीव के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है, अत: उक्त आस्रव कारणों को गृहीत मिथ्यात्व जन्य दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण समझना चाहिए। जब से जीव है तभी से उसके साथ कर्मसम्बद्ध है। मुर्गी एवं अण्डा के समान किसी को पूर्ववर्ती कहना संभव नहीं है। तथापि जीव अनादि अनन्त है, जबकि कर्म अनादि सान्त है। किन्तु कोई भी कृत विशिष्ट कर्म अनादि नहीं है।

एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान रूप मिथ्यात्व दो प्रकार का है- अगृहीत और गृहीत। मिथ्यात्व कर्म के उदय से अन्योपदेश के बिना ही अनादिकाल से सम्बद्ध मिथ्यात्व को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं तथा जो दूसरों के उपदेश से ग्रहण किया जाता है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। जीव ने अनेकों बार गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ा है, परन्तु वह उसे फिर ग्रहण कर लेता है। आत्मोन्नति के लिए अगृहीत मिथ्यात्व को त्यागकर सम्यक्त्व की उपलब्धि होना अनिवार्य है। तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध के पांच कारण बताये गये हैं- मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[15] दर्शनमोहनीय के बन्ध में ये सभी कारण है। क्योंकि बन्ध को इन पांच कारणों में सर्वप्रथम मिथ्यादर्शन का अभाव होता है, तब कहीं अविरति आदि का अभाव होता है मिथ्यात्व का अभाव किये बिना जो अविरति आदि का अभाव करने के लिए व्रतादि धारण करते हैं, उनका दर्शनमोहनीय का बन्ध होता रहता है। यद्यपि सभी तरह के प्रकृति एवं प्रदेश बन्ध योग से होते हैं, तथापि स्थिति एवं अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।[16] अत: योग एवं कषाय की तीव्रता, मन्दता से बन्ध में भी अन्तर पड़ जाता है।

मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेदों में दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं- सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यड्.मिथ्यात्व। जिसके उदय में जीव को तात्त्विक रुचि तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु उसमें चल, मलिन और अगाढ दोष बने रहते हैं, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। जिसके उदय में जीव सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थश्रद्धान में निरुत्साही होता है, हिताहितविचारशून्य होता है, उसे

मिथ्यात्व कहते हैं। जिस कर्म के उदय से दही एवं गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान उभयरूप श्रद्धान होता है, उसे सम्यड्.मिथ्यात्व कहते हैं। श्री अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं-

'दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेति मोहनीयं द्विधा। तत्र मिथ्यात्वं सम्यड्. मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रकृतिश्चेति दर्शनमोहनीयं त्रिधा। तत्रातत्त्वश्रद्धानकारणं मिथ्यात्वम्। तत्त्वातत्त्वश्रद्धानकारणं सम्यड्.मिथ्यात्वम्। तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं चलमलिनमगाढं करोति यत्सा सम्यक्त्वप्रकृतिः।[17]

अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो मोहनीय के भेद हैं। उनमें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोहनीय के भेद हैं। इन तीन भेदों में मिथ्यात्व वह है, जिससे तत्त्व की श्रद्धा न होकर विपरीत श्रद्धा हो। जिससे तत्त्व, अतत्त्व दोनों की श्रद्धा हो वह सम्यग्मिथ्यात्व है। जो तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन में चल, मलिन एवं अगाढ दोष उत्पन्न करे, वह सम्यक्त्वप्रकृति है।

मोहनीय कर्म जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करता है। यह संसार में सभी दुःखों का मूल है।[18] घातिया कर्मों में शेष तीन तो अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ज्ञान, दर्शन एवं शक्तिप्रकटीकरण में बाधक हैं, किन्तु मोहनीय तो जानने, देखने तथा सामर्थ्य होने पर भी तत्त्वश्रद्धान एवं सम्यक् आचरण नहीं होने देता है। मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य तीन घातिया कर्म तो स्वतः नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।[19]

किसी भी कर्म की मूल प्रकृतियों में अन्य कर्म प्रकृति रूप संक्रमण नही होता है, किन्तु किसी एक कर्म की एक उत्तरप्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तरप्रकृति में संक्रमित हो सकती है। यहाँ यह विशेष है कि आयु कर्म के समान मोहनीय कर्म अपनी उत्तरप्रकृति में संक्रमित नहीं होता है। जैसे नारक आयु अन्य मनुष्य आदि आयु में संक्रमित नहीं होती है, वैसे ही दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय की परस्पर संक्रमित नहीं हो सकते हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है- **'सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुदर्शनचारित्रमोहवर्जनम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, न चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।'**[२०]

संदर्भ :

1. अशोक के फूल- भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या पृ. 67
2. वही, पृष्ठ 67 पर उद्धृत
3. 'कीरइ जीएण हेउहि जेण तो भण्णए कम्मं। - कर्मग्रन्थ (आ. देवचन्द्र) भाग-प्रथम, गाथा-1
4. आत्ममीमांसा 8 की वसुनन्दीकृत वृत्ति।
5. समयसार, गाथा 80
6. तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनगणिकृत वृत्ति, 8.5
7. द्रव्यसंग्रह, गाथा 33 की टीका
8. स्थानांगासूत्र 2.1.5 की टीका
9. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' - तत्त्वार्थसूत्र, 1.2
10. पञ्चाध्यायी, गाथा 2/6-7
11. पञ्चास्तिकाय गाथा 31 की टीका
12. तत्त्वार्थसूत्र, 6.1.2
13. सर्वार्थसिद्धि, 6.13
14. भगवती आराधना की विजयोदया टीका
15. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः।' तत्त्वार्थसूत्र, 8.1
16. सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।' वही, 8.2
17. कर्मप्रकृतिः, पृ. 10-11
18. मोहमूलानि दुक्खाणि।' ऋषिभाषित, 2.7
19. मोहक्षयाज्शानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।' - तत्त्वार्थसूत्र 10
20. सर्वार्थसिद्धि, 8.22

429, पटेल नगर,
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

इसिभासियाइं' का दार्शनिक विवेचन

- डॉ. धर्मचन्द जैन

'इसिभासियाइं' (ऋषिभाषितानि) भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा का एक अद्भुत महनीय ग्रन्थ है, जिसमें जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों परम्पराओं के अर्हत् ऋषियों के मूल्यवान् विचार संगृहीत हैं। विशेषता यह है कि इसे श्वेताम्बर परम्परा के अंग बाह्य आगमों में स्थान प्राप्त है। अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में रचित यह आगम भाषा एवं विषय वस्तु की प्रस्तुति की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। डॉ. सागरमल जैन इसे आचारांग सूत्र के पश्चात् तृतीय-चतुर्थ शती ईसवीय पूर्व की रचना मानते हैं।[१] डॉ. वाल्थर शूब्रिंग इसे तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा से निर्मित ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।[२] डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा लिखती हैं कि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस ग्रंथ-रचना का सही समय निर्धारित करना सम्भव नहीं है, लेकिन भाषा शैली, रचना तथा अन्य आगम एवं व्याख्या-साहित्य में इसके उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ काफी प्राचीन है।[3] 'इसिभासियाइं' का उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य में प्रदत्त अंग बाह्य आगमों की सूची में हुआ है। नन्दीसूत्र में इसे कालिकसूत्रों की सूची में रखा गया है तथा स्थानांगसूत्र में उल्लिखित प्रश्नव्याकरणदशा नामक आगम के दश अध्ययनों में इसे स्थान दिया गया है। समवायांग सूत्र में इसके 45 में से 44 अध्ययनों का नामोल्लेख है। इस प्रकार आगम-साहित्य में उल्लिखित 'इसिभासियाइं' की सम्प्रति प्रकीर्णक आगमों में गणना की जाती है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन दस आगमों पर निर्युक्ति लिखने का संकल्प किया है, उनमें इसिभासियाइं भी एक है, किन्तु इस पर एवं सूर्यप्रज्ञप्ति पर सम्प्रति उनकी कोई निर्युक्ति प्राप्त नहीं होती।

वस्तुतः 'इसिभासियाइं' सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय की एक अमूल्य निधि है, जो जैनाचार्यों की वैचारिक उदारता एवं धार्मिक सहिष्णुता को प्रतिबिम्बित करती है। इसमें नारद, असितदेवल, अंबड, तारायण, याज्ञवल्क्य, मंखलि गोशालक आदि विषयों के वचन संगृहीत हैं, किन्तु उनका खण्डन

नहीं किया गया है। प्राय: इस ग्रन्थ में उन आध्यात्मिक विचारों का संकलन है, जो साधक की साधना में सहायक हैं, वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं, अत: इनका खण्डन किए जाने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है। कुछ स्थानों पर दार्शनिक विचार हैं, जो प्राय: जैनधर्म के अनुकूल हैं। जो कुछ अनुकूल प्रतीत नहीं होते हैं, उनका भी खण्डन न करके जैनाचार्यों द्वारा वैचारिक उदारता का ही परिचय दिया गया है।

यह भारत का सौभाग्य है कि जैन परम्परा में इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण आगम सुरक्षित है। वाल्थर शूब्रिंग जैसे जर्मन विद्वान् ने इसिभासियाइं का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण अपनी व्याख्या के साथ तैयार किया जो सन् 1974 में लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से अज्ञातकर्तृक टीका के साथ प्रकाशित हुआ।[४] अन्य कोई टीका इस आगम पर उपलब्ध नहीं है। इसिभासियाइं में 45 अध्ययन हैं। सभी अध्ययन अलग-अलग विषयों के नाम से ग्रथित हैं। मात्र बीसवें उक्कल अध्ययन में किसी ऋषि का नाम नहीं है। इसिभासियाइं में प्राय: ऋषियों के नाम पर ही अध्ययनों के नाम रखे गए हैं। क्रम से ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं- 1. नारद, 2. वज्जियपुत्त, 3. देविल, 4. अंगरिसी, 5. पुष्पशाल पुत्र, 6. वक्कलचीरी, 7. कुम्मापुत्त, 8. केतलिपुत्र, 9. महाकाश्यप, 10. तेतलिपुत्र, 11. मंखलि पुत्र, 12. याज्ञवल्क्य, 13. मेतार्यभयालि, 14. बाहुक, 15. मधुरायण, 16. शौर्यायण, 17. विदु, 18. वर्षपकृष्ण, 19. आर्यायण, 20. उत्कट (उक्कल) अध्ययन (ऋषि का नाम नहीं), 21. गाथापति पुत्र, 22. दकभाल, 23. रामपुत्र, 24. हरिगिरि, 25. अंबड, 26. मातंग, 27. वारत्रक, 28. आर्द्रक, 29. वर्द्धमान, 30. वायु, 31. पार्श्व, 32. पिंग, 33. अरुण, 34. ऋषिगिरि, 35. उद्दालक, 36. तारायण, 37. श्री गिरि, 38. साइपुत्त (साचिपुत्र, स्वातिपुत्र), 39. संजय, 40. द्वीपायन, 41. इन्द्रनाग, 42. सोम, 43. यम, 44. वरुण, 45. वैश्रमण।

ग्रंथ की प्रथम संग्रहणी गाथा में इन ऋषियों में 20 को तीर्थंकर अरिष्टनेमि, 15 को तीर्थंकर पार्श्व एवं 10 को तीर्थंकर महावीर के काल का कहा गया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौनसे ऋषि किस तीर्थंकर के काल में हुए। समणी कुसुमप्रज्ञा जी ने अपनी मति से 12 ऋषियों को महावीर कालीन, 14 ऋषियों को पार्श्वनाथ कालीन तथा 18

ऋषियों को अरिष्टनेमिकालीन अंगीकार किया है।[५] बीसवें उक्कल अध्ययन में ऋषि का नाम नहीं है। उनके द्वारा प्रदत्त सूची इस प्रकार है :-

महावीर कालीन- अम्बड, आर्द्रक, इन्द्रनाग, पुष्पशालपुत्र, मंखलिगोशालक, महाकाश्यप, मेतार्य भयालि, वर्द्धमान, वल्कलचीरी, वारत्रक,वृजिक पुत्र (वज्जियपुत्त), साचिपुत्र = 12 ऋषि

पार्श्वकालीन- अंगर्षि, कूर्मापुत्र, केतलिपुत्र, गर्दभाल (दकभाल), गाथापति पुत्र तरुण, तेतलिपुत्र, पार्श्व, पिंग, बाहुक, मधुरायण, मार्तङ्, विदु, संजय, हरिगिरि = 14 ऋषि

अरिष्टनेमिकालीन- असित देवल, आर्यायण, उद्दालक, ऋषिगिरि, तारायण, द्वैपायन, नारद, महाशालपुत्र अरुण, यम, याज्ञवल्क्य, रामपुत्र, वरुण, वर्षपकृष्ण, वायु, वैश्रमण, शौर्यायण, श्रीगिरि, सोम = 18 ऋषि

इन ऋषियों में कौन किस परम्परा से सम्बद्ध है, इसका निश्चित निर्धारण करना कठिन है। इसका एक कारण है सार्वभौम आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन। डॉ. शूब्रिंग के अनुसार याज्ञवल्क्य, बाहुक, महाशालपुत्र अरुण, उद्दालक, असित देवल, अंगरिसि और विदु स्पष्टतया औपनिषदिक परम्परा के ऋषि हैं।[६] पिंग, ऋषिगिरि और श्री गिरि को ब्राह्मण-परिव्राजक तथा अम्बड को परिव्राजक कहा गया है, अतः ये वैदिक ऋषि होने चाहिए। भारद्वाज गोत्र से सम्बद्ध होने के कारण अंगरिसि ब्राह्मण परम्परा से सम्बद्ध थे, किन्तु आवश्यक निर्युक्ति, उसकी चूर्णि तथा ऋषिमण्डल आदि ग्रन्थों में अंगरिसि (अंगर्षि) का वर्णन आने से ये जैन साहित्य में भी प्रतिष्ठित रहे। सूत्रकृतांग के अनुसार असित देवल, रामपुत्र, तारायण, बाहुक एवं द्वैपायन वैदिक परम्परा के ऋषि थे।[७] नारद को ब्राह्मण परम्परा का ऋषि माना जाता है। डॉ. शूब्रिंग ने साचिपुत्र, वज्जियपुत्त और महाकाश्यप को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध माना है। मंखलि गोशालक आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। आर्द्रक, कूर्मापुत्र, केतलिपुत्र आदि ऋषियों को निर्ग्रंथ परम्परा से जोड़ा जाता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसिभासियाइं के अध्ययन क्रमांक 4,20,25,32,34,37 एवं 38 को छोड़कर शेष 38 अध्ययनों में ऋषियों के नाम के साथ **'अरहता इसिणा बुइतं'** वाक्यांश प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय है कि ये ऋषि अर्हत् थे। ऋषिमण्डल ग्रन्थ के अनुसार सभी 45

ऋषि मोक्ष को प्राप्त हुए तथा वे सभी प्रत्येकबुद्ध थे।[८] इन ऋषियों के साथ अर्हत् विशेषण लगाना निश्चित रूप से जैन परम्परा की अत्यन्त उदार दृष्टि है। चौथे अंगरिसी (अंगर्षि) के साथ 'भारद्वाज अरहता इसिणा बुइतं' वाक्यांश के माध्यम से भारद्वाज विशेषण उनके वैदिक होने का संकेत करता है। अध्याय पच्चीस के अंबड अध्ययन में अंबड के साथ मात्र 'परिव्राजक' विशेषण लगाया गया है, अर्हत् विशेषण का प्रयोग नहीं है। इसका अर्थ है कि अंबड अर्हत् नहीं था। 32 वें पिंग अध्ययन, 34 वें ऋषिगिरि अध्ययन एवं 37 वें श्रीगिरि अध्ययन में 'माहण परिव्वायगेणं अरहता इसिणा बुइतं' वाक्यांश द्वारा सम्बद्ध ऋषियों को ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत् स्वीकार किया गया है। अर्थात् ये ऋषि वैदिक हैं। 38 वें साचिपुत्र अध्ययन में साचिपुत्र को 'बुद्ध अर्हत्' कहा गया है। इससे उनके बौद्ध होने की सूचना मिलती है। यह समस्त कथन अध्ययनों में प्रयुक्त ऋषियों के विशेषणों के आधार पर है। विद्वानों ने इनके अतिरिक्त भी आधार मानकर इन्हें तत्तत् परम्पराओं में रखा है।

दार्शनिक विवेचन : चार्वाक सम्मत पंचभूतवाद तथा देहात्मवाद

बीसवें उक्कल अध्ययन में चार्वाक मत की प्रस्तुति हुई है। इस अध्ययन में समझाया गया है कि जैसे दण्ड का आदि, मध्य और अन्त मिलकर दण्ड संज्ञा प्राप्त करता है वैसे ही शरीर से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। शरीर का नाश होने पर संसार का नाश हो जाता है। आगे कहा गया है कि जीव पांच महाभूतों के स्कन्धों का समुदाय मात्र है। महाभूतों का नाश होने पर संसार की परम्परा का नाश हो जाता है। सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त तक जीव है। यह शरीर जीता है तब तक प्राणी जीता है, यह उसका जीवन है। जैसे दग्धा बीजों में पुनः अंकुरों की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर उत्पन्न नहीं होता, इसलिए जो अभी मिला है, वही जीवन है।[९] चार्वाक मत के ही सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए उक्कल अध्ययन में कहा गया है कि परलोक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल की प्राप्ति नहीं है। जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है। पुण्य और पाप आत्मा का स्पर्श नहीं करते। पुण्य और पाप निष्फल हैं।[१०]

आत्मा के अकर्तृत्व का उल्लेख :

जैनदर्शन में आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अंगीकार किया गया है, किन्तु उक्कल अध्ययन में देश उत्कट का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए

कहा गया है कि इसके अनुसार जीव या आत्मा का स्वरूप तो अंगीकार किया जाता है, किन्तु उसका कर्तृत्व अंगीकार नहीं किया जाता। सांख्यदर्शन इसी प्रकार की मान्यता रखता है, अतः प्रतीत होता है कि यह सांख्यदर्शन की मान्यता है, किन्तु पूरणकाश्यप और पकुध कात्यायन का मत अक्रियावादी था, अतः सम्भव है यह मान्यता इन दार्शनिकों की भी रही हो।

सृष्टिविषयक मत : पुरुषवाद एवं जल से सृष्टि की उत्पत्ति :

चूंकि इसिभासियाइं में अनेक ऋषियों के वचन उपलब्ध हैं, अतः इसमें लोक या सृष्टि के सम्बन्ध में जैन दृष्टि से भिन्न मत भी प्राप्त होते हैं। **दकभाल अध्ययन** में पुरुषवाद के अनुसार पुरुष किं वा ईश्वर ही प्रधान एवं ज्येष्ठ है, वह ही जगत् का कर्ता है। पुरुष ही सब धर्मों (पदार्थों) का आदि कारण है।[११] ऋग्वेद में भी यह कथन प्राप्त होता है कि पहले यह सब पुरुष ही था एवं आगे भी पुरुष ही होगा वह अमृतत्व का ईश है, किन्तु अन्न से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है।[12] श्री गिरि अध्ययन में वैदिक मान्यतानुसार कथन है कि पहले यहाँ सब ओर जल था। फिर यहाँ अंडा संतप्त हुआ, उससे लोक उत्पन्न हुआ।[१३] यहाँ उसने श्वास लिया अर्थात् सृष्टि उत्पन्न हुई। यह वरुण-विधान है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया है कि पहले हिरण्य मार्ग ही था जो समस्त प्राणियों का स्वामी था।[१४] श्री गिरिऋषि विश्व को मायारूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यह संसार अतीत में मायारूप नहीं था, ऐसा नहीं है, वर्तमान में मायारूप नहीं है, ऐसा नहीं है और भविष्य में मायारूप नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है।[१५]

लोक एवं पंचास्तिकाय की शाश्वतता :

जैनदर्शन सृष्टि को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। वह यह नहीं मानता कि सृष्टि का कभी प्रारम्भ हुआ था। इसिभासियाइं के पार्श्व अध्ययन में भी कहा गया है कि यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यह लोक कभी नहीं है, ऐसा नहीं है, यह लोक कभी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। यह लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। यह लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय और नित्य है।[१६] व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भी लोक एवं अलोक को शाश्वत भाव के रूप में निरूपित किया गया है।[१७] लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक है। षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा काल

द्रव्य की गणना होती है। इनमें से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय के नाम से जाने जाते हैं। पंचास्तिकाय की अवधारणा प्राचीन है, इसकी पुष्टि इसिभासियाइं में प्राप्त उल्लेख से होती है। इसमें षड्द्रव्यों का उल्लेख न होकर पंचास्तिकाय का उल्लेख हुआ है। पंचास्तिकाय के लिए भी लोक की भांति कहा गया है कि पंच अस्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, कभी नहीं हैं, ऐसा नहीं है तथा ये कभी नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है। ये ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित हैं।[१८] षड् द्रव्यों में जीवास्तिकाय जीव है एवं शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं।

पार्श्व अध्ययन में लोक चार प्रकार का कहा गया है-**१. द्रव्यलोक, २. क्षेत्रलोक, ३. काललोक** और **४. भावलोक।** लोक आत्मस्वरूप में अवस्थित है। स्वामित्व की अपेक्षा से यह जीवों का लोक है, रचना की अपेक्षा से जीव और अजीव दोनों का लोक है। लोक का अस्तित्व अनादि अनन्त और पारिणामिक है।[19]

दुःख के कारण एवं उनसे मुक्ति :

भारतीय चिन्तन परम्परा में दुःख से मुक्ति प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। वस्तुतः दुःख से आत्यन्तिक मुक्ति ही मोक्ष है। प्रश्न यह है कि हमें दुःख क्यों होता है? इसिभासियाइं में दुःख के कारणों पर गहन विचार हुआ है। सामान्यतः अज्ञान को दुःख का मूल माना जाता है। ऋषि गाथापतिपुत्र तरुण अज्ञान को ही परम दुःख के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं।।[२०]

अज्ञान परम दुःख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। समस्त प्राणियों के लिए संसार-परम्परा का कारण अज्ञान ही है।

जैनदर्शन के अनुसार अज्ञान का मूल कारण 'मोह' है। इसलिए मोह को भी दुःख का कारण कहा गया है। द्वितीय अध्ययन में **ऋषि वज्जियपुत्त** ऐसा ही कहते हैं-**मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूलं च जम्मणं।**[२१] सभी दुःखों के मूल में मोह है और मोह के कारण ही संसार में जन्म होता है।

जहाँ मोह होता है वहाँ कर्मबन्धन भी होता है और उन बद्धकर्मों का हमें फल भोगना होता है। इसलिए जब तक कर्म हैं तब तक दुःख है। **महाकाश्यप ऋषि** इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं-**कम्ममूलाइं**

दुक्खाइं, कम्ममूलं च जम्मणं।[२२] सभी दु:खों का मूल कारण कर्म है तथा पूर्वकृत कर्म के कारण ही फल भोग हेतु जन्म होता है। कर्म भी दो प्रकार के होते हैं- पुण्य एवं पाप कर्म। इनमें मुख्यत: पापकर्म दु:ख का कारण होता है, अत: **मधुरायण ऋषि** कहते हैं-**पावमूलाणि दुक्खाणि, पावमूलं च जम्मणं।**[२३] सभी दु:ख पापमूलक होते हैं तथा जन्म का मूल भी पाप है। वे अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

संसारे दुक्खमूलं तु, पावं कम्मं पुरेकडं।
पावकम्मणिरोधाय, सम्मं भिक्खू परिव्वए।।[२४]

संसार में दु:ख का मूल पूर्वकृत पापकर्म है, पापकर्म का निरोध करने के लिए भिक्षु को सम्यक्रूप से परिव्रजन करना चाहिए। दु:ख से रहित होना है तो पापकर्म का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि पाप का सद्भाव होने पर दु:ख अवश्य उत्पन्न होता है-**सभावे सति पावस्स, धुवं दुक्खं पसूयते।**[२५]

पाप का घात होने पर दु:ख का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार पुज़्प का विनाष्ठा होने पर फलोत्पत्ति नहीं होती-**पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाते जहा फलं।**[२६] मूल का सिंचन करने पर फल की उत्पत्ति होती है, मूल का घात होने पर फल भी नष्ट हो जाता है-**मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।**[२७] कई बार दु:खी व्यक्ति अपने दु:ख का नाश करने के लिए दूसरों को दु:ख देता है, किन्तु ऐसा करके वह अन्य दु:खों का बंध कर लेता है।[28] कूर्मापुत्र अध्ययन में उत्सुकता को भी दु:ख का कारण कहा गया है-**दुक्खं ऊसुयत्तणं।**[२९] यह उत्सुकता मोह का ही एक रूप है, जिसमें अपेक्षा एवं फलप्राप्ति की कामना निहित है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मोहकर्म ही दु:ख का मूल है, उसके कारण ही पापकर्म किया जाता है तथा मोह के कारण व्यक्ति का ज्ञान आच्छादित रहता है। अर्थात् अज्ञान की दशा में भी मोह कारण है। यह मोहकर्म ही आसक्ति, ममत्व, अहंकार, क्रोध, माया, लोभ आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है।

आत्यन्तिक सुख क्या है, इसे निरूपित करते हुए अड़तीसवें साचिपुत्र अध्ययन में कहा गया है कि **जब सुख से सुख प्राप्त होता है तो वह आत्यन्तिक सुख है।**[३०] इसका तात्पर्य है कि जब सुख की अवस्था

निरन्तर नितनूतन बनी रहे, कभी बाधित न हो वह सुख आत्यन्तिक सुख है। इस सुख के पश्चात् कभी दु:ख नहीं आता है। इन्द्रियजनित सुख के पश्चात् दु:ख की प्राप्ति होती रहती है, अत: ऐसा सुख आत्यन्तिक सुख नहीं हो सकता। सम्भवत: साचिपुत्र (सारिपुत्र / स्वातिपुत्र) बौद्ध हैं, इसलिए वे कहते हैं कि प्रज्ञावान् साधक अनेकविध पदार्थों का त्यागकर कहीं भी लुब्ध नहीं होता, यह बुद्धों की शिक्षा है। नाना शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों के प्रति पण्डित साधक न तो राग करे, न द्वेष करे।[३१] इसी प्रकार की चर्चा ऋषि वर्द्धमान (महावीर) अध्ययन में भी सम्प्राप्त होती है। वहाँ कहा गया है कि मुनि मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श में राग नहीं करता तथा इनके अमनोज्ञ होने पर उनके प्रति द्वेष नहीं करता-**मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हि पावए।**[३२] इस प्रकार आचरण करने वाला साधक मुनि पापकर्म के स्रोत का निरोध करता है। श्रोत्रदि पाँच इन्द्रियाँ यदि दमन नहीं की जाएं तो संसार की हेतु बन जाती हैं और यदि उन्हें नियन्त्रित कर लिया जाए तो वे ही निर्वाण में सहायक हो जाती हैं। जिस प्रकार विनीत घोड़े सारथी को मार्ग पर ले जाते हैं, उसी प्रकार सम्यक् रूप से दान्त इन्द्रियाँ साधक को विषयों में प्रवृत्त नहीं करती।[३३] जो साधक मन एवं कषायों को जीतकर सम्यक् प्रकार से तप करता है वह शुद्धात्मा उसी प्रकार दीप्त होता है जैसे हवन से अग्नि दीप्त होती है।[३४]

वैश्रमण अध्ययन में कहा गया है कि जो व्यक्ति सुख या साता के इच्छुक होकर पापकर्म करते हैं उनका पाप वैसे ही बढ़ता है, जैसे ऋण लेने वाले व्यक्ति का ऋण बढ़ता है। जो जीव वर्तमान सुख की खोज करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते हैं वे बाद में उसी प्रकार दु:ख प्राप्त करते हैं, जैसे कांटे से बिंधी हुई मछली।[३५]

कर्म-सिद्धान्त :

इसिभासियाइं में कर्म-सिद्धान्त के इस नियम की भूरिश: पुष्टि हुई है कि जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, उसके अनुसार उसे फल-प्राप्ति होती है। चतुर्थ अध्ययन में **अंगर्षि** कहते हैं-**सुकडं दुक्कडं वावि कत्तारमणुगच्छति।**[३६] सुकृत हो या दुष्कृत सभी कर्म कर्त्ता का अनुगमन करते हैं, अर्थात् कर्त्ता को उनके फल की प्राप्ति होती है।

मधुरायण ऋषि कहते हैं कि आत्मकृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं भोगती है, अतः आत्मा के हित के लिए पापकारी कार्यों का वर्जन करना चाहिए।[३७] **हरिगिरि अध्ययन** में भी कहा गया है कि प्राणी जो नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करता है उसी के अनुसार नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है।[३८] तीसवें वायु अध्ययन में भी कहा गया है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। उसी प्रकार नाना प्रयोगों से निष्पन्न सुखद या दुःखद कर्म किया जाता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है- **जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं।**[३९] जैनदर्शन में अष्टविध कर्मों का विवेचन प्राप्त होता है। इसिभासियाइं में अष्टविध कर्म शब्द तो आया है,[४०] किन्तु इन कर्मों के नामों का उल्लेख नहीं हुआ है। आठ कर्म हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को आवरित करता है, दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन गुण (स्वसंवेदन) को आवरित करता है, वेदनीय कर्म सुख-दुःख का वेदन कराता है, मोहनीय कर्म दृष्टि एवं आचरण को मलिन करता है, क्रोध, मान, मायादि विकारों को प्रकट करता है। आयु कर्म के कारण मनुष्यादि भव की एक निश्चित अवधि के लिए प्राप्ति होती है। नामकर्म से शरीर, इन्द्रियादि की प्राप्ति होती है। गोत्रकर्म से जीव में उच्चता एवं नीचता के संस्कार आते हैं तथा अन्तराय कर्म के कारण जीव के दान (उदारता), लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (शक्ति) आदि गुण बाधित होते हैं।

कर्म के आदान या आस्रव के कारणों का उल्लेख महाकाश्यप अध्ययन में हुआ है। वहाँ पर मिथ्यात्व, अविरति (अनिवृत्ति), प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्मास्रव का कारण कहा गया है।[४१] जैन दर्शन के तत्त्वार्थसूत्रदि ग्रन्थों में बन्ध-हेतु के ये ही पाँच प्रकार निरूपित हैं। इन्हीं से कर्मों का बंध होता है। ऋषि महाकश्यप का कथन है कि संसारी प्राणी के लिए कर्म का वही स्थान है जो अंडे और बीज का है। कर्म के अनुसार ही जीव सन्तान, भोग एवं नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है।[४२] संसार की परम्परा का मूल पूर्वकृत पुण्य और पाप है। अतः पुण्य एवं पाप के निरोध के लिए सम्यक् परिव्रजन करना चाहिए। संसार में अशान्ति का मूल कर्म है- **कम्ममूलमणिव्वाणं संसारे सव्वदेहिणं।**[४३] संसार के जितने दुःख एवं कष्ट हैं, वे प्रायः पूर्वकृत कर्म के कारण प्राप्त होते हैं। महाकाश्यप अध्ययन

में कहा गया है कि हस्तछेदन, पादछेदन आदि विविध प्रकार के दु:ख पूर्वकृत कर्मों से प्राप्त होते हैं।[४४] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ऋषि महाकाश्यप पापकर्मों को न करने की प्रेरणा कर रहे हैं।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि हैं। महाकाश्यप अध्ययन में बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त, उपक्रम, उत्केर, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।[४५]

हरिगिरि अध्ययन में कहा गया है कि जिस प्रकार ध्वनि की प्रति ध्वनि होती है उसी प्रकार कर्म के अनुसार कान्ति, जाति, वय या अवस्था का निर्माण होता है।[४६] जीव दो प्रकार की वेदनाओं का वेदन करते हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान यावत् मिथ्यादर्शनशल्य आदि 18 पाप करके जीव असाता या दु:ख का वेदन करता है तथा प्राणातिपातविरमण यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरमण से जीव साता अथवा सुख का वेदन करता है।

कर्मों में प्रमुख मोहकर्म है। यह कर्मसेना का सेनापति है। मोह का नाश होने पर अन्य कर्मों का नाश हो जाता है। हरिगिरि ऋषि कहते हैं-

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हतणायकं॥[४७]

जिस प्रकार जड़ से कटी हुई लता, सूखे हुए मूल वाला वृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोह का नाश होने पर कर्मों का वैसे ही नाश हो जाता है जैसे सेनापति की हार होने पर सेना की हार हो जाती है।

कर्मास्रव को रोकने के लिए संवर का विधान है तथा पूर्व संचित कर्मों के क्षय के लिए निर्जरा का प्रतिपादन है। दकभाल ऋषि परिशाटन शब्द से निर्जरा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि कर्म परिशाटन करने योग्य हैं। अज्ञानी जीव कर्मों का परिशाटन नहीं करते, ज्ञानी कर्मों का परिशाटन करते हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्मों से वैसे ही लिप्त नहीं होते, जैसे पानी से कमल पत्र।[४८] पार्श्व अध्ययन में कहा गया है कि असम्बुद्ध एवं कर्मास्रव का संवर नहीं करने वाला व्यक्ति चातुर्याम निर्ग्रंथ धर्म में दीक्षित होकर भी आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों का बंध करता है, वह नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवगति में उत्पन्न होकर कर्मफल प्राप्त करता है, किन्तु यदि वह सम्बुद्ध और संवृतकर्मा हो जाए तो अष्टविध कर्मों का बन्ध नहीं

करता तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर लेने पर उसे नरकादि गतियों में फलभोग भी नहीं करना पड़ता।[४९]

चातुर्याम एवं पंच महाव्रत :

पार्श्वनाथ की परम्परा में चातुर्याम धर्म था एवं भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को पृथक् कर पंच महाव्रत का स्वरूप प्रदान किया। नारद अध्ययन में चातुर्याम धर्म का ही संकेत मिलता है, क्योंकि नारद तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय पर हुए। अर्हत् नारद ऋषि ने इन्हें चार श्रोतव्य लक्षणों के रूप में प्रतिपादित किया है। व्यक्ति तीन करण (कृत, कारित एवं अनुमोदित) तथा तीन योग (मन, वचन एवं काया) से प्राणातिपात न करे, न दूसरों से करवाए, यह प्रथम श्रोतव्य लक्षण है। इसी प्रकार मृषाभाषण एवं अदत्तादान के त्याग को क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय श्रोतव्य स्वीकार किया गया है। चतुर्थ श्रोतव्य में अब्रह्म एवं परिग्रह दोनों का कथन एक साथ करते हुए कहा गया है कि साधक न तो इनका सेवन करे और न दूसरों से करवाए।[५०] पुष्पशाल अध्ययन में प्राणातिपात आदि पाँच पापों के त्याग का कथन है-

ण पाणे अतिवातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए।
मेहुणं च ण सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे।।[५१]

पैंतालीसवें वैश्रमण अध्ययन में अहिंसा की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार शास्त्र-प्रयोग से या अग्नि से स्वयं के शरीर में घाव या जलन की वेदना होती है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी हिंसा से वेदना का अनुभव होता है। प्राणघात सब प्राणियों को अप्रिय है तथा दया सबको प्रिय है। इस तथ्य को जानकर प्राणि-ाघात का वर्जन करना चाहिए। अहिंसा सब प्राणियों को शान्ति उपजाने वाली है, यह सब प्राणियों में अनिन्दित ब्रह्म है।

आचारमीमांसा के अन्तर्गत साधवाचार प्रमुख है। साधवाचार के अन्तर्गत चातुर्याम धर्म अथवा पंच महाव्रत के अतिरिक्त पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का भी विशेष महत्त्व है। इसिभासियाइं में इनका भी यथावसर उल्लेख हुआ है। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान है। इसका संकेत विदु ऋषि ने किया है, यथा-

सज्झायझाणोवगतो जितप्पा, संसारवासं बहुधा विदित्ता।
सावज्जवुत्ती करणे *ठितप्पा, निरवज्जवित्ती तु समायरेज्जा।।[५२]

आत्मजेता मुनि स्वाध्याय एवं ध्यान में संलग्न होकर संसार के कारणों को बहुधा जानकर सावद्यवृत्ति कार्यों में अपने को नहीं लगाता, अपितु वह निरवद्य (निष्पाप) कार्य का आचरण करता है।

मोक्ष का स्वरूप :

जैनदर्शन में ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों के क्षय को मोक्ष कहा जाता है, किन्तु 'इसिभासियाइं' में ऐसा लक्षण प्राप्त नहीं होता। मोक्ष का स्वरूप यहाँ देविल, महाकाश्यप, रामपुत्र आदि ऋषियों के वचनों में अभिव्यक्त हुआ है, तदनुसार वह शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्त शाश्वत स्थान है।[५३] जो मोक्ष को प्राप्त करता है उसके विशेषण लगभग प्रत्येक अध्ययन में दिए गए हैं, यथा- वह इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, दान्त, वीतराग, शक्तिसम्पन्न एवं त्राता होता है। एक बार सिद्धावस्था मोक्ष को प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता।

अध्यात्म दर्शन :

इसिभासियाइं में आध्यात्मिक चिन्तन मुखर हुआ है। इसमें काम-भोगों एवं इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त रहने की पदे-पदे प्रेरणा की गई है।

शौर्यायण ऋषि कहते हैं कि दुर्दान्त पाँच इन्द्रियाँ ही प्राणियों के लिए संसार का कारण बनती हैं। यदि उन्हें संयमित कर लिया जाए तो वे ही निर्वाण का कारण बन जाती हैं।[५४] इन पाँच इन्द्रियों के विषयों में जो नहीं बहता वह उत्तम पुरुष होता है।[५५] मनोज्ञ (इष्ट) शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि में आसक्ति, राग, गृद्धि, मूर्च्छा न हो तथा अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्द, रूपादि के प्रति द्वेष न हो तभी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम होता है तथा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

ऋषि वर्द्धमान कहते हैं कि जागृत रहने वाले मुनि की पाँच इन्द्रियाँ सुप्त रहती हैं तथा सुप्त व्यक्ति की पाँचों इन्द्रियाँ जागृत रहती हैं। सुप्तमुनि पाँचों इन्द्रियों से कर्मरज को ग्रहण करता है तथा जागृतमुनि इन्द्रियों के संयम द्वारा कर्मरज को रोकता है।[५६] वर्द्धमान ऋषि कहते हैं मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श के प्रति राग नहीं करना चाहिए तथा इनके अमनोज्ञ होने पर द्वेष नहीं करना चाहिए। यही आध्यात्मिक साधना का मूल अभ्यास है। ऐसा करने वाला व्यक्ति कर्म-आस्रव को रोक देता है।[५७] जिस प्रकार दुर्दान्त

घोड़े सारथी को राजपथ से हटाकर उन्मार्ग में ले जाते हैं, उसी प्रकार दमन नहीं की गई इन्द्रियाँ आत्मा को बलपूर्वक कुमार्ग में ले जाती हैं। किन्तु जब वे सुदान्त हो जाती हैं तो विनीत घोड़े की भांति उन्मार्ग पर नहीं ले जाती।[५८] इन्द्रियों को नियन्त्रित करने के लिए मन को जीतना आवश्यक है। वर्द्धमान अध्ययन में कहा गया है कि साधक मन को जीतकर इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति को रोके तथा फिर विवेक रूपी हाथी पर आरूढ़ होकर शस्त्रधारी शूरवीर की भांति कषायों के साथ युद्ध करे।[५९] जो साधक मन और कषायों को जीतकर सम्यक् प्रकार से तप करता है उसकी आत्मा शुद्ध होकर दीप्त होती है।[६०]

उद्दालक ऋषि कहते हैं कि व्यक्ति को आत्महित के लिए जागृत रहना चाहिए, जो मात्र परार्थ का अभिधारक होता है उसका आत्महित नहीं हो पाता।[६१] स्वयं के घर में आग लगने पर दूसरों के घर की ओर दौड़ना उचित नहीं। पहले अपना घर सम्हालना चाहिए।[६२] स्व को एवं पर को सर्वभाव से सब प्रकार से जानना चाहिए।[६३] आत्मार्थी निर्जरा करता है तथा परार्थी कर्मबन्धन करता है।[६४] उद्दालक अध्ययन में सदा जागृत रहने तथा धर्माचरण में अप्रमत्त रहने का संदेश दिया गया है-**जागरह णरा णिच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं।**[६५] जो मुनि जागृत रहता है उससे दोष दूर ही रहते हैं।[६६]

छत्तीसवें तारायण अध्ययन में क्रोध विजय की प्रेरणा की गई है। क्रोध को अग्नि, अन्धकार, मृत्यु, विष, व्याधि, शत्रु, रज, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शल्य एवं पराजय कहा गया है।[६७] बाह्य अग्नि को तो जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु क्रोधाग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता।[६८] क्रोध रूपी ग्रह से अभिभूत व्यक्ति के सत्त्व (बल), बुद्धि (निर्णयशक्ति), मति (चिन्तनशक्ति), मेधा (प्रतिभा), गम्भीरता, सरलता आदि सब गुण निष्प्रभ हो जाते हैं।[६९] क्रोधाविष्ट व्यक्ति माता-पिता, गुरु, साधु, राजा, देवता आदि किसी को कुछ नहीं समझता। वह सबसे गाली-गलौज करने लगता है।[७०] क्रोध के कारण तप, संयम आदि नष्ट हो जाते हैं। इसलिए क्रोध का निग्रह करना आवश्यक है।

जिस प्रकार क्रोध कषाय से आत्मगुणों की हानि होती है, उसी प्रकार मान, माया एवं लोभ से आत्मगुणों की हानि होती है। अतः इन पर

विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उद्दालक अध्ययन में कहा गया है कि अज्ञान से विमूढात्मा क्रोध, मान, माया एवं लोभ के बाण से अपनी आत्मा को ही बींधता है[७१] अर्थात् अपनी ही हानि करता है।

'योग' शब्द का प्रयोग :

जैनदर्शन के प्राचीन ग्रन्थों एवं आगमों में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रायः मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। यह योग शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार का सम्भव है। पतंजलि के योगसूत्र में योग शब्द चित्तवृत्ति के निरोध के लिए प्रयुक्त हुआ है।[७२] हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि के साहित्य में योग शब्द का प्रयोग मोक्ष से जोड़ने वाली प्रवृत्ति के लिए भी हुआ है,[७३] किन्तु इसिभासियाइं के महाकाश्यप अध्ययन में 'जुत्तजोगिस्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'युक्तयोगी' का वाचक है। वहाँ कहा गया है कि धीमान् युक्तयोगी के पापकर्म क्षय हो जाते हैं तथा आंशिक रूप से कर्म का क्षय होने पर अनेकविध ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।[७४] योगसूत्र के विभूतिपाद में जिस प्रकार विभिन्न सिद्धियों या लब्धियों का कथन है कुछ-कुछ उसी प्रकार का कथन महाकाश्यप अध्ययन में भी हुआ है। महाकाश्यप अध्ययन में कहा गया है कि तपसंयम से युक्त आत्मा कर्म का विमर्दन (नाश) करके विद्यालब्धि, औषधिलब्धि, निपानलब्धि, वास्तुविद्या, शिक्षापद, गति-आगति (पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म) आदि का ज्ञान कर लेती है।[७५]

ज्ञानमीमांसा :

अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थों में ज्ञान का महत्त्व निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित रहता है। अतः विदु अध्ययन में कहा गया है कि वह विद्या महाविद्या है एवं सर्वविद्याओं में उत्तम है जिसे साधकर साधक सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[76] विदु ऋषि कहते हैं कि जिस विद्या से व्यक्ति बन्ध, मोक्ष और जीवों की गति-आगति तथा आत्मभाव को जानता है, वह विद्या दुःख विमोचनी है।[७७] दुःखों से मुक्ति के लिए ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस प्रकार रोग का ज्ञान होने पर उसका निदान सम्भव होता है तथा औषधि का ज्ञान होने पर उसका निराकरण सम्भव होता है, उसी प्रकार कर्म का सम्यक् परिज्ञान होने पर तथा कर्ममोक्ष का परिज्ञान होने पर ही कर्मों से छुटकारा सम्भव है। जो व्यक्ति जीवों के कर्म-बन्ध, मोक्ष उसकी फल परम्परा को जानता है, वही कर्मों का नाश करता है।[७८]

चतुर्थ अध्ययन में अंगर्षि का कथन है कि जिस ज्ञान के द्वारा मैं अपने प्रकट या एकान्त में कृत आर्य या अनार्य कर्मों को जानता हूँ वही ज्ञान अचल है, ध्रुव है।[७९]

इसिभासियाइं में हमें अनेकान्तवाद के बीज भी प्राप्त होते हैं। नवम अध्ययन 'महाकाश्यप' में संसारस्थ जीवों के लिए कहा गया है कि वे द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से नित्यानित्य हैं-

दव्वतो खेत्ततो चेव, कालतो भावतो तहा।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं, संसारे सव्वदेहिणं।।[८०]

कतिपय अध्ययनों में जिन प्रज्ञप्त मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है। महाकाश्यप अध्ययन में कहा गया है-

गंभीरं सव्वतोभद्दं, सव्वभावविभावणं।
धाण्णा जिणाहितं मग्गं, सम्मं वेदेंति भावतो।।[८१]

वे लोग धान्य हैं, जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित गम्भीर, सर्वतोभद्र, सर्वपदार्थ प्रकाशक मार्ग को भावपूर्वक सम्यक् रूप से जानते हैं एवं आचरण करते हैं।

ग्रन्थ में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वैदिक ऋषियों के मुख से भी हुआ है। उदाहरण के लिए उद्दालक ऋषि के अध्ययन में स्वयं के लिए त्रिगुप्ति से गुप्त, त्रिदण्ड से विरत, निःशल्य, अगारव, चतुर्विकथा से वर्जित, पाँच समितियों से समित, पाँच इन्द्रियों से संवृत, नवकोटि परिशुद्ध, उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के दोषों से रहित विशेषणों का प्रयोग हुआ है।

इसिभासियाइं वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसको पढ़कर मेरे मन में जो भाव उठे हैं, उन्हें प्राकृत गाथाओं में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मणो मे हरिसिओ जाओ पढिऊण इसिभासियाइं।
रिसीणां वयणाणि एयम्मि, सोहन्ति सुद्धभावेण।।

जइणा बोद्धा माहाणा य रिसिओ भवन्ति अरहंता।
अज्झत्तदोसनिवारणाय, उवएसा उवओगिणो।।
संपदायाभिनिवेसस्स, भावणा तत्थ वज्जिआ।
सम्मादिट्ठीए भवइ सम्मं, सव्वं भणितं अज्जरिसीहिं।।

संदर्भ :

1 ऋषिभाषित : एक अधययन - डॉ. सागरमल जैन, प्राकष्टत भारती अकादमी, जयपुर, 1988, भूमिका, पृ. 9

2 Isibhasiyaim, L.D.Series, 45, Edited by Dr Walther Schubring, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, First Edition, 1974, Introduction, P.5

3 इसिभासियाइं (ऋषिभाषितानि,जैन विश्व भारती, लाडनूँ , 2011, पृ. 13

4 यह टीका संक्षिप्त है तथा पुस्तक के पष्ट. 131 से 159 तक प्रकाशित है।

5 इसिभासियाइं, लाडनूँ, ऋषिभाषित: एक परिचय, पृ. 21

6 Isibhasiyaim, Ahmedabad, Introduction, P. 3-4 और देखें- इसिभासियाइं, ऋषिभाषित : एक परिचय, पृ. 18

7 इसिभासियाइं, ऋषिभाषित : एक परिचय, पृ. 19

8 पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता। पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपत्ताइं।। ऋषिमण्डलस्तोत्र, 45

9 इसिभासियाइं, 20. 2-3 एवं 7 [10] इसिभासियाइं, 20.7 [11]. इसिभासियाइं 22.2-3

12. पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो, यदन्नेनातिरोकष्टति।।- ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, 10.90.2

13 (अ) इसिभासियाइं, 37.1-2 (ब) शतपथ ब्राह्मण 11.1.6.1 में उल्लेख है- आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।

14 हिरण्यगर्भ: समवर्तताऽग्रे, भूतस्य जात: पहिरेक आसीत।- ऋग्वेद, 10.121.1

15 इसिभासियाइं, 37.4 [16] इसिभासियाइं, 31.9

17 द्रष्टव्य व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 1 में रोह के साथ भगवान महावीर की चर्चा।

18 से जहाणामए पंच अत्थिकाया ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवति, न कयाइ ण भविस्सति, भुविंच, भवति य भविस्सति य, धुवा णितिया सया, अक्खयाअव्वया अवट्ठिा।-इसिभासियाइं 31.10

19 वही, 31.2 [20] इसिभासियाइं, 21.3 [21] इसिभासियाइं, 2.7

[22] इसिभासियाइं, 9.4 [23] इसिभासियाइं, 5.5 [24] इसिभासियाइं, 15.6

[25] इसिभासियाइं, 15.8 [26] इसिभासियाइं, 15.10 [27] इसिभासियाइं, 15.11

[28] दुक्खिओ दुक्खघाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो।
पडियारेण दुक्खस्स, दुक्खमण्णं णिबंधाती।।- इसिभासियाइं, 15.12

[29] इसिभासियाइं, 7.1

[30] जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चंतसुहमेव तं।
जं सुहेण दुहं लद्धं, मा में तेण समागमो।।-इसिभासियाइं, 38.1

[31] इसिभासियाइं, 38.4-9 [32] इसिभासियाइं, 29.5 [33] इसिभासियाइं,29.15

[34] इसिभासियाइं, 29.17 [35] इसिभासियाइं, 45.8 [36] इसिभासियाइं, 4.12

[37] आत-कडाण-कम्माणं, आता भुंजति तं फलं।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए।। - इसिभासियाइं, 15.21

[38] इसिभासियाइं, 24.19 [39] इसिभासियाइं, 30.4 [40] इसिभासियाइं, 31.7-8

[41] इसिभासियाइं, 9.8

[42] जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं।
संताणे चेव भोगे य, नाणावण्णत्तमच्छति।। 9.9

[43] इसिभासियाइं, 9.4 [44] इसिभासियाइं, 9.2

[45] उवक्कमो य उक्केरो, संछोभो खवणं तधा।
बद्धपुट्ठविधात्ताणं, वेदणा तु णिकायिते।। -इसिभासियाइं, 9.15

[46] इसिभासियाइं, 24.20 [47] इसिभासियाइं, 24.25 [48] इसिभासियाइं, 22.1

[49] इसिभासियाइं, 31.7-8 [50] इसिभासियाइं, 1.2 [51] इसिभासियाइं, 5.3

[52] इसिभासियाइं, 17.8

[53] (अ) सिवमयलमरुयमक्खयमत्वाबाहमपुणरावत्तं सासयं ठाणं।9.3
(ब) सिवमयलमरुयमक्खमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धि गतिलामधिज्जं।।23.2

[54] (प) दुद्दंता इंदिया पंच, संसारा ए सरीरिणं।
ते च्चेव णियमिता संता, णेज्जाणाए भवंति हि ।।- इसिभासियाइं, 16.3

(पप) इसी से मिलती-जुलती गाथा वर्द्धमान अधययन में भी प्राप्त होती है, यथा- दुद्दंता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं। ते चेव णियमिता सम्मं, णेव्वाणाय भवंति हि।।- इसिभासियाइं, 219.13

[55] वही, 16.1 [56] इसिभासियाइं, 29.2

[57] मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुठे इतरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति।।- इसिभासियाइं, 29.4

[58] इसिभासियाइं, 29. 14-15 [59] इसिभासियाइं, 29.16

[60] जित्ता मणं कसाए य, जो सम्मं कुरुते तवं। संदिप्यते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते।। -इसिभासियाइं, 29.17 आतठ हायते तस्स, जो परठाहि धारए।। -इसिभासियाइं 35.15

[62] इसिभासियाइं, 35.14 [63] इसिभासियाइं, 35.13 [64] वही, 35.17

[65] वही, 35.20 [66] वही, 35.24

[67] कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो।।- इसिभासियाइं, 36.3

[68] वही, 36.5 [69] वही, 36.7 [70] वही, 36.15 [71] वही, 35.2,4,6,8

[72] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधाः। -पातंजलयोगसूत्र, 1.1 [73] मोक्षेण योजनाद् योगः।

[74] खिज्जंते पावकम्माणि, जुत्तजोगिस्स धीमतो।
देसकम्मक्खयभूता, जायंते रिद्धिओ बहू।। इसिभासियाइं, 9.18

[75] विज्जोसहिणिवाणेसु, वत्थु-सिक्खागतीसु य।तवसंजमपयुत्ते य, विमद्दे होति पच्चओ।।
-वही, 9.19 जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती।। - इसिभासियाइं, 17.1

[77] जेण बंधां च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं।
आयाभावं च जाणति, सा विज्जा दुक्खमोयणी।।- इसिभासियाइं, 17.2

[78] इसिभासियाइं, 17.6

[79] जेण जाणामि अप्पाणं, आवी वा जइ वा रहे।
अज्जयारिं अणज्जं वा, तं णाणं अयलं धुवं।।4.4

[80] इसिभासियाइं, 9.34 [81] इसिभासियाइं, 9.35

3K 24-25, कुड़ी भगतासनी, जोधपुर-342005 (राज.)

मुनिश्री क्षमासागर जी को विनम्र श्रद्धाञ्जलि

परमपूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री 108 क्षमासागर जी महाराज का दिनांक 13 मार्च 2015 को प्रातःकाल सागर में सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण हो गया है। मुनिश्री गहन चिन्तक, प्रखर प्रवक्ता, भावुक व संवेदनशील वात्सल्य-हृदयी एवं अद्भुत शब्द-शक्ति से प्रेरित कविताएं के सृजेता कविमना संत थे। **आत्मान्वेषी** और ''मुनि क्षमासागर की कविताएं'' एवं ''**कर्म कैसे करें**'' आपकी बहुचर्चित कृतियाँ हैं। मुनि श्री विगत कई वर्षो से अस्वस्थ चल रहे थे परन्तु सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन अपनी चर्या में दृढ़ रहे। एम.टेक होने के कारण आपकी वैज्ञानिक सोच थी। जैन समाज के प्रतिभावान छात्रों के परम हितैषी थे। ऐसे कठोर तपस्वीसंत के देह विलय से जैनसमाज एवं श्रमण-समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। वीर सेवा मंदिर शोध संस्था एवं अनेकान्त (शोध त्रैमासिकी) परिवार आपके प्रति विनम्र श्रद्धांजली अर्पित करते हुए लोकोत्तर साधक बनकर मोक्ष प्राप्ति की कामना करता है।

जैनसाहित्य में लेश्या-विमर्श

- डॉ. श्रीमती राका जैन

संसारी प्राणी की बहिर्मुखी दृष्टि अन्तरोन्मुखी हो सके, वह सुपथ का पथिक बन सके इसलिए आवश्यक है कि लेश्या की भावाभिव्यंजना को समझे और जीवन में उतारे जिसके लिए लेश्या-सन्दर्भों को जानना आवश्यक है।

विश्व के किसी भी चिंतन में आत्मभाव को लेकर इतनी सूक्ष्मता से, गहराई से अध्ययन नहीं किया गया जितना जैनदर्शन में लेश्या के माध्यम से किया गया है। यह जैनदर्शन का मौलिक शब्द है। संसारी जीवों के भावों/परिणामों को लेश्या कहते है। इतर दर्शनकारों ने इसे 'चित्तवृत्ति' कहा हैं जिसके द्वारा जीव अपनी आत्मा को कर्म-स्कन्ध- पुण्य पाप से लिप्त करे वह लेश्या है। यथा-

''लिंपइ अप्पी कीरइ, एदीय णियअपुण्णापुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा, लेस्सागुणजाणयक्खादा॥''

जीव अच्छे या बुरे विचारों के अनुरूप ही क्रियाएं करता है और उन्हीं से अच्छे-बुरे कर्मबन्ध होते हैं जीव जितनी क्रियाएं बाहर से करता नजर नहीं आता, उतनी चिंतन या विचारों से करता है। जैनदर्शन ने इन्हीं आत्मभावों को 'रंगदर्शन' अर्थात् 'कलर फिलोसफी' में व्यक्त करते हुए जीव की दुष्टतम, दुष्टतर और दुष्ट प्रवृत्तियों को कृष्ण, नील, कापोत अर्थात् अशुभ/अप्रशस्त लेश्याओं के अन्तर्गत रखा जबकि ठीक, अच्छा, उत्तम को पीत, पद्म और शुक्ल अर्थात् शुभ/प्रशस्त लेश्याओं के अन्तर्गत रखा। एक में दुष्टता, पर पीड़ा, धोखा, झूठ, हिंसा के भावों की प्रबलता है तो दूसरे में प्रेम, क्षमा, करुणा, दया और परीषहजयी बनकर मोक्ष प्राप्ति तक के भाव हैं।

जैनदर्शन ने एक ऐसा थर्मामीटर दिया है जिसे वे स्वयं अपने राग-द्वेष के बुखार को माप सके और शुभ लेश्या रूपी औषधि-योजना करके अपनी आत्मा को कर्मरोग से मुक्त कर सके।[1]

यह एक ऐसा आध्यात्मिक दर्पण है जिसके माध्यम से आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों तथा तार्किकों ने व्यक्ति की Colour Choice रंग-पसंदगी से उनके आत्मिक भाव जानकर स्वभाव वर्णन किया है जिसे Colour-Psycho-analysis कहते हैं। इसका संशोधन मनोवैज्ञानिक अभी कर सके लेकिन भगवान महावीर ने सदियों पहले से ही यह Colour-Psycho-analysis लेश्या के रूप में बतायी।

मोहनलाल बांठिया एवं श्रीचन्द चोरडिया ने 'साइक्लोपीडिया आफ लेश्या' - लेश्याकोश की प्रस्तावना में लेश्या को जैनदर्शन का रहस्यमय विषय कहा है।

कषाय से अनुरंजित जीव की मन, वचन, काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है- 'कषायोदयानुरंजित योगप्रवृत्तीति लेश्या।'

प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध व्यक्तित्व से जुड़ा है। कषाय सिद्धान्त केवल अशुभ आवेगों की चर्चा करता है और लेश्या-सिद्धान्त शुभ और अशुभ दोनों मनोभावों की।

आगम में इनका कृष्णादि छह रंगों द्वारा निर्देश किया गया है। इनमें तीन शुभ और तीन अशुभ होती है। राग व कषाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीवों को लेश्या नहीं होती है। शरीर के रंग को द्रव्य लेश्या कहते हैं। देव नारकियों में द्रव्य व भाव लेश्या समान होती है, पर अन्य जीवों में इनकी समानता का नियम नहीं हैं द्रव्य लेश्या आयु पर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है।

लेश्या और कषाय का अबिनाभावी सम्बन्ध नहीं है। जहाँ कषाय है वहाँ लेश्या अवश्य है लेकिन जहाँ लेश्या है वहाँ कषाय नहीं भी हो सकती। लेश्या परिणाम कषाय-परिणाम के बिना भी होता है।[2]

लेश्या और योग में अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ योग है, वहाँ लेश्या है। जो जीव सलेशी है वह सयोगी है तथा जो अलेशी है, वह अयोगी भी हैं जो जीव सयोगी है वह सलेश है तथा जो अयोगी है वह अलेशी भी है। योग परिणाम ही लेश्या है क्योंकि सयोग केवली शुक्ललेश्या परिणाम में विहरण करते हुए अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्त में योग का निरोध करते हैं तभी वे अयोगीत्व और अलेश्यत्व को प्राप्त होते हैं।[3]

कर्म और लेश्या शाश्वत भाव है। लेश्या कर्मबन्ध का कारण भी है और निर्जरा का भी।

लेश्या का लक्षण -

''लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा आनयेति लेश्या''

लेश्या न कषाय है और न योग अपितु कषायानुविद्ध प्रवृत्ति ही कषाय है।

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने जैनलक्षणावली भाग-3 में लेश्या पर उपलब्ध- लक्षणों का संग्रह प्रस्तुत किया है। धवला के अनुसार जिसके द्वारा प्राणी कर्म से संश्लिष्ट होता है उसका नाम लेश्या है। कषाणादि द्रव्य की सहायता से जो जीव का परिणाम होता है उसे लेश्या कहते हैं।[4]

अभिधाान राजेन्द्र कोश के अनुसार जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है या बन्धन में आती है वह लेश्या है।[5] जैनाचार्यों ने कर्माश्लेश के कारण शुभाशुभ कारणभूत परिणामों को लेश्या कहा है।

गोम्मटसार एवं पंचसंग्रहप्राकृत के अनुसार जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा को परिणाम लिप्त किया जाता है, उसी को लेश्या कहते हैं।[6]

लेश्याकोश में पृ. 3 पर ससन्दर्भ लेश्या के 13 अर्थ दिए हैं- 1. आत्मा का परिणाम विशेष, 2. आत्म परिणाम निमित्तभूत कष्णादि द्रव्य विष्ठोज़, 3 अध्यवसाय, 4. अन्तःकरणवृत्ति, 5. तेज, 6. दीप्ति, 7. ज्योति-प्रकाश-उजियाला[7], 8. किरण, 9. मण्डलबिम्ब, 10. देह-सौन्दर्य, 11. ज्वाला, 12. सुख 13. वर्ण।

लेश्या के भेद -

समाज में एक वर्ग वह है जो शुभ की ओर उन्मुख है और दूसरा वर्ग वह है जो अशुभ की ओर उन्मुख हैं इस नैतिक गुणात्मक अन्तर के आधार पर दो प्रकार बनते हैं- 1. प्रशस्त, नैतिक, धार्मिक, शुभ, शुक्लपक्षी, विशुद्ध, असंक्लिष्ट और दूसरा है अप्रशस्त, अनैतिक, अधार्मिक, अशुभ, कृष्णपक्षी, अविशुद्ध, संक्लिष्ट। जैनाचार्यों ने इन दो गुणात्मक प्रकारों को तीन-तीन (उत्तम-मध्यम-जघन्य) मात्रत्मक अन्तरों के आधार पर षड्विध वर्गीकरण किया।

यद्यपि जैन विचारकों ने मात्रात्मक अन्तरों के आधार पर तीन, नौ, इक्यासी और दो सौ तैतालिस उपभेद भी गिनाए हैं किन्तु मुख्य रूप से छः का ही विस्तार मिलता है।[8]

पं. सुखलाल जी के अनुसार कृष्ण और शुक्ल के बीच की लेश्याएं विचारगत अशुभता और शुभता का विविध मिश्रण मात्र है।[9]

सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, उत्तराध्ययनादि सिद्धान्तग्रन्थों के अनुसार लेश्या के दो भेद हैं- **'लेश्या द्विविधा-द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति'**।[10]

द्रव्य-भावरूप लेश्या के उत्तरभेद -

षट्खण्डागम उत्तराध्ययन आदि में लेश्या मार्गणा के अनुवाद से कृष्णलेश्या, नील लेश्या, कापोतलेश्या, तेजो लेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ल लेश्या और अलेश्या वाले जीवों का वर्णन है।[11]

द्रव्यलेश्या, कृष्णादिक छह प्रकार की हैं, उनमें एक-एक भेद अपने-अपने उत्तरभेदों के द्वारा अनेक रूप हैं। जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन-उत्कृष्ट पर्यन्त अनन्त भेदों को लिए हुए है। उसी प्रकार छहों द्रव्य लेश्या के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त शरीर के वर्ण की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात व अनन्त तक भेद हो जाते हैं।[12]

लेष्ठया को ष्ठुभ और अष्ठुभ भेद से 2 प्रकार की कही गई है। अशुभ लेश्या कृष्ण, नील, कपोत के भेद से तीन प्रकार की है और पीत, पद्म, लेश्या भेद से शुभ लेश्या तीन प्रकार की है।[13]

लेश्या के सामान्यतः भेद-

1. दो भेद - द्रव्य तथा भाव
2. छः भेद - कष्ठाण, नील, कापोत, पीत, पद्म, ष्ठुक्ल

दलगत द्रव्य लेश्या के भेद-

1. दुर्गन्धावाली- (कृष्ण-नील-कपोत) सुगन्धावली - (पीत-पद्म-शुक्ल)
2. रस की अपेक्षा-अमनोज्ञ- (कृष्ण-नील-कपोत) अमनोज्ञ- (पीत-पद्म-शुक्ल)
3. स्पर्श की अपेक्षा-शीतरूक्ष-(कृष्ण-नील-कपोत) उष्णस्निग्ध- (पीत-पद्म-शुक्ल)
4. वर्ण की अपेक्षा- अविशुद्ध (कृष्ण-नील-कपोत) विशुद्ध - (पीत-पद्म-शुक्ल)

द्रव्य लेश्या :

डॉ. सागरमल जी के अनुसार द्रव्य लेश्या सूक्ष्म भौतिकी तत्त्वों से निर्मित वह आंगिक संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्त द्रव्य की अधिकता से स्वभाव में क्रोधीपन आता है और क्रोध के कारण पित्त की अधिकता होती है उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से मनोभाव बनते हैं। पं. सुखलाल जी एवं राजेन्द्रसूरि जी का मत देते हुए लिखते हैं कि-

1. लेश्या द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए हैं। - उत्तराध्ययन की टीका
2. लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप है। - उत्तराध्ययन की टीका
3. आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार लेश्या योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का परिणाम है।[14]

राजवार्तिक और गोम्मटसार के अनुसार शरीर नाम कर्मोदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्णन है उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं।

''वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।''

द्रव्यलेश्या में छः लेश्या और पांच कर्म हैं।
पुद्गल भी वर्ण, गंध, रस, स्पर्शी है अतः द्रव्यलेश्या पुद्गल है।
द्रव्यलेश्या पुद्गल है अतः पुद्गल के गुण भी द्रव्यलेश्या में हैं।
द्रव्यलेश्या अनन्तप्रदेशी है।
द्रव्यलेश्या असंख्यातप्रदेशी क्षेत्रवगाह करती है।
द्रव्यलेश्या की अनन्त वर्गणा होती है।
द्रव्यलेश्या के असंख्यात स्थान है।
द्रव्यलेश्या गुरु लघुत्व है।
द्रव्यलेश्या जीवग्राह्य हैं।
द्रव्यलेश्या परस्परपरिणामी हैं।
द्रव्यलेश्या परस्पर कदाचित अपरिणामी भी है।
द्रव्यलेश्या (सूक्ष्मत्व के कारण) छद्मस्थ अगोचर-अज्ञेय है।

द्रव्यलेश्या अजीव-उदय-निष्पन्न भाव है क्योंकि जीव द्वारा ग्रहण होने के बाद द्रव्य लेश्या का प्रायोगिक परिणमन होता है।

कृष्णादिक द्रव्यलेश्या के वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध लक्षण

1. कृष्ण-भ्रमर के समान काला वर्ण, रस-कड़वा।
2. नील- नील मणि के सदृश, मयूर कण्ठ के सदृश, रस-तीखा।
3. कापोत- कापोत के सदृश रस-कषायला।

4. तेजो-तप्त सुवर्ण के सदृश, रस-खट्टा-मीठा।
5. पद्म- कमल के सदृश, रस-मीठा।
6. शुक्ल- शंख के समान वर्ण वाली, कांस के पुष्प के समान, रस-अधिक मीठा।[15]

तीन अशुभ लेश्या का स्पर्श रूक्ष एवं गन्ध-दुर्गन्ध और तीन शुभलेश्याओं का स्पर्श मुलायम एवं गन्ध-सुगन्ध है।

भावलेश्या के दलगत भेद-

1. अधर्म-धर्म-प्रथम तीन (कृष्ण-नील-कापोत) अधर्म पश्चात् तीन (पीत-पद्म-शुक्ल) धर्म लेश्या हैं।
2. अप्रशस्त-प्रशस्त- प्रथम तीन अप्रशस्त पश्चात् तीन प्रशस्त।
3. संक्लिष्ट-असंक्लिष्ट- प्रथम तीन संक्लिष्ट परिणाम वाली तथा पश्चात् तीन असंक्लिष्ट परिणाम वाली।
4. दुर्गतिगामी-सुगतिगामी- (कृष्ण-नील-कापोत) दुर्गतिगामी पश्चात् तीन (पीत-पद्म-शुक्ल) सुगतिगामी।
5. अविशुद्ध-विशुद्ध-परिणाम की अपेक्षा प्रथम तीन लेश्याएँ अविशुद्ध तथा पश्चात् तीन लेश्याएं विशुद्ध हैं।

भाव लेश्या-

भाव लेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं. सुखलाल जी के शब्दों में भावलेश्या आत्मा का मनोभाव विशेष है जो संक्लेश और योग से अनुगत हैं संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या अनेक प्रकार की हो जाती है।

मनोभावों में संक्लेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व से शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किए गए हैं। डॉ. सागरमल जी ने अप्रशस्त और प्रशस्त- इन द्विविध मनोयोगों के उनकी तारतम्यता के आधार पर छः भेद किए हैं-

1. कृष्णलेश्या- तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव
2. नीललेश्या- तीव्र अप्रशस्त मनोभाव
3. कापोत लेश्या- अप्रशस्त मनोभाव
4. तेजो लेश्या- प्रशस्त मनोभाव
5. पद्मलेश्या- तीव्र प्रशस्त मनोभाव

6. शुक्ललेश्या- तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

लेश्याएं मनोभाव मात्र नहीं चरित्र के आधार पर व्यक्तित्त्व के प्रकार भी है।

सर्वार्थसिद्धि और धवलादि में कषाय से अनुर्रंजित मन-वचन-काय योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते इसीलिए यह औदायिक कही जाती है। प्रवृत्ति से तात्पर्य कर्म से है।[16]

गोम्मट्टसार के अनुसार मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जो जीव का स्पन्द है वह भावलेश्या है **''मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीफंदणं भावो लेस्सा।''**[17]

भावलेश्या जीव परिणामों के दस भेदों में से एक भेद है। लेश्या को उदयनिष्पन्न भाव कहा है। निर्युक्तिकार कहते हैं कि जीवों में उदयभाव से छः लेश्याएं होती हैं। **'भावे उदयो भणिओ, छण्हं लेसाण जीवेसु'**।।[18]

भावलेश्या जीव परिणाम है।

भावलेश्या अवर्णी, अगंणी, अरसी, अस्पर्शी है।

भावलेश्या अगुरुलघु है।

भावलेश्या उदयनिष्पन्न भाव है।

भावलेश्या परस्पर में परिणमन करती है।

भावलेश्या सुगति-दुर्गति की हेतु है अतः कर्म बन्धन में भी किसी प्रकार हेतु है।

कृष्णभावलेश्याओं के लक्षण-

लेश्यामार्गणा में जीवों के भाव का अधिकार होने से द्रव्यलेश्या नहीं गिनी गई भावलेश्या ही यहाँ अभिप्रेत है।

१. कृष्णलेश्या- (अशुभतम मनोवृत्ति) उत्तराध्ययन, तिलोयपण्णत्ति के अनुसार कृष्ण लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्व कलत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दयाधर्म से रहित, वैर को न छोड़ने वाला, असंतोषी, क्लेशी, तामसभाव वाला होता है।[19]

२. नीललेश्या (अशुभतर मनोवृत्ति) - विषय लोलुपी, मानी, आलसी, कायर, दूसरों को ठगने में तत्पर, माया-प्रपंच में संलग्न, लोभी, अनृतभाषी नील लेश्या के लक्षण हैं।[20]

३. कापोतलेश्या (अशुभ मनोवृत्ति) - जो कर्तव्याकर्तव्य को न गिनता हो, दूषण- बहुल हो, भय बहुल हो, दूसरों से ईर्ष्या करता हो, अपनी

हानि-वृद्धि को न जानता हो वह काला-लोहित रंग वाला कापोत लेश्या वाला कहा जाता है।[21]

४. पीत लेश्या (शुभ मनोवृत्ति) -जो अपने कर्तव्याकर्तव्य को जानता हो, समदर्शी हो विनीत, संयमी, दया और दान में रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो- ये सब तेजोलेश्या वाले के लक्षण हैं।[22]

५. पद्म लेश्या (शुभतर मनोवृत्ति)- जो त्याग, भद्र, सत्यभाषी, क्षमाशील, गुरु देवता पूजन में रुचि रखने वाला हो, वह पद्म लेश्या वाला होता है।[23]

६. शुक्ललेश्या (परम शुभ मनोवृत्ति) - यह मनोभूमि शुभ मनोभाव की सर्वोच्च भूमिका है। निर्वैर, वीतरागता, पाप कार्यों से उदासीनता, सब में समान व्यवहार करना शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं। सदैव स्वधर्म एवं स्व स्वरूप में निमग्न रहता है।[24]

अलेश्या का लक्षण-

जो कृष्णादि छः लेश्याओं से रहित है, पंच परिवर्तनरूप संसार से विनिर्गत है, अनन्त सुखी है आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरी को सम्प्राप्त है ऐसे अयोगकेवली और सिद्ध जीवों को अलेश्य जानना चाहिए।[25]

लेश्या परिणामों को समझाने के लिए दृष्टान्त-

लेश्याकोश में जम्बूखादक दृष्टान्त और ग्रामघातक दृष्टान्त सर्वविदित है-

(क) **जह जंबुरुवरेगो, सुपक्कफलभरियनमियसालग्गो।**
दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं, ते बिंती जंबु भक्खेमो।
किह पुण? ते बेंतेक्को, आरुहमाणाण जीव संदेही।
तो छिंदिऊण मूले, पाडेमुं ताहे भक्खेमो॥
बिति आह एद्दहेणं, किं छिणेणं तरुण अम्हं ति?
साहामहल्लछिंदह, तइओ बेंती पसाहाओ॥
गोच्छे चउत्थओ उण, पंचमओ बेति गेण्हह फलाई?
छट्ठीं तस्सोवणओ, जो बेंति तरू विछिन्नमूलओ।
सो वट्टइ किण्हाए, साहमहल्ला उ नीलाए॥
हवइ पसाहा काऊ, गोच्छा तेऊ फला य पम्हाए।
पडियाए सुक्कलेसा, अहवा अणं उदाहरणं॥[२६]

(ख) **पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारणमज्झ देसम्हि।**
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतं ति॥
णिम्मूल खंध साहुवसाहुं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं॥[27]

छः बंधु किसी उपवन में घूमने गये तथा एक फल से लदे भरे-पूरे अवनत शाखा वाले जामुन वृक्ष को देखा। सबके मन में फलाहार करने की इच्छा जागृत हुई। छओं बंधुओं के मन में लेश्या जनित अपने-अपने परिणामों के कारण भिन्न-भिन्न विचार जागृत हुए और उन्होंने फल खाने के लिये अलग-अलग प्रस्ताव रखे, उनसे उनकी लेश्या का अनुमान किया जा सकता है।

प्रथम बंधु का प्रस्ताव था कि कौन पेड़ पर चढ़कर तोड़ने की तकलीफ करे तथा चढ़ने में गिरने की आशंका भी है। अतः सम्पूर्ण पेड़ को ही काट कर गिरा दो और आराम से फल खाओ।

द्वितीय बंधु का प्रस्ताव आया कि समूचे पेड़ को काटकर नष्ट करने से क्या लाभ? बड़ी-बड़ी शाखायें काट डालें। फल सहज ही हाथ लग जायेंगे तथा पेड़ भी बच जायगा।

तीसरा बंधु बोला कि बड़ी डालें काटकर क्या लाभ होगा? छोटी शाखाओं में ही फल बहुतायत से लगे हैं उनको तोड़ लिया जाय। आसानी से काम भी बन जायगा और पेड़ को भी विशेष नुकसान न होगा।

चतुर्थ बंधु ने सुझाव दिया कि शाखाओं को तोड़ना ठीक नहीं। फल के गुच्छे ही तोड़ लिये जाये। फल तो गुच्छों में ही हैं और हमें फल ही खाने हैं। गुच्छे तोड़ना ही उचित होगा।

पंचम बंधु ने धीमे से कहा कि गुच्छे तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। गुच्छे में तो कच्चे-पक्के सभी तरह के फल होंगे। हमको पक्के मीठे फल खाने हैं। पेड़ को झकझोर दो परिपक्व रसीले फल नीचे गिर पड़ेंगे। हम मजे से खा लेंगे।

छठे बंधु ने ऋजुता भरी बोली में सबको समझाया क्यों बिचारे पेड़ को काटते हो, बाढ़ते हो, तोड़ते हो, झकझोरते हो! देखो! जमीन पर आगे से ही अनेक पके पकाये फल स्वयं निपतित होकर पड़े हैं। उठाओ और खाओ। व्यर्थ में वृक्ष को कोई क्षति क्यों पहुँचाते हो ?

ग्रामघातक दृष्टान्त -

चोरा गामवहत्थं, विणिग्गया एगो बेंति घाएह।
जं पेच्छह सव्वं वा दुपयं च चउप्पयं वावि॥
बिइओ माणुस पुरिसे य, तइओ साउहे चउत्थे य।

पंचमओ जुज्झंते, छठ्ठो पुण तत्थियं भणइ॥
एक्कं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एयं।
केवल हरह घणंती, उवसंहारो इमो तेसिं॥
सव्वे मारेह त्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामो।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए॥[28]

छः डाकू किसी ग्राम को लूटने के लिये जा रहे थे। छहों के मन में लेश्याजनित अपने-अपने परिणामों के अनुसार भिन्न-भिन्न विचार जागृत हुए। उन्होंने ग्राम को लूटने के लिए अलग-अलग विचार रखे- उनसे उनके लेश्या परिणामों का अनुमान किया जा सकता है।

प्रथम डाकू का प्रस्ताव रहा कि जो कोई मनुष्य या पशु अपने सामने आवे- उन सबको मार देना चाहिए।

द्वितीय डाकू ने कहा- पशुओं को मारने से क्या लाभ? मनुष्यों को मारना चाहिए जो अपना विरोध कर सकते हैं।

तृतीय डाकू ने सुझाया- स्त्रियों का हनन मत करो, दुष्ट पुरुषों का ही हनन करना चाहिए।

चतुर्थ डाकू का प्रस्ताव था कि प्रत्येक पुरुष का हनन नहीं करना चाहिए? जो पुरुष शस्त्र सज्जित हों उन्हीं को मारना चाहिए।

पंचम डाकू बोला- शस्त्र सहित पुरुष जो सामना करे उनको ही मारो।

छठे डाकू ने समझाया कि अपना मतलब धन लूटने से है तो धन लूटें, मारें क्यों? दूसरे का धन छीनना तथा किसी को जान से मारना-दोनों महादोष हैं। अतः उन्हें लूट लें लेकिन मारें किसी को नहीं।

उपरोक्त दोनों दृष्टांत लेश्या परिणामों को समझने के लिये स्थूल दृष्टान्त है। ये दोनों दृष्टान्त दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। अतः प्रतीत होता है कि ये दृष्टान्त परम्परा से प्रचलित हैं।

आगमों में लेश्या पर विवेचन विभिन्न अपेक्षाओं से किया गया हैं भगवई और पण्णावणासुत्त में एक समान गाथा है-

''परिणाम-वन्न-रस-गन्ध-सुद्ध-अपसत्थ-संक्लिट्-हुण्डा
गइ-परिणाम-पएसो-गाह-वग्गणा-ट्ठाणमप्पबहुं।''[29]

आगमों के परिणाम-वर्ण-रस-गन्ध-शुद्ध-अप्रशस्त-संक्लिष्ट-उष्ण-गति - संक्रमण- प्रदेश-अवगाहन-वर्गणा-स्थान-अल्पबहुल्व- इन 15 प्रकार से

लेश्या का विवेचन है। निक्षेप की अपेक्षा से भी विवेचन है।[30]

चारो गतियों में लेश्या की तरतमता -

उत्तराध्ययन, गोमटसार एवं मूलाचार आदि ग्रन्थों के अनुसार चारों गतियों में लेश्या की तरतमता इस प्रकार सन्दर्भित है-

१. नरकगति- रत्नप्रभादि नरक की भूमियों में जघन्य कापोती, मध्यम कापोती, उत्कृष्ट कापोती लेश्या तथा नारकी जीवों का वर्ण जघन्य नील, मध्यम नील, उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण वर्ण और उत्कृष्ट कृष्ण वर्ण वाली लेश्या है। लेश्याकोश के अनुसार इस विषय में और भी अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

२. देवगति- भवनवासी आदि देवों के जघन्य तेजो लेश्या है। दो स्वर्गों में मध्यम तेजो लेश्या है, दो में उत्कृष्ट तेजोलेश्या है, जघन्य पद्मलेश्या है, छः में मध्यम पद्मलेश्या है, दो में उत्कृष्ट पद्मलेश्या है। और जघन्य शुक्ल लेश्या है, तेरह में मध्यम शुक्ल लेश्या है और चौदह विमानों में चरम शुक्ल लेश्या है।

३. तिर्यंच और मनुष्यगति- एकेन्द्री, असंज्ञी पंचेन्द्री के तीन अशुभ लेश्या होती है, असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि या कुभोगभूमि या जीवों के तीन शुभ लेश्या है और बाकी के कर्मभूमि या मनुष्य तिर्यंचों के छहो लेश्या होती है।[31]

गुणस्थानों में लेश्या-

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-3 के अनुसार कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं। पीतलेश्या और पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक होते हैं। शुक्ल लेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं। तेरहवें गुणस्थान के आगे के सभी जीव लेश्यारहित होते हैं।[32]

लेश्या परिवर्तन सम्बन्धी नियम-

प्रज्ञापनासुत्त के अनुसार एक लेश्या दूसरी लेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उस रूप, वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूप में परिणत होती है। वह उसकी लेश्यागति कहलाती है।

अशुभ लेश्या सम्बन्धी तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र- ये तीन स्थान और शुभ लेश्या सम्बन्धी मन्द, मन्दतर, मन्दतम- ये तीन स्थान हैं।

कृष्ण, नील, कापोत- इन तीन अशुभ लेश्याओं को उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंश रूप में यह आत्मक्रम से संक्लेश की हानि होने से परिणमन करता है।

उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से यह आत्मा कापोत से नील और नील से कृष्ण लेश्या रूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेश की हानि और वृद्धि की अपेक्षा से तीन अशुभ लेश्या रूप परिणमन करता है।

उत्तरोत्तर विशुद्धि होने से यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल- इन शुभ लेश्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंश रूप परिणमन करता है। विशुद्धि हानि होने से उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त शुक्ल, पद्म, पीत लेश्यारूप परिणमन करता है।

परिणामों की पलटन को संक्रमण कहते हैं उसके दो भेद हैं- स्वस्थान, परस्थान संक्रमण। कृष्ण और शुक्ल में वृद्धि की अपेक्षा स्वस्थान संक्रमण ही होता है और हानि की अपेक्षा दोनों संक्रमण होते हैं तथा शेष चार लेश्याओं में स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमण सम्भव है।

स्वस्थान की अपेक्षा लेश्याओं के उत्कृष्ट स्थान के समीपवर्ती परिणाम उत्कृष्ट स्थान के परिणाम से अनन्त भाग हानिरूप है तथा स्वस्थान की अपेक्षा से ही जघन्य स्थान के समीपवर्ती स्थान का परिणाम जघन्य स्थान से अनन्त भाग वृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लश्याओं के जघन्य स्थान से यदि हानि हो तो नियम से अनन्त गुण हानि रूप परस्थान संक्रमण होता है।[33]

जैनेतर ग्रन्थों में लेश्या के समतुल्य-सन्दर्भ-

महाभारत में- लेश्या से मिलती-जुलती भावना महाभारत के शान्तिपर्व में मिलती है। जहाँ जगत् के सब जीवों के वर्ण-रंग के अनुसार छः भेदों में विभक्त किया गया है-

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्।[34]

अर्थात् जीव छः वर्ण वाले होते हैं- कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र तथा शुक्ल। कृष्ण वर्ण वाले जीव को सबसे कम सुख, धूम्र कर्म वाले जीव को उससे अधिक सुख और नील वाले को मध्यम सुख होता है। रक्त वर्ण वाले जीव का सुख-दुःख सहने योग्य होता है। हारिद्र (पीले) वर्ण वाले

जीव सुखी होते हैं तथा शुक्लवर्ण वाले परम सुखी होते हैं। जीवों के छः वर्णों का वर्णन परम प्रमाणित माना जाता है।

सत्त्व, रजस, तमस गुण के न्यूनाधिकता के आधार पर रंगों का वर्णन है। जीव के लेश्या-समय एवं स्थान का वर्णन है जो जैनदर्शन से तुलना करने का अच्छा विषय है।

गीता के 16वें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैवीय प्रकृति बतलाई गई है उसमें दैवीय गुण मोक्ष के हेतु हैं और आसुरी गुण बन्धन के हेतु हैं।[35]

बौद्ध ग्रन्थों में-

दीघनिकायपालि में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मक्खलिगोशालक के संसारविशुद्धिवाद में एवं अंगुत्तरनिकाय में पूरणकश्यप के अक्रियावाद में छः जीव-भेदों का वर्गीकरण है। इनके अनुसार कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल- ये छः अभिजातियां है। अंगुत्तरनिकाय के छलभिजातिसुत्त के अनुसार कृष्ण अभिजाति में आजीवक सम्प्रदाय से इतर सम्प्रदायों के गृहस्थ को, नील अभिजाति में निर्ग्रन्थ और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को, लोहित अभिजाति में निर्ग्रन्थ श्रमणों को, हरिद्र अभिजाति में आजीवक गृहस्थों को, शुक्ल अभिजाति में आजीवक श्रमणों को और परमशुक्ल अभिजाति में गोशालक आदि आजीवक सम्प्रदाय के प्रणेता वर्ग को रखा गया। यह वर्गीकरण पूरणकश्यप द्वारा प्रतिपादित है।[36] पूरणकश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए तथागत बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि प्रशस्त और अप्रशस्त मनोभाव तथा कम के आधार पर मानव जाति को कृष्ण और शुक्ल वर्ग में रखा जाय। जो क्रूरकर्मी हैं वे कृष्ण अभिजाति के हैं और जो शुभकर्मी हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं।[37] इन्हें भी गुणकर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में बांटा गया। जैनागम में भी प्रथमतः दो भागों में बांट कर प्रत्येक के तीन-तीन विभाग किए गए। तथागत बुद्ध के अनुसार वर्ण की अपेक्षा कृष्ण-शुक्ल के आधार पर छः अभिजातियां इस प्रकार हैं-

1. कृष्ण अभिजाति कृष्ण धर्म करने वाली।
2. कृष्ण अभिजाति शुक्ल धर्म करने वाली।
3. कृष्णअभिजाति अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण धर्म करने वाली।
4. शुक्ल अभिजाति कृष्णधर्म करने वाली।

5. शुक्ल अभिजाति शुक्ल धर्म करने वाली।
6. शुक्ल अभिजाति अकृष्ण-अशुक्ल धर्म करने वाली।

पातंजल योगदर्शन में योगी के कर्म तथा दूसरों का चित्त कृष्ण, अशुक्ल- अकृष्ण तथा शुक्ल-ऐसा त्रिविध पातंजल योग 4/7 में वर्णित है-''**कर्माशुक्ला-कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्**।''

वहीं दूसरी ओर व्यवहार में यदि लेश्या के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है-

कृष्णा लेश्या के द्वारा- आर्तरौद्रः सदा क्रोधी, मत्सरो धर्मवर्जितः,
निर्दयी, वैर संयुक्तो, कृष्णा लेश्या युतो नर।
नीललेश्या के द्वारा- आलस्यो मंदबुद्धिश्च, स्त्रीलुब्धश्च प्रवंचकः,
कातरष्ठच सदामानी, नील लेष्ठया युतो नरः।
कापोत लेश्या के द्वारा- शोकाकुलः सदारुष्टः, परनिंदा आत्म-प्रशंकः।
संग्रामे प्रार्थयते मृत्युं, कापोत लेश्यायुतो नरः।
पीत लेश्या के द्वारा- प्रबुद्धः करुणायुक्तः, कार्याकार्यविचारकः।
लाभालाभे सदाप्रीतिः, पीतलेश्या युतो नरः।
पद्मलेश्या के विचार- दयाशीलः सदा त्यागी, देवतार्चनतत्परः,
शुचिमूर्तः सदानन्दः, पद्मलेश्या युतो नरः।
शुक्ल लेश्या के विचार- रागद्वेषविनिर्मुक्तः, शोकनिन्दाविवर्जितः।
परमात्मभावसम्पन्नः शुक्ल लेश्या युतो नरः।।[38]

आज लेश्या सिद्धान्त का विषय रह गया है। आज व्यवहारिक पहल पर Colour-Philosophy की प्रयोग विधि की आवश्यकता है।

संदर्भ :

[1] षट्लेश्या-मुनि श्री 108 स्वभावसगर जी महाराज अवतरणिका, प्रकाशक- सकल दिगम्बर जैन समाज ऋषभदेव (केशरियाजी) जिला-उदयपुर, 8.9

[2] पण्णावणासुत्त 13/2 [3] ठाणांग 1/51

[4] जैन लक्षणावली-भाग 3, बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री पृ. 970, प्रकाशक- वीर-सेवा-मन्दिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2, सन् 1979 [5] अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड-6, पृ. 675

[6] गोम्मट्टसार, जीवकाण्ड-489[7] संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 967

[8] जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 514

[9] दर्शन और चिन्तन, भाग-2, पष्ट. 112

[10] गोम्मटसार 489/894/12, सर्वार्थसिद्धि 2/6/159/10 [11] षट्खण्डागम 136

[12] गोम्मट्टसार, जीवकाण्ड, 494-495 [13] गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 704-705

[14] दर्शन और चिन्तन- भाग-2, पं. सुखलाल जी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, 1957, पृ. 297

[15] पंचसंग्रह प्राकत 1/183-184

[16] सर्वार्थसिद्धि 2/6/159/11 [17] गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 536

[18] लेश्याकोश, पृ. 31

[19] तिलोयपण्णत्ति 2/295-296, गोम्मटसार- 509-510, उत्तराध्ययन 34/21-22

[20] तिलोयपण्णत्ति 2/297-298, राजवार्तिक 4/22/11/239/26, उत्तराध्ययन 24/23-24

[21] उत्तराध्ययन 39/25-26

[22] राजवार्तिक 4/212/10/239/29, गोम्मटसार 515/922, उत्तराध्ययनसूत्र 39/27-28

[23] उत्तराध्ययन 39/29-30 [24] उत्तराध्ययन सूत्र 34/31-32

[25] पंचसंग्रह प्राकृत 1/153, गो. जी. 556

[26] आव. अ 4, सू. 6, हारि. टीका [27] गोजी. गा. 506-7, पृ. 182

[28] आव. अ 4, सू. 6, हारि. टीका [29] लेश्याकोश, पृ. 17

[30] लेश्याकोश, पृ. 19 [31] मूलाचार-वट्टकेर स्वामी, 1134-1137

[32] जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश-जिनेन्द्रवर्णी, भाग-3, पृ. 441

[33] गोम्मटसार जीवकाण्ड 499-503 [34] महाभारत शान्तिपर्व, 280/33

[35] गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 161/5-6

[36] अंगुत्तरनिकाय, महावग्ग-6, 3 उछलभिजातिसुत्त, लेश्याकोश, पृ. 250

[38] षड्लेश्या-भावाभिव्यक्ति, पृ. 16

- 3/65, विकास खण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ-226010 (उ.प्र.)

गांधी और जैनदर्शन

– प्रो. बच्छराज दूगढ़

अहिंसा, जैन दर्शन और गांधी परस्पर कुछ अर्थों में समान दृष्टिगोचर होते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये तीनों परस्पर समानान्तर अर्थ ही नहीं रखते अपितु अहिंसा, जैनदर्शन और गांधी कई अर्थों में एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं।

जैन दर्शन अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के मूल आधारों पर आधारित है,[1] वहीं गांधी दर्शन के मूलाधार स्वधर्म, स्वदेशी व स्वराज हैं।[2] इस लेखन में यह प्रयास किया गया है कि जैन दर्शन के प्राचीन सिद्धान्तों को गांधी द्वारा जिन नवीन रूपों में अपनाया गया, उन्हें वैश्विक परिदृश्य में अच्छी तरह से समझा जा सके। जैनधर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक आधार यह स्पष्ट करेगा कि गांधी पर जैन दर्शन का प्रभाव था। यह भी कहा जा सकता है कि गांधी ने जैनदर्शन/ धर्म के कतिपय सिद्धान्तों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्तर पर मानवीय और पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान के रूप में व्याख्या की।

जैनधर्म, गांधी और अहिंसा :

जैनधर्म में अहिंसा को बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषित किया गया है। यहाँ अहिंसा का अर्थ केवल 'नहीं मारने' तक ही सीमित नहीं है। जैन दर्शन में मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाने पर बल दिया गया है।[3] आचारांगसूत्र में कहा गया है- अहिंसक व्यक्ति न ही प्राणियों की हत्या करता है, न करवाता है और न ही हत्या करवाने की अनुमोदना करता है।[4] अहिंसा पूर्ण जागरूकता ही अवस्था है।[5] अहिंसा की यह समग्र व्याख्या वैश्विक सामंजस्य की व्याख्या करती है जिसमें मनुष्य और प्रकृति सम्मिलित है। मनुष्य के लिए जहाँ अहिंसा का सम्बन्ध प्रवृत्ति और अभिप्राय से है वहीं प्रकृति के लिए अहिंसा प्राणीमात्र के प्रति सम्मान है।

सामाजिक-सांस्कृतिक रूप में अहिंसा का तात्पर्य उस व्यवहार से है जो सभी प्रकार के शोषण से मुक्त हो। किसी भी प्रकार का शोषण, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों द्वारा ही प्रेरित होता है।[6] समाज में अशांति के मूल में इन्हीं कषायों की उपस्थिति काम

करती है। कषायों के उपशमन के लिए व्यक्तिगत प्रयास और जागरूकता ही वे साधन हैं जो एक अहिंसक समाज की संरचना में सहायता कर सकते हैं।

गांधी ने लिखा था- ''जैन धर्म के अतिरिक्त दुनिया में ऐसा कोई दूसरा धर्म नहीं है, जिसने अहिंसा की इतनी गहरी और व्यवस्थित व्याख्या जीवन में अनुप्रयोग के साथ की हो।[7] जैन दर्शन का केन्द्रिय सिद्धान्त अहिंसा है, गांधी दर्शन भी इसी पर आधारित है। गांधी ने एक राजनैतिक सक्रियतावाद का सिद्धान्त विकसित किया जिसे 'सत्याग्रह' कहा जाता है, पूर्णतः सत्य और अहिंसा पर ही आधारित है।[8] सत्याग्रह को ''असहयोग'' और ''निष्क्रिय प्रतिरोध'' के रूप में भी अनुदित किया गया। गांधी ने कहा- 'सत्याग्रह निश्चित रूप से सत्यवादियों का हथियार है। एक सत्याग्रही अहिंसा का कठोरता से पालन करने की प्रतिज्ञा करता है....।''[9]

सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे में गांधी अहिंसा की अपनी समझ में हिंसा के रूपों की चर्चा करते हैं। वे हिंसा के दो रूप स्वीकारते हैं- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष हिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा शारीरिक, दृश्य और कर्ता केन्द्रित है जिसका परिणाम शारीरिक चोट, मृत्यु एवं अंतिम परिणति के रूप में युद्ध है। हिंसा का दूसरा रूप अप्रत्यक्ष है। यह सहजतया दृश्यमान नही है। अप्रत्यक्ष हिंसा को संरचनात्मक हिंसा भी कहा जाता है। यह व्यवस्था पर आधारित होती है। सामान्यतः सामाजिक-आर्थिक जीवन में किसी न किसी रूप में यह विद्यमान रहती है। गांधी की विशिष्टता इसी में है कि उनके संवेदनशील मस्तिष्क ने हिंसा के उस सूक्ष्म स्वरूप को भली तरह समझा हो सहज रूप से दृष्टव्य नहीं है, किन्तु वह समाज में विभिन्न प्रकार के शोषण के रूप में व्यापक रूप से विद्यमान है। गांधी ने पुरजोर इस बात को स्वीकार किया कि वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे में शोषण ही हिंसा का मूल कारण है। गांधी ने समाज में व्याप्त शोषण के विभिन्न प्रकारों और साधनों की व्याख्या की, जैसे अधि-कार्यभार, कार्य की अमानवीय दशाएं, न्यूनतम मजदूरी नहीं दिया जाना, मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति (जैसे- भोजन, आवास, कपड़ा, स्वच्छ पानी, पर्यावरण, शिक्षा, चिकित्सकीय सुविधा) का अभाव, काम करने के अवसरों का अभाव, बाल श्रम, लैंगिक अन्याय, मानवीय अधिकारों का हनन आदि। शोषण के ये सभी रूप संरचनात्मक हिंसा के व्यापक रूप हैं। इसलिए जब गांधी अहिंसक विश्व व्यवस्था की

बात करते हैं तो उनका उद्देश्य समाज के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष- दोनों प्रकार की हिंसा को समाप्त करना था।

हिंसा के अभाव की स्थिति को ही शांति नहीं कहा जा सकता है। शांति की संस्कृति अथवा समाज में शांति की स्थापना तभी हो सकती है जब जीवन के प्रति सम्मान, करुणा, दया, अभय, मैत्री आदि के रूप में पल्लवित हो।[10] दूसरे शब्दों में, जहां सभी का उत्थान हो, गांधी जिसे सर्वोदय कहते हैं। अतः गांधी और जैनदर्शन के अनुसार अहिंसा सद्गुणों की स्थापना और दुर्गुणों का उन्मूलन है। सद्गुणों का विकास जीवन में स्वैच्छिक रूप से स्वीकृत व्रतों के पालन से होता है। 18 वर्ष की आयु में गांधी जब वकालत की पढ़ाई करने इंग्लैण्ड जा रहे थे तब उनकी माँ उन्हें इंग्लैण्ड भेजने में हिचकिचा रही थी। उन्होंने सुन रखा था- युवा, विवाहित व्यक्ति जब इंग्लैण्ड गये तो वे भ्रष्ट हो गये। उस समय गांधी की माँ ने जैन संत बेचरजी स्वामी से परामर्श किया। उन्होंने कहा- गांधी विदेश जाने से पूर्व माँ के समक्ष कुछ व्रत ग्रहण करें तभी उन्हें विदेश गमन की अनुमति दी जा सकेगी। गांधी ने प्रतिज्ञा ली- मैं विदेश में मांस, मदिरा और परस्त्रीगमन का त्याग करता हूँ। व्रत ग्रहण करने पर ही मेरी माँ ने मुझे जाने की अनुमति दी।[11] इन व्रतों एवं कुछ अन्य बातों के कारण से मैं समय बचा सका जिससे मुझे धर्मग्रन्थों के गंभीर अध्ययन का अवकाश मिला।

इच्छापरिमाण, स्वदेशी व स्वराज

जैन दर्शन और गांधी दोनों ही आर्थिक विकास के विरोधी नहीं है। उस आर्थिक विकास से कोई हानि नहीं है जो नैतिक पतन और सांस्कृतिक गिरावट से अछूता हो। इसीलिए आर्थिक क्रियाओं का निषेध नहीं है यदि वे प्राकृतिक एवं सामाजिक बाध्यताओं के अनुरूप हों।

दोनों ही विचारधाराओं में अर्थशास्त्र गहन रूप से नैतिकता से संबद्ध रहा है। सतत विकास का लक्ष्य तभी पूरा हो सकता है जब मानवीय गतिविधियां मनुष्य व प्रकृति के साथ सामंजस्य रखकर संपादित की जाएं। इच्छापरिमाण, इच्छाओं का विलोपन नहीं अपितु इच्छाओं का अल्पीकरण है।[12] इस सीमाकरण का मूल उद्देश्य यद्यपि आध्यात्मिक उत्थान है किन्तु इसका परिणाम सामाजिक व आर्थिक विकास के रूप में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

गांधी युग में आधुनिकीकरण और विकास की अवधारणा, एफ्रो-एशियन देशों- जो यूरोपियन शासन से मुक्त हुए थे, की प्रभुत्व वाली विचारधारा के रूप में उद्‌भुत हुई। इन देशों के मुख्य उद्‌देश्य थे-

1. तीव्र आर्थिक विकास एवं

2. पाश्चात्य प्रतिमान के अनुकरण में सामाजिक परिवर्तन।

इन लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयासों ने भारत की सामाजिक, आर्थिक संरचना तथा आध्यात्मिक संपदा के विध्वंस का खतरा उत्पन्न कर दिया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि यह विकास सत्ता, लाभ और भौतिक सुख के आधारों पर अवलंबित था।[13]

विकास के इस प्रतिमान के विरुद्ध गांधी ने शरीर श्रम, आत्म-संयम तथा सद्‌गुणजनित सरल ग्रामीण जीवन की वकालत की। स्वदेशी की अवधारणा का उद्‌देश्य शरीर श्रम, प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग तथा स्वप्रबंधन की राजनैतिक संरचना के द्वारा आर्थिक आत्मनिर्भरता व पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना था। गांधी ने जिस स्वराज की अवधारणा प्रस्तुत की, वह इच्छा परिमाण के सिद्धान्त पर आधारित है। कहा गया है- **''स्वराज के लिए आत्मसंयम, अनुशासित-व्यवहार और व्यक्ति में समुदाय के सभी सदस्यों के प्रति दायित्वबोध की चेतना आवश्यक है।''**[14]

आर्थिक विकास की यह अवधारणा अनेक संदर्भों में प्रासंगिक है जिसमें पृथ्वी की सुरक्षा एवं न्यायपरक जीवनक्षम विश्वव्यवस्था का उद्‌भव भी सम्मिलित है।

समता तथा आत्मपीड़न के प्रति गांधी का तर्क :

पाश्चात्य दार्शनिकों ने बौद्धिकता को मनुष्य की एक प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। सिगमंड फ्राइड जिन्होंने मनुष्य को भावों के संबन्ध में विश्लेषित किया; के बाद ही यह कहा गया कि मनुष्य जितना बौद्धिक प्राणी के साथ भावात्मक प्राणी भी है। समता सत् की सर्वोच्च अवस्था है जो सामान्य भाव स्थिति से उपरत है तथ जो राग और द्वेष से संबन्धित है। तकनीकी रूप से यह मोह विजय की अवस्था है, जिसमें इच्छाएं शून्य हो जाती हैं।[15] व्यावहारिक रूप में यह एक अहिंसक उपक्रम है जो करुणा, क्षमा और दूसरों के उत्थान से सम्पन्न है।

आत्मपीडन जिसका प्रयोग सत्याग्रह में भी किया जाता है; के लिए गांधी का तर्क विरोधियों के तर्कों को काटने की तर्कपूर्ण रणनीति के रूप में प्रयुक्त किया जाना है।[16] दूसरों को समझने के लिए केवल तर्क पर बल देना अपर्याप्त है। गांधी के शब्दों में- यदि तुम वास्तव में कुछ महत्वपूर्ण करना चाहते हो तो तुम्हें केवल तर्क को ही संतुष्ट नहीं करना है, तुम्हें हृदय तक प्रवेश करना होगा। तर्क का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। हृदय में प्रवेश कष्ट सहने से होता है। इससे एक व्यक्ति को भीतर से पहचानने की शुरूआत होती है।[17] इस प्रकार समता और आत्मपीड़न दूसरों को समझने के लिए उच्च अवस्थाएं हैं। कई अर्थों में ये रूपांतरण के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है।

अनेकान्त और संघर्षमुक्त संस्कृति :

अनेकान्त सत् के विभिन्न रूपों का सिद्धान्त है। दूसरों के विचारों को जानने के लिए जैनदर्शन ने अनेकान्त के सिद्धान्त पर बल दिया। रुचि, विचार और व्यवहार में विरोध संघर्ष का मूल कारण है।[18] जैन दर्शन यह स्वीकार करता है- मानवीय समझ में इन विरोधों को दूर करना या समाप्त करना आसान नहीं है। स्वयं के दृष्टिकोण के आधार पर विरोधी विचारों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए अपितु मतों की विभिन्नता का गलत और सही का दावा किये बिना सम्मान होना चाहिए।

गांधी ने 1926 में लिखा था- ''मैं अपने दृष्टिकोण से सदैव सत्य होता हूँ और कई बार मेरे आलोचकों के दृष्टिकोण से गलत। मैं जानता हूँ कि हम दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोणों से सही हैं।''[19]

अनेकान्त प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण को समान महत्त्व देती है। दूसरे को समझने में यद्यपि कुछ दृष्ट एवं कुछ पृष्ठ होते हैं किन्तु वहां कभी भी कोई हाथ ऊपर नहीं होता है। इसीलिए वहां विरोधी विचारों के प्रति भी पर्याप्त सम्मान होता है। गांधी कहते हैं- ''मैं सत् के विभिन्न रूपों के इस सिद्धान्त को बहुत पसंद करता हूँ। यह वह सिद्धान्त है जिसने मुझे एक मुसलमान को उसके दृष्टिकोण से, एक ईसाई को उसके दृष्टिकोण से समझना सिखाया। जैनदर्शन के धरातल पर मैं ईश्वर के अकर्ता रूप को प्रमाणित करता हूँ और रामानुज दर्शन के धरातल पर ईश्वर के कर्ता रूप को। वस्तुतः तो हम सभी सत्य के सम्बन्ध में हम अविचारणीय पर विचार करते हैं, अवर्णनीय की व्याख्या करते हैं, अनाम को जानने की इच्छा करते

हैं, इसीलिए हमारी भाषा मिथ्या होती है, अपर्याप्त होती है और प्रायः विरोधाभासी भी।[20]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह व अनेकान्त तथा गांधी के स्वधर्म, स्वदेशी व स्वराज की अवधारणा जीवन के लिए नया दृष्टिकोण है। ये समग्र रूप से एक नवीन मानव जीवन की संरचना प्रस्तुत करते हैं। हमारी जीवन शैली को संयमित करते हैं तथा एक नवीन विश्व व्यवस्था के निर्माण का आधार प्रस्तुत करते हैं। इसमें प्रकृति के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार, मानवीय गरिमा का सम्मान तथा संघर्षों का शांतिपूर्ण समाधान सम्मिलित है।

******

संदर्भ :

1. आचार्य महाप्रज्ञ, जैनदर्शन के मूल तत्त्व, आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली, 2001 पृ. 19-21

2. Ali Asaraf, Gandhian Approach to Sustainable Development (Gandhism after Gandhi) Mittal Publication, New Delhi, 1999, p.17

3. दसवैआलियं, जिनदासचूर्णि, पृ. 20 एवं श्री भिक्षु आगम विषयकोश, संपादक-आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, 1996, पृ. 76

4. आचार्य महाप्रज्ञ, टीकाकार-आचारांग, भाष्य, जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2001, 3.46

5. आचार्य तुलसी, जैन सिद्धान्त दीपिका, आदर्श साहित्य संघ, चुरू, अध्याय-6

6. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 2990-91 एवं श्री भिक्षु आगम विषयकोश, संपादक-आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं, 1996, पृ.196

7. http/jainismus.hubpages.com/hub/Gandhi-and-Jainism

8. Gandhi M.K., An Autobiography or the Story of My Experiments with Truth, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1990 p.226

9. same.

10. शोभाचन्द्र भारिल्ल (संपा.), अनुवाद-मुनिश्री प्रवीणऋषि जी महाराज, प्रश्नव्याकरण, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 2000, 2.107, पृ.159

11. Gandhi M.K., An Autobiography or the Story of My Experiments with Truth, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1990; p.33; Romain Rolland, Mahatma Gandhi Published in Great Britain, 1924, p. 4

12. आवश्यकसूत्र, पृ. 22 एवं श्री भिक्षु आगम विषयकोश, संपादक- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, 1996 पृ. 625

13. Ali Asaraf, Gandhian Approach to Sustainable Development (Gandhism after Gandhi) Mittal Publication, New Delhi, 1999, p. 13

14. Bhatt, Siddharth; Shukla, Dinesh, Gandhi & Peace, Devvrat Pathak Memorial Trust, Ahmedabad, p.93

15. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, संपादक-हुकुमचन्द भारिल्ल,

16. Bondurant, Conquest of Violence, p. 227-229;

17. Sharp, Gene, The Positics of Nonviolent Action, Porter Sargent Publishers, Boston, 1985, p. 709

18. Sills, David L, International Encyclopedia of Social, The Macmillan, New York, 1972, Voll, III, p.236

19. जैन विश्व भारती, मार्च-मई, 2002ए पृ. 53 20. वही, पृष्ठ 53

– अध्यक्ष, अहिंसा एवं शांति विभाग,
निदेशक, शोध, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूँ (राजस्थान)

आवश्यक सूचनाएँ

(१) अनेकान्त अंक 68/4 (अक्टू. दिस. 2015) **''जैनधर्म एवं आयुर्वेद''** विशेषांक के रूप में प्रकाशित होगा।

(२) अनेकान्त-शोध त्रैमासिकी है। संपादक मण्डल के निर्णयानुसार इसमें समाचार आदि प्रकाशित नहीं किये जाते हैं।

(३) विद्वान लेखकों से अनुरोध है कि वे अपने अप्रकाशित एवं मौलिक शोधालेख ई-मेल अथवा कम्प्यूटर टाईप में ही भेजें। हाथ से सुलेख में लिखा भी भेजा जा सकता है, परन्तु फोटो कापी वाले लेखों पर विचार करना सम्भव नहीं होगा क्योंकि वे प्रायः अस्पष्ट होते हैं।

(४) कृपया अनेकान्त के लिए भेजा गया लेख अन्यत्र जैन पत्रिकाओं में तब तक न भेजें जब तक उसकी अस्वीकृति की सूचना आपको न मिल जाये। लेख के प्रकाशित होने में कम से कम छह माह से एक वर्ष का समय लग सकता है।

(5) अनेकान्त के इस अंक से आचार्य पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' संस्थापक वीर सेवा मंदिर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में, आगामी प्रत्येक अंकों में स्थायी स्तम्भ के रूप में प्रकाशन सुनिश्चित किया गया है। इनके संबन्ध में पाठक विद्वानों के पास कोई संस्मरण हों तो भेजने की कृपा करें।

– संपादक

अर्जन के साथ विसर्जन के सूत्र उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में

सुधाभण्डारी

जैसे-2 मानव ने विकास किया, मानवों के सम्पर्क में आया, व्यवहार प्रारंभ हुआ, व्यक्तिगत चिन्तन ने सामाजिकता की ओर मोड़ लिया। उसे सुसंस्कृत एवं जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए नियमों की आवश्यकता हुई जो आचार रूप मूल्यों व अन्त में धर्म में बदली।

मूल्य आदर्श है सर्वमान्य मानक है धर्म से अनुप्राणित आचार विचार है, जो स्वविकास, सर्वोदय विकास एवं आत्मउत्कर्ष में सहयोगी है। ये इष्ट, प्रयोजन, श्रेय एवं पुरुषार्थ के विषय हैं जिसमें मनुष्य सर्वोच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है जैसे संयमशील, सत्य, अहिंसा, तप, सरलता धैर्य, त्याग आदि। इन्हें हम व्यक्तिगत मूल्य, व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में विभाजित कर सकते हैं, क्योंकि यह जीवन के सभी व्यवहारों के ताने-बाने से संगठित होते हैं।

विश्व में कोई ऐसा समाज एवं धर्म नहीं है जिसमें आचार व धर्म के नियमों का विधान न हो। भौतिक जीवन किसी न किसी रूप में दोषी पाया जाता है। यह दु:ख, अज्ञान, अपावन संवृतियों से परिपूर्ण है। कार्मिक बंधनों से जकड़ा है। अत: महावीर के उपदेश-मूल्य स्वरूप आगमों में संकलित हैं उन्हीं में एक आगम सूत्र है उत्तराध्ययन। महावीर ने निर्वाण से पूर्व पावापुरी में उत्तराध्ययन की प्ररूपणा की जिसमें 36 अध्ययन हैं। जो धर्म कथात्मक, आचारात्मक, सैद्धान्तिक, उपदेशात्मक हैं। विभिन्न मूल्यों-विनय, समता, कषायों से रक्षा, अनासक्ति, पुरुषार्थ, शील, अहिंसा, करूणा आदि मूल्यों को कथाओं व उपदेश के माध्यम से अवगत कराते हैं उन्हीं में से एक मूल्य है अर्जन से विसर्जन।

अर्जन की परिभाषा :- तत्वार्थ सूत्र में अर्जन मूर्च्छा है **''मूर्च्छा परिग्रह''**[१] भौतिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा व ममत्व भाव रखना मूर्च्छा है। चल, अचल सम्पत्ति के अधिपत्य ममत्व की भावना परिग्रह है। **''परित:**

गृहति आत्मा नामिति परिग्रह''[२] इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा को सर्वतोमुखेन जकड़ लेवे वह परिग्रह है। **अकलंक देव - बाह्याभ्यन्तरोषधि संरक्षणादि व्याप्रति मूर्च्छा**[३]

बाह्य एवं आंतरिक परिग्रह के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। बाह्य परिग्रह में स्त्री पुरुष परिजनादिचेतन, मणि, मुक्ता, वाटिका आदि अचेतन परिग्रह हैं। आगम में संग्रह नय से बाह्य परिग्रह से दस भेद है क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, दास-दासी, कुप्य-भाण्ड। आम्यंतर परिग्रह 14 है- मिथ्यात्व, वेदकषाय आदि। प्रश्नव्याकरण के अनुसार - आत्मा के निज गुणों को छोड़कर क्रोध लोभ आदि भावों को ग्रहण करना अन्तरंग परिग्रह है। ममत्व भाव से, भौतिक वस्तुओं को संग्रह करना बाह्य परिग्रह है।

परिसमन्तात ग्रसति इति परिग्रह[४]

बाह्य - आभ्यन्तर जो पुद्गल के प्रति मूर्च्छा जीव को सब तरह से डसती/ ग्रसती है वह परिग्रह है। परिग्रह- परिग्रहण, परि से अर्थ ढेर, विपुल, सम्पूर्ण वस्तुओं का ग्रहण करना अर्जन है।[५] यह जड़चेतन, रूपी-अरूपी, स्थूल व अणु किसी भी प्रकार की वस्तु से हो सकता है।

यह अर्जन महावृक्ष है जिसकी जडें तृष्णा, आकांक्षा इच्छा है। शाखायें- लोभ, ईर्ष्या, हिंसा, कपट है। **यह अर्जन विभावों का मूल है।**

* अर्जन से मनुष्य अनेक आरम्भ जनक कार्य करता है। षट्कायिक जीवों का घात होता है। धर्म अधर्म का विचार नहीं करता। अर्जन के लिये नरहिंसा, भूखे पशु-पक्षियों की हिंसा एवं वध, चर्बी, हडियाँ, प्रसाधनों को पाने के लिए करता है।
* परिग्रह वाला कोई रिश्ता नाता नहीं देखता। जैसा नीतिकार कहते है कि भूखे आदमी को कुछ नहीं सूझता। माता चुलनी लाक्षाग्रह में पुत्र ब्रह्मदत्त को जलाने का कुकृत्य करती है। कंस ने पिता को एवं बहन को कारागार में डाला।
* द्रव्यग्रहण करने के लिये झूठ बोलता है। अनेक प्रकार के कपट मिलावट, कमतौल आदि चौर कर्म करता है।
* दूसरे द्वारा धन का हरण होने से परिग्रही क्रोध करता है, शोक करता है, लोभ करता है, मद करता है। धन के प्रति अनुराग रति है।

* धनवान निर्धन का उपहास करता है। पर-निन्दा, चुगली दूसरों पर संदेह करता है एवं भयभीत रहता है।
* महापरिग्रही को मरते वक्त भी आर्तध्यान आता है जैसे मोहम्मद गजनी हाय मेरी प्यारी दौलत मुझसे छुट रही है।
* शासनकर्ता रक्षक भी रिश्वत, भ्रष्टाचार टैक्स चोरी, अत्याचार करके धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करता है।
* परिग्रह को दुख का मूल बताते हुए आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में लिखते है।

संगात्कामस्ततः क्रोधस्त स्मादिंसा तयाऽशुभम्[६]
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां, दुखं वाचामगोचरम्

अर्थ-परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। अतः दुखों का मूल अर्जन है।

अर्जन के कारण :-

* भौतिक समृद्धि में भी सुख मानना । साधन सम्पन्न व्यक्ति यही स्वर्ग मानता है। * मन्दिर निर्माण, दान की अपार महिमा, प्रतिष्ठा, धार्मिक कार्यो से ही स्वर्ग की प्राप्ति का प्रलोभन जुड़ गया है जो धन के बिना संभव नहीं।

* अर्जन का तीसरा कारण मनौवैज्ञानिक है। व्यक्ति सुरक्षा चाहता है। अंगरक्षक, घर, सवारी आदि शरीर को आरामदायक बनाये रखने में साधन जुटाता है।

* आज मुठ्ठीभर लोगों का अर्जन असंख्य लोगों को गरीबी का जीवन जीने के लिये विवश कर रहा है। पदार्थ सीमित है। उपभोक्ता की आवश्यकता असीम है। वह रेगिस्तान को फलों से भरना चाहता है। अत्याचार प्राकृत मूल संसाधनों पर कर रहा है। पर्यावरण का संकट इसी की उपज है। महावीर ने कहा **वणकम्मे भाडीकम्मे, फोडीकम्मे** अर्थात जंगलों की कटाई न हो, भूमि का उत्खनन न हो। प्रकृति की सुरक्षा हमारी सुरक्षा है।

* वर्तमान में सामाजिक मूल्यों से भी अर्जन प्रवृत्ति प्रभावित हुई है। दहेज-प्रथा, रिश्वत, भ्रष्टाचार, होड, राजनीति। युवा-पीढी के कलाकारों चरित्रवान, चिन्तनशील व्यक्तियों की पहचान नहीं रही।

बनावटीपन की भीड़ में महावीर का चिंतन कहीं खो गया है। जीवनमूल्य हमारे हाथ से छिटक गये है।

विसर्जन : विसर्जन की साधना के लिये मूच्र्छा तोड़नी होगी, महावीर ने शरीर व आत्मा के भेद विज्ञान से ही बात प्रारम्भ की है। यदि बाहर भीतर एक सा जीना है तो आत्मा शरीर को पहचानों, ज्ञान बढाओं, अहिंसक बनो। महावीर ने अंहिसा से अपरिग्रह (विसर्जन) का अणुव्रत-मार्ग, प्रशस्त किया है। पंचम एवं अंतिम नियम **परिग्रह परिमाण** हमारी चल-अचल, चेतन अचेतन सम्पत्ति की सीमाओं को निर्धारित करने का निर्देश देता है। दूसरा नाम **इच्छा परिमाण** है। आंतरिक इच्छाओं को नियंत्रित व नियमित करने का निर्देश देता है। मुख्य उद्देश्य है कि हम बाह्यरूप से सम्पत्ति विवेकपूर्वक निर्धारित सीमाओं में रखें। आंतरिक रूप से इच्छाओं को नियंत्रित करे जिससे बाह्यसीमाओं का पालन स्वयमेव होता रहे। आचार्य कार्तिकेय के अनुसार -

''जो परिवज्जई ग्रन्थं अब्भंतर बाहिरं च ज्ञाणदो
पावंति भण्णमाणो निग्गंथो सो हवे णाणी[७]

जो संसार से बांधता है उसे ग्रन्थ या परिग्रह करते है। बहिरंग एवं आभ्यान्तर दो प्रकार का है। जो उन्हें **आनन्दपूर्वक छोडकर निर्ममत्व भाव में लीन होता हुआ आत्म स्वरूप में स्थित तथा संतोष में तत्पर रहता है** वह अपरिग्रही होता है। विसर्जन-अर्थ के प्रति मूच्र्छा न रखना, उसके संग्रह से बचे रहना, लगाव न रखना। अपरिग्रही न तो वस्तुओं के प्रति आसक्त होते हैं न संग्रह करते हैं। **विसर्जन-शरीर में ममत्व के त्याग के साथ विसर्जन है।**

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा -

धनधान्यादि ग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता'
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण-नामाऽपि।[८]

क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन धान्य, दास दासी, कुप्य भाण्ड इन दस बाह्य परिग्रहों को परिमित रखकर उनसे अधिक में इच्छा नहीं रखना, सीमा निर्धारण करना। उस सीमा को वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में और कम करता जाये मनसा वचसा कायसा निभाने का प्रावधान है। व्रत को कृत व कारित दोनों ही तरह से अपनाता है। जैन श्रावक के लिये अर्जन की सीमा

का निर्देश नहीं किया गया है लेकिन अर्जन के साथ शुद्धि व व्यक्तिगत उपभोग परिभोग की सीमा सदैव कही गई है।

आचार्य समन्तभद्र ने पांच अतिचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है।

अतिवाहनाऽति संग्रह, विस्मयलोभाऽतिभार वहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते।[९]

'अर्थात् अधिक सवारी रखना, अनावश्यक वस्तुएँ इकट्ठी करना, दूसरे का वैभव देखकर विषाद करना, अति लोभ करना, बहुत भार लादना ये पांच परिग्रह के अतिचार कहे गये है।' अधिक लाभ के लिये वाहनों एवं पशुओं का क्षमता से ज्यादा उपयोग काम की आशा से धन को रोके रखना आदि। सामाजिक होने के नाते अर्थ द्वारा ही सब संभव है। मनुष्य बढती हुई इच्छाओं के कारण संचय करता है अपने विवेक एवं परिस्थितियों के अनुरूप इच्छाओं को परिमित करता है। प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक है वह व्यवसाय इतना न फैलाए जिसकी वह संभाल न कर सके। सदैव व्यग्रता बढती रहेगी। जीवन भर कठोर श्रम करते हुए उसका संचय ही करने में लगा है, लोग उसे मूर्ख कहेंगे, क्योंकि जिन्दगी से उसने कभी कुछ प्राप्त नहीं किया। अर्जन संग्रह, संरक्षण में जिन्दगी जा रही है वो अर्थ का अर्थ न रहकर अनर्थ का बीज बन जायेगा। गृहस्थ जीवन रहते हुए हिंसा से नहीं बचा जा सकता। पर श्रावक अपनी दृष्टि को सही रखे, जो काम करे, उसके परिणाम से परिचित हो। आवश्यकता की सही पहचान हो, उपयोग से दूसरे के हित का कितना नुकसान है, विचार करे ताकि कम कर्मो का बंध होगा।

विसर्जन की सद्वृतियाँ : दान

आदि पुराण में कहा है कि स्व पर के उपकार के लिये मन वचन काय की विशुद्धता पूर्वक जो धन दान दिया जाता है उसे दान कहते है।[10] दान का अर्थ है संविभाग, न्यायोपार्जित आय में से अतिथि को योग्य आहार, अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना संपति का उचित वपन करना।

अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्[११]

महत्व :- **दाणं सोहग्गकरं दानं अरूग्ग कारणं परमं**
दानं मोगनिहाणं, दानं ठाणं गुणगुणाणं[१२]

दान सुख सौभाग्यकारी है। परम आरोग्यकारी है। पुण्य का निदान और गुण समूह का स्थान है। परमार्थ की साधना है। अर्थ का यदि संग्रह किया जाय तो अनर्थ हो जाता है। बांटने से दिव्यार्थ बन जाता है। सार है

धन कमाओ, पर डूब न जाओ। प्रसन्न मन से दिया गया थोडा दान भी वरदान बन जाता है। जैसे शालीभद्र के लिये हुआ। मेघरथ राजा ने भी तीर्थकर गोत्र बांधा। इससे पुण्य बंध होता है। पाप की निर्जरा होने से रोग नहीं होता, वैज्ञानिक कारण यह है कि अच्छी भावना से श्वेत रक्त कण की संख्या बढती है, रोग प्रतिरोधक शक्ति बढती है। चारों ओर प्रभावशाली प्रभामण्डल बनता है। संक्रामक रोगाणु भी प्रवेश नहीं कर पाते। अच्छे व्यक्तियों के मस्तिष्क से अल्फा तरंग, बीटा, थीटा अच्छी तरंगे निकलती है अतः सेवादानी भावी अत्यन्त प्रसन्न प्रभावशाली चुम्बकीय शक्ति से युक्त होते है निडर होते है।

गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तरस्य संचयात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां पयोधानामधः स्थितिः।।[१३]

धन देने से गौरव प्राप्त होता है, संग्रह करने से नहीं। बादलों की उच्च स्थिति देने से ही है। समुद्र की नीचे स्थिति संग्रह से है। आकाश के काले बादल बरस कर जब श्वेत हो जाते है वे यह संकेत करते है कि वितरण में ही मुनष्य की शुद्धता है। कौटिल्य शास्त्र में लिखा है- दान से यश सुख सौभाग्य व देने की योग्यता व उदात्त भावनायें बनती है। समाज के हर व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूर्ण होतीं हैं।

टाल्सटॉय का कथन है- अच्छा आदमी वह है जिसके पास दो कोट है। वह एक कोट उस व्यक्ति को दे, जिसे सख्त जरूरत है। महान वे हैं जिसके जीने से बहुत प्राणी, जीते हैं। जैसे चद्रमा उदित होता है तो वह सारे नक्षत्र व तारे को भी चमकने का अवसर देता है।

दान देने के नियम :- महावीर ने कहा है दान देने के पूर्व मन में कोई आशंका, पछतावा, अंहकार न हो, दान गुप्त हो विज्ञापन की वृति से दिया दान पवित्रता खण्डित करता है। दान देते वक्त मुँह नीचे हो ताकि लेने वाले को संकोच न हो। रहिम ऐसे नवाब थे वे प्रतिदिन दान देते, पर आँख नीची करके। एक याचक को दो तीन बार दान ले चुकने के बाद भी दिये जा रहे थे। यह देख कवि गंग ने उनसे पूछा -

सीखे कहा नवाब जी देती ऐसी देन।
ज्यों ज्यों कर ऊँचे बढ़े त्यों त्यों नीचे नैन।।

रहिम बोले - देने वाला और है जो देता दिन रैन।

लोग भरम हम पे करे इस विधि नीचे नैन॥

दानपति के गुण - श्रद्धा शक्ति भक्ति, विज्ञान, क्षमा, त्याग ये दानपति के गुण है।[१४] दान देने में दाता, देय, पात्र की शुद्धि होना आवश्यक है।[१५] उपासकाध्ययन के अनुसार 4 प्रकार के दान है[१६] - आहार, औषध, शास्त्र (ज्ञान) एवं अभयदान।

अभयदान - यह सर्वश्रेष्ठ दान है, दूसरे जीवों की रक्षा करना, जैसा उत्तराध्ययन के संजयीय में ऋषि राजा संयति को अभयदान का संदेश देते है। **सच कहा है कि अगर तू कमा सकता है तो सौ हाथों से कमा, सौ हाथों से अर्जन कर। लेकिन उसे हजार हाथों से बरसाने की हिम्मत भी रख।**

त्याग :-

अर्थ - शरीर से आसक्ति का परित्याग कर पदार्थों के प्रति मन में वैराग्य रखना। यह जीव रक्षण व अपने हित के लिये किया जाता है। जो अपने पास है उसे अपना न समझ छोड़ दिया जाय यह त्याग है। त्याग में छोड़ने पर आग्रह है। त्याग वैयक्तिक है। अपनी वस्तु पर से अपना अधिकार छोड़ देना है। आचार्य अकलंक [१७] **सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृति को त्याग माना है।** कुन्दकुन्द[१८] ने कहा है अपने से **भिन्न सभी पदार्थो को ये पर है इस प्रकार जानकर त्याग किया जाता है।** इशावास्य उपनिषद में कहा है-

''इस चर जगत मे जो कुछ है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। लब्ध वस्तु में से त्याग करके ही भोग करे, किसी अन्य के धन का लोभ न करे। इसमें त्याग और अलोभ के लिये स्पष्ट निर्देश है जो अपरिग्रह व्रत का सार है।''

दानियों से भी अधिक सम्मान त्यागियों का है। त्याग करने में स्वर्ग प्राप्ति, गुणों का आश्रय, वर्ण, आयु, बल, बुद्धि बढ़ती है। बन्धुत्व की प्राप्ति होती है। सुख समृद्धि होती है। क्षुधा पीड़ित के लिये किया त्याग दीर्घायु, आरोग्य, यश आदि को बढ़ाता है। नवधा भक्तिपूर्वक त्याग, दुष्टचिताओं की समाप्ति करता है। औषधदान से निरोगता एवं अभय से प्राणियों का रक्षण होता है। ये त्याग की विधियाँ है।

उत्तराध्ययन में **इषुकारिय** में पूर्वजन्मों में शुभ संस्कार लेकर 6 आत्माओं के संयोग का निरूपण है। महाराज इजुकार, कमलावती, पुरोहित

मृगु-पत्नी यशा दो पुत्र, पुरोहित भोगवादों से लिप्त था। दोनो पुत्रों के त्याग भाव की महत्ता से प्रबुद्ध हुए। **न प्रजया न धनेन, त्यागौनैकेनामृत्व मानयुः (गा. १३, १४ अ. १४)** अर्थात न संतान से, न धन से किन्तु एक मात्र त्याग से ही लोगों का अमृत्व प्राप्त होता है। पुत्र पत्नी के साथ पुरोहित भोगों को त्यागकर अभिनिष्क्रमण करते हैं। यह सुनकर कुटुम्ब की धन सम्पत्ति की चाह रखने वाले राजा को कमलावती ने बोध दिया व दोनों ने भोग त्यागकर प्रवज्या की।

समता, सयंम

समियाए धम्मे आरहहिं पवेदिते[१९] - समता में धर्म कहा है सम अर्थात समता धारण करना अर्थात् सम-श्रम, पुरुषार्थ पूर्वक जीवन व्यतीत करना। भगवती आराधना में कहा है- सब वस्तुओं में जो अप्रतिबद्ध (ममत्वहीन) है वही सब जगह समता को प्राप्त करता है। **सव्वत्थ अपडिनद्धो उवेदिं सव्वत्थ समभावं** [२०] आचारांग सूत्र में[२१] - **आत्मजाग्रत व्यक्ति न तो विरक्ति से दुखी होता है और न प्रसन्न क्योकि समता में सब बराबर है।** भयातुर व्यक्ति ही संग्रह करता है। समता के लिये सरलता का जीवन जीना आवश्यक है। बनावटीपन से समता नही आयेगी। समता बिना तपस्या, शास्त्र अध्ययन, मौन सब व्यर्थ है। आज के युग में महान अमिताभ के बारे में पढ़ा था कि वे असुविधा के लिये शिकायत न कर समता रखते थे। चैन्नई में **''आखरी रास्ता''** फिल्म की शुटिंग थी। गर्मी इतनी थी कि सभी परेशान व शिकायत कर रहे थे। बच्चन जी को सीन में शाल ओढ़ना था। कुर्सी पर बैठे पढ रहे थे, जब पूछा गया कि इतनी गर्मी में शाल ओढ़कर भी, शान्त कैसे बैठे हैं। बोले "If I don't think about heat don't feel it यह है Big B Legend की समता। सामायिक की बहुत प्रतिष्ठा है जिनका मुख्य लक्षण समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से आती है। त्रण, कंचन, शत्रु, मित्र आदि विषमताओं में आसक्ति रहित होकर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। सरल व अभय व्यक्ति ही विसर्जन में विश्वास करता है। परिग्रह की आग को संयम के जल से शमित करें। **विसर्जन में अवरोधक** - मानवीय स्वभाव की असीम इच्छा-तृष्णा, लोभ एवं आसक्ति का समन्वित रूप है। **अतः इच्छा सीमांकन, लोभ संवरण, अनासक्ति अपरिग्रह वृति में सहयोगी है।**

इच्छा सीमाकंन – जन्म के साथ इच्छायें शुरू होकर वय के साथ बढ़ती जाती हैं। आयु क्षीण हो जाती है लेकिन इच्छा नहीं। राजा कोणिक महत्वाकांक्षा पूरी करने को जेल में पिता को डाल देता है। आखिर कौन सा दोष, विवेक-बुद्धि को आवृत कर मानव को दानव बना देता है?

नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से कहा – सुवण्ण रूप्पस्स उपव्वया भवेसिया हु केलाससभा उसंख्या[२२] कैलाश के समान सोने चाँदी के असंख्य पर्वत मिल जाये फिर भी लोभी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती, क्योकि इच्छाएँ आकाश के समान है। एक पूरी हुई कि दूसरी तैयार। मनुष्य लोभ तृष्णा के अधीन हो जाता है तो इच्छापूर्ति की हविस उठती है। इच्छाओं का पुतला सारा जीवन तेली के बैल की तरह लगा रहता है। इच्छाओं की पूर्ति में कभी सत्ता, पद, धन, स्वास्थ्य, पुत्र आदि के लिए मस्तिष्क में तूफान उठने लगता है। वह अशान्त हो जाता है। इच्छा ऐसी आग है ज्यों-ज्यों तृप्ति की आहुति डालो, त्यों-त्यों तीव्र होकर धधक उठती है।

अत: इच्छाओं का विश्लेषण कर आवश्यक पूर्ति व निष्कृष्ट का त्याग करे। शुभइच्छा – समाजसेवा, परोपकार, स्वपरकल्याण, समता, कषाय भाव कम करना उत्कृष्ट है। इच्छा की निष्कृष्टता- अनुचित उपायों, साधनों का प्रयोग, बैंक से लोन लेकर न देना, अनपढ़ ग्रामीणों से लाभ लेना यह सामाजिक पाप है। जैन धर्म में ये इच्छायें कृष्ण लेश्या या रौद्रध्यान से परिणत होती है।

लोभ संवरण :- हेमचन्द्र[२३] के **योगशास्त्र के अनुसार सत्पात्र को धन न देना या दूसरे के धन को ग्रहण करना।** आ. अमृतसूरि[२४] के अनुसार **उपर्युक्त स्थल पर धन व्यय न करना लोभ है।** संग्रह करने की वृत्ति से लोभी कभी तृप्त नहीं होते। सद्असद् का विवेक खो देते है। अनन्त पीड़ा परिताप भी उत्पन्न होता है। सभी गुणों का विनाश होता है। **लोभो सव्वविणासणो** [२५] उत्तराध्ययन [२६] अध्याय **कपिलीय** में लोभवृत्ति का स्वरूप व त्याग की प्रेरणा दी है। महर्षि कपिल के जीवन की झांकी बढ़ते-बढ़ते लोभ दो माशा सोने से राजमहल तक पहुंच गई। अत: लोभ को संतोष से जीतना चाहिये। सामाजिक बुराईयों का बडा घटक प्रलोभन है।

अत: सद्वृतियों द्वारा अशुभ इच्छाओं का त्यागकर परिग्रह की आग को शामित करे। अर्थ के अर्जन में, जिन्दगी व्यर्थ न करों। विसर्जन का आत्मशोधन की दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य है। भौतिकवादी युग में जैन

संस्कृति द्वारा घोषित अपरिग्रह का व्यावहारिक दृष्टि से अवदान सिद्ध हो चुका है। विसर्जन की संजीवनी बूटी को स्वीकार कर संतोषपूर्वक सादगी व सहजता जीवन में अपनायें। आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करें। असीमित आंकाक्षाओं का नियमन करें ताकि पूरे विश्व में सौहार्द, सदभाव, शान्ति की स्थापना हो।

महावीर व गांधी की शिक्षा है ''आवश्यकता व सम्पत्ति का सीमाकरण ही हमें शान्ति की ओर प्रस्थित कर सकता है। बिना शान्ति के भौतिक सम्पन्नता एक भ्रान्ति है, जिसने वर्तमान युग को दिग्भ्रांत बना डाला। अतः व्यक्ति भी बदले व्यवस्था भी बदले तभी नये दौर की आहट संभव है। आज के युग की अपेक्षा है -

''इच्छाओं का परीसीमन हो स्वयं मनुष्य का संवर्धन हो।
सर्जन का मंतव्य विसर्जन-दान त्याग, संयम से संविभाग का परिवर्धन हो।
अर्जन संग्रह के संरक्षण में अर्थ अनर्थ न होने पाये।''
लोभ कपट तृष्णा मूर्च्छा में जीवन व्यर्थ न होने पाये।।

संदर्भ :

1. तत्वार्थ सूत्र उमास्वामी त.स् 7/17 2. वसुनन्दी श्रावकाचार - आ. सुनिल सागर
3. राजवार्तिक 7/17/1
4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार- आचार्य समन्तप्रभ, भारतीय अनेकान्त विद्वत परिषद 1997 - पृ. 208
5. सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय जीवन मुल्य पेज 180, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1996
6. ज्ञानावर्ण (16/12) 7. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा (386) 8. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (15)
9. रत्नकरण्डश्रावकाचार 10. आदिपुराण - गा. 135, पर्व वीशा द्वितीय भाग जिनसेन
11. तत्वार्थ सूत्र 6.127 12. दान कुलम - 3
13. श्रमण Jan-March 2012 Vol. LX111 Page 12
14. आदिपुराण गा. 82-85 जिनसेन पर्व विंश वही गा. 138
15. वहीं गा. 138 16. उपासक अधययन सुत्र 17. तत्वार्थ राजवार्तिक अ. 9 सू. 6
18. समय सार, 34 19. आचारंग सुत्र/ प्रथम अंक 20. भगवती आ. 1683
21. आचारांग सुत्र 22. उतरा, 9/48 23. हेमचन्द्र योगशास्त्र
24.दशवैकालिक- 8, 38-मधुकर मुनि 25. आ. अमृतसुरी 26. उतरा, अ. 8, गा. 26

- 1426, फ्लोरा काम्पलेक्स, देवेन्द्रधाम के पीछे,
भुवन, उदयपुर-313001 (राजस्थान)

Need of the Day-Comparative study of Indic-religions

- Prof. Sagarmal Jain

Orientation –

General Knowledge of different *Prakrits* with their peculiarities and their literature, along with Jain concepts of non-violence, non-possession and non-absolutisms is essential for Indic studies Indian culture consist of two traditions *Sramanic* and *Vedic*. At present *Sramanic* tradition has mainly two traditions- *Jainism* and *Buddhism* though there were some other minor *Sramanic* traditions also, such as *Ajivakas* and others, which were vanished in due course of time or merged in the greater *Hindu* tradition of Indian culture.

Early *Jaina* canonical literature has been written in *prakrit* languages, so to know Jainism in its original form knowledge of *prakrit* languages, with their grammar and with their different shades and their literature is necessary. *Buddhist* literature has been written *Pali* language. In earlier times *Pali* also had been called as *Magadhi*, which was one of the shades of *Prakrits. pali* and *ardha-magadhi* language of *Jain* canonical literature are very near to each other.

Various *Prakrit*-

Prakrit language has various shades such as *Magadhi, Addhmagadhi, Saurseni, Maharastri* and *Paisachi* etc. *Jain* canonical literature of *Swetamber* sect had been written in *Addhamagadhi* and of *Digambar* sect in *Saurseni prakrit.* These two sades of *Prakrit* language are very near to *Pali* and not very far from the *Vedic Sanskrit* and the language of *Avaistha* of *Parasi* tradition. For the studies of Indian culture as a whole the knowledge of these *Prakrist*- languages is very essential.

Purpose of *Prakrits* and *Jain* Studies –

The purpose of this Indic-study to teach the basic human

values of Indian tradition along with the different *dharmas* of Indian origin and their basic philosophies as well as to understand the unity in diversity of Indian culture. We cannot understand Indian culture completely without understanding different constituents of it's i.e. *Jainsim, Buddhism* and *Hinduism*, because they various similarities along with their mutual impact so one thing must be clear in our mind that the studies and researches in the field of *Indic*-studies are not possible in isolation. In fact, *Jainism, Buddhism* and *Hinduism* are so intermingled and mutually influenced that to have a proper comprehensive knowledge of one, the understanding of the others is essential.

Sraman and Brahman tradions of Indian culture :

However, two distinct trends have been pre domination in Indian culture from its earliest days, known as *Brahmanic* and *Sramanic*. No doubt these two trends are distinguishable, but at the same time we must be aware of the fact they are not separable. Though on the basis of some peculiarities in their theories, we can distinguish them, yet in practice, it is very difficult to divaricate, them because neither of the two remained uninfluenced by the others. The earlier *Sramanic* trends and their later phases, *Jainism* and *Buddhism*, were influenced by the *Vedic* tradition and vice-a-versa. The concepts of *Tapas* or austerity, asceticism, liberation, meditation, equanimity and non-violence are earlier absent in the *Vedas* and came into existence in *Hinduism* through *Sramanic* influence. The *Upanisadas* and the *Gita* evolved some new spiritual definitions of *Vedic* rituals, these two are the representatives of the dialogue taken place in *Sramanic* and *Vedic* traditions.

Mutual impact of these two tradition :

The *Upanisadic* trend of *Hinduism* is not a pure form of *Vedic* religion. It incorporated in itself various *Sarmanic* tenets which gave a new dimension to *vedic* religion. Thus, we can say that our present *Hinduism* is an intermingling of *Vedic* and Sramanic traditions. The

vioce raised by our ancient *Upanisadic Rsis*, *Munis* and *Sramanas* against the ritualistic and worldly outlook of caste-ridden *Brahminism*, became more strong in the form of *Jainism* and *Buddhism* along with other minor *Sramanic* sects. Infact the *Upanisadic* trend as well as *Jainism* and *Buddhism* provided refuge to those, who fed up with *vedic* ritulism and the worldly outlook. Not only *Jainism* and *Buddhism* but some other sects and schools of Indian thought such as *Ajivakas* and *Samkhyas* also adopted more or less the same course towards *Vedic* ritualism. However, *Jainism* and *Buddhism* were more candid and vehement in their opposition towards *Vedic* ritualism. They out rightly rejected animal sacrifices in *yajnas*, the birth-based caste-system and the infallibility to the *vedic* verses. In *Mahavira* and *Buddha*, the most prominent preachers (exponents), we find the real crusaders; whose tirade, against caste-ridden and ritualistic *Brahminism,* touching a low water-mark and crumbling under its inner inadequacies, they gave a severe jolt to it. *Jainism* and *Buddhism* came forward to sweep away the long accumulated excrescence, grown on Indian culture in the form of rituals, casteism, and superstitions.

But we shall be mistaken if we presume that in their attempt to clear away the dirt of *Vadic* ritualism, *Jainism* and *Buddhism* remained untouched from it. They were also considerably influenced by Vedic rituals. Ritualism in the new form of *Tantric* practices crept into *Jainism* and *Buddhism* and these practices became part and parcel of their religious practices and mode of worship. With the impact of Hindu*Tantricism, Jainas* adopted various *Hindu* deities and their mode of worship with some changes, which were suited to their religious temperament, but these deities were alien to *Jainism* in its original form. The *Jaina* concept of *Sasana Devata* or *Yaksa-Yaksis* is nothing but a *Jaina* version of *Hindu* deities. As I have pointed out earlier, the influence has been reciprocal. This can be demonstrated by the fact that on one side *Hinduism* accepted *Rsabha* and *Buddha* as incarnation of God while on the other side

Jainism inculded *Rama* and *Krsna* in its list of their *Salaka Purusas*. A number of *Hindu* Gods and Goddesses were accepted as consorts of *Tirthankaras* such as *Sarasvati, Kali, Mahakali, Cakresvari, Ambika, Padmavati* and *Siddhika.*

The Need of comparative religious studies :

The moot point I intend to make is that different religious traditions of our great Indian culture have borrowed various concepts from one-another and that is the duty of ours to study and highlight this mutual impact, which is the need of the hour and thus we can bridge the gulf, existing between different religious systems.

To see the mutual impact and to understand the basic unity among these various religions and their canonical works such as a *Prakrit* work *Risibhasita (Isibhasiyaim)* and *Pali* works such as *Dhammapad* and *thera-gatha* are most essential for the Indic studies, because *Isibhasiyaim* has the basic teachings along with their philosophies of these three basic constituents of Indian culture i.e. *Jainism, Buddhism* and *Hinduism* along with some minor sects of *Sramanic* tradition. It has the basic teaching of two *Jain thinkers*, three *Buddhist* teachers as well as twenty two *Upanisadic Risis* along with some other *Risis* of minor *Sramanic* and *Vedic* traditions. Thus the study of the *Prakrit* language is necessary for to understand the unity in diversity in Indian culture along with its three constitutes. To understand early Jain as well as *Buddhist* canon and mutual impact in these traditions the knowledge of these basic languages i.e. *Pali, Prakrit* and *Sanskrit* languages and their early literature is essential. The study of mutual impact and unity in diversity between these three systems of Indic culture is the fundamental aim of this university.

The advancement in all the walks of life and knowledge could not sublimate our animal and selfish nature. The animal instinct lying within us is still forceful and is dominating our individual and social behavior and due to this our life is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. The more advanced a nation, stronger the grip of these evils of our age over it, the single most specific

feature by which our age may be characterized is that of tension. Now a day not only the individuals, but the total human race is living in tension. **Need for the comparative studies of humane values propounded in different Indian religions.**

Though outwardly we are pleading for peace and non-violence yet by heart we still have strong faith in the law of the jungle, i.e. the dictum-'might is right.' we are living for the satisfaction of our animal nature only, though we talk of higher social and spiritual values. This duality or the gulf between our thought and action is the sole factor disturbing our inner as well as outer peace. Once the faith in higher values or even in our fellow beings is shaken and we start seeing each and every person or a community or a nation with the eyes of doubt, definitely, it is the sign of disturbed mentality.

The basic problems of present society are mental tensions, violence and conflicts of ideologies and faiths. Jainism had tried to solve these problems of mankind through the three basic tenets of non-attachment or non-possessiveness (*Aparigraha*), non-violence (*Ahimsa*) and non- absolutism (*Anekanta*). If mankind observes these three principles, peace and harmony can certainly be established in the world.

First of all we are human being and then any thing else .e *Hindus, Buddhists, Christians, Muslimes, Sikkhas, Jainas* and the like. To be a real human being, is a pre-condition for being a real *Hindu* etc. Our prime duty is to be a human in its real sense. This spirit is echoed in one of the earlier *Jaina* text *Uttaradhyayana* where in Lore *Mahavira* has laid down four conditions for true religious being. viz- 1. Humanity, 2. Belief in true of religious teachings 3. Control over senses and 4. Efforts for self-purification. Thus we see that among these four conditions of a religious being, humanity occupies the first and the foremost position and to be a real human unbiased study of various religious systems and their script uses in essential.

******

सम्मइसुत्तं में प्रतिपादित सह-अस्तित्व का दार्शनिक विवेचन

- श्रीमती दीप्ति मेहता

सम्मइसुत्तं अर्थात् सन्मतिसूत्र अथवा सन्मतितर्कप्रकरण यह एक दार्शनिक रचना है। यद्यपि इस ग्रंथ की विषय वस्तु मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है तथापि आचार्य सिद्धसेन के काव्य कौशल को भी दर्शाती है। सम्मइसुत्तं एक सूत्रबद्ध-लघुकाय कृति है जिसने आचार्य सिद्धसेन को भारतीय नैयायिकों तथा कवियों में दर्शन व शैली-विज्ञान के कारण एक विशिष्ट स्थान व सम्मान दिलाया है।

सम्मइसुत्तं एक विशुद्ध तर्कविद्या का अनुपम दार्शनिक ग्रंथ है। यह ग्रंथ 167 आर्या छन्दों में प्राकृत भाषा में निबद्ध है जो कि तीन काण्डों में विभक्त है। ग्रंथ के प्रथम काण्ड में मुख्य रूप से नय और सप्तभंगी का, द्वितीय काण्ड में दर्शन और ज्ञान का तथा तृतीय काण्ड में पर्याय-गुण से अभिन्न वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रंथ में सत्यनिष्ठा, ज्ञान, अहंकार-विसर्जन, सहिष्णुता, अहिंसा, मानसिक प्रदूषण से बचाव आदि मानवीय मूल्यों की दार्शनिक मीमांसा की गई है परन्तु मुख्यतः अनेकान्तवाद का प्रतिपाद्य होने से सह-अस्तित्व का दृष्टिकोण मुख्य रहा है। वस्तु-विवेचन के माध्यम से नयों में सह-अस्तित्व, द्रव्य गुण पर्याय में सह-अस्तित्व, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में सह-अस्तित्व, पर-मतों में सह अस्तित्व और ज्ञान व चारित्र में सह-अस्तित्व आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

नयों में सह-अस्तित्व -

आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'धवला' में नय के विषय में कहा है- अनेकान्त गुण और पर्यायों सहित अथवा उसके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्यों को जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान कराता है, उसे नय कहते हैं।[1]

समन्तभद्र आचार्य ने स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक पदार्थ के धर्मों का अलग-अलग कथन करने वाले को नय कहा है।[2] आचार्य अकलंकदेव कहते है- **नयोज्ञातुर अभिप्रायः।**[३] अर्थात् ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा नयों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ विभिन्न दृष्टिकोणों के अन्तर्गत दी गई है। आचार्य सिद्धसेन के अनुसार - **तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।**
दव्वट्ठियों य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं।।[४]

अर्थात्- तीर्थंकर के वचन सामान्य-विशेषात्मक हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से मूल वस्तु की व्याख्या की गयी है। शास्त्रों में जो अन्य नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दोनों नयों का विस्तार है। द्रव्यार्थिक नय अभेद रूप तथा सामान्य कथन करता है, किन्तु पर्यायार्थिक नय का विषय भेद रूप पर्याय की विशेषताओं का कथन करना है। द्रव्य निरपेक्ष पर्याय और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य त्रिकाल में संभव नहीं है। अतः दोनों नय सापेक्ष है। वे अपने विरोधी नय के विषय में स्पर्श से रहित नहीं है। क्योंकि सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना कभी भी नहीं पाया जाता और भी कहा है- **दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।**[५] अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं है और द्रव्य से विहीन कोई पर्याय नहीं है। यह सह-अस्तित्व सदैव रहता है। अतः दोनों नयों में भी सह-अस्तित्व को प्रकट करता है। यदि ये दोनों नय एक दूसरे के विषय का तिरस्कार करके मात्र अपने विषय का ही कथन करें व अन्य का न करें तो ये नय मिथ्यानय अर्थात् झूठे नय कहलाएंगे और यदि एक दूसरे के सापेक्ष कथन करें तो ये ही नय सुनय और सच्चे नय कहलाएंगे।

यदि हम दोनों नयों के सह-अस्तित्व को न स्वीकार करें तो क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं-

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स।
सासयवियत्तिवाई जम्हा उच्छेयवाईय॥
सुह दुक्खसंपओगो ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि।
एंगतुच्छेयम्मि य सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं॥

कम्मं जोगणिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधाट्ठई कारणं णत्थि।।[6]

अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की एकान्तमान्यता के अनुसार जीव द्रव्य नित्य है, इसलिए अपरिणामी है और कूटस्थ होने से उसके संसार नहीं बनता है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय के मत में मूल वस्तु का विनाश मानने से सुख-दु:ख, जन्म-मरण, राग-द्वेषादि रूप संसार नहीं होगा। कर्मों का बंध व मोक्ष भी असंभव है।

सभी नय अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अपने-अपने विषय का कथन करते हैं, तब सभी सत्य होते हैं। किन्तु जब अपनी मर्यादा को लाँघकर दूसरे नय के वक्तव्य का निराकरण करने में प्रवृत्त हो तो वे मिथ्या हो जाते हैं। अत: नयों का सह-अस्तित्व ही उसकी सम्यक्ता को प्राप्त करता है।

इन मुख्य नयों के सह-अस्तित्व से ही सप्तभंगी का उद्भव होता है। वस्तु को हम द्रव्य अपेक्षा नित्य और पर्याय अपेक्षा से अनित्य और दोनों के एक साथ प्रधानता से कथन की अपेक्षा से अवक्तव्य कहते हैं। दोनों नयों के युगपद् वर्णन करते हुए क्रमश: कथन होने से उभयरूप प्ररूपित होता है और इन्हीं के संयोगों से आगे के भंग भी बन जाते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय में सह-अस्तित्व -

द्रव्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं- ''उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।''[7] आचार्य पूज्यपाद के अनुसार 'जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाएगा व गुणों को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं।'[8] गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं।[9] अथवा जो यथा योग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।[10] द्रव्य, वस्तु, पदार्थ, सत्त, सत्त्व, सामान्य, अन्वय, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्य रूप अर्थ के ही वाचक है। गुण शब्द सहभावी विशेषताओं का वाचक है।

आचार्य उमास्वामी कहते हैं- ''जो द्रव्य के आश्रय से हो और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों वे गुण है।[12] गुणों को सहभू, अन्वयी और अर्थ रूप भी कहा गया है।[13] द्रव्य में अनन्तगुण रहते हैं। प्रत्येक गुण का स्वरूप व कार्य (लक्षण) भिन्न-भिन्न हैं एक गुण, अन्य अनन्त गुणों के साथ रहते हुए भी अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता। परन्तु यहाँ विशेष यह है कि गुणों का स्वरूप नहीं बदलता, किन्तु उनकी अवस्थाएँ बदलती है। इसलिए उनमें परिवर्तन भी दिखाई देता है। इन गुणों के कार्य अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं। पर्याय का अर्थ अवस्था से है। आचार्य देवसेन के मतानुसार 'द्रव्य और गुणों के विकास अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं।'[14] और भी कहा है- 'गुणों में प्रतिसमय होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है। अथवा द्रव्यों में जो अंश कल्पना की जाती है, यहीं तो पर्यायों का स्वरूप है।''[15] द्रव्य-गुण-पर्याय के सामान्य विषय में द्रव्य गर्भित है व गुण-पर्याय उसके विशेष है। सम्मइसुत्तं में कहा गया है-

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो।

दव्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ॥[१६]

अर्थात् सामान्य में विशेष का और विशेष में सामान्य का जो कथन किया जाता है, वह द्रव्य, गुण और उसकी पर्यायों को भिन्न-भिन्न रूप में बतलाता हुआ तीनों को एक नियत करता है। वस्तुतः द्रव्य-गुण और पर्याय भिन्न नहीं है। जो द्रव्य है वह अनन्त गुणों से है और उन गुणों में प्रतिसमय होने वाले परिणमन ही पर्याय है। यह तीनों एक ही समय में द्रव्य की एक पर्याय या अवस्था में अवस्थित रहते हैं। द्रव्य सदैव किसी न किसी पर्याय के रूप में ही उपलब्ध रहता है। द्रव्य-गुण व पर्यायों में सह-अस्तित्व त्रिकाल विद्यमान रहता है। ये गुण द्रव्य व पर्याय से भिन्न प्राप्त नहीं हो सकते। पर्याय जो प्रतिसमय बदल रही है वह द्रव्य व उसमें स्थित गुणों की ही है। अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होती है। इन द्रव्य-गुण-पर्याय का सह-अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है अन्य नहीं। और भी कहा है-

दव्वं जह परिणयं तहेव अत्थि ति तम्मि समयम्मि।

विगयभविस्सेहि उ पज्जवेहिं भयणा विभ्यणा वा॥[१७]

अर्थात् जिस समय जो द्रव्य जिस पर्याय रूप परिणम गया है वह द्रव्य उस समय उसी रूप में है। जो द्रव्य अपनी भूतकालिक, भविष्यत्कालीन तथा वर्तमान की पर्यायों को अपने में समेटे रहता है, जिनके साथ उसका अभेद है और भेद भी है। यहाँ द्रव्य व उसकी समस्त पर्यायों के मध्य भेद व अभेद का सह-अस्तित्व सिद्ध किया गया है। उदाहरण देते हुए आचार्य आगे कहते हैं- **कोवं उप्पायंतो पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।**

तत्तो विभइयव्वो परम्मि सयमेव भइयव्वो॥[१८]

अर्थात् क्रोध को उत्पन्न करता हुआ पुरुष जीव का अपनी इस अवस्था का कारक है। अपने आप में वह पुरुष जीव में क्रोध को उत्पन्न करता है। इसलिए पहले क्रोध रहित और इस क्रोध सहित जीव में किसी अपेक्षा से भिन्नता है। वास्तव में जीव स्वयं पर्याय रूप परिणमन करता है। जो पहली अवस्था जीव की थी वही क्रोध सहित होने से अभिन्न भी है। इस प्रकार उन्होंने एक ही जीव में भेद व अभेद के सह-अस्तित्व को दर्शाया है। यहाँ जीव द्रव्य है और क्रोधा रहित और क्रोधा सहित उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं। आचार्यश्री के अनुसार-

दो उण णया भगवया दव्वट्ठिपिज्जवट्ठिया णियया

एत्तो य गुणविसेसे गुणट्ठियणयो वि जुज्जंतो॥[१९]

अर्थात् अर्हन्त भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयों की ही प्ररूपणा की है। यदि पर्याय से भिन्न गुण होता, तो गुणार्थिक नय के नाम से उसका भी कथन होता। किन्तु गुणार्थिक नय के नाम से कोई नय नहीं है। 'गुण' शब्द का अर्थ पर्याय से भिन्न नहीं है। इसलिए गुणार्थिक नय की प्ररूपणा की आवश्यकता नहीं रही। यदि गुण द्रव्य से भिन्न होते, तो उनकी प्ररूपणा के लिए गुणार्थिक नय का भी अभिधान होता। किन्तु द्रव्य से गुण त्रिकाल में भी भिन्न नहीं हो सकते। एक समय में भी गुण द्रव्य में सतत साथ रहते हैं। इसी प्रकार पर्याय सामान्य भी द्रव्य के साथ रहती हैं अतएव गुण और पर्याय में भिन्नता नहीं है। द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं और द्रव्य के अनेक रूप करने को गुण कहते हैं। द्रव्य की अपनी-अपनी अवस्था में जो क्रमशः परिणमन होता है, उसे क्रमभावी पर्याय कहते हैं और अनेक रूप में जो वस्तु का ज्ञान होता है, वह

सहभावी पर्याय (गुण) है। यथार्थ में गुण के विकार को पर्याय कहा है। जो पलटता है वह गुण है और जो प्रकट होती है, वह अवस्था पर्याय है। अपने इस विवेचन से आचार्य ने द्रव्य-गुण व पर्याय के सह-अस्तित्व की पुष्टी की है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में सह-अस्तित्व -

सामान्यतः अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है। पूर्व पर्याय का त्याग है वह व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभाव रूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है।[20] प्रत्येक द्रव्य में जिस काल द्रव्य की पूर्व अवस्था का नाश होता है उसी समय उसकी नई अवस्था उत्पन्न होती है, फिर भी उसका त्रैकालिक स्वभाव (अन्वय) रूप बना रहता है। आचार्य सिद्धसेन कहते हैं-

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।

उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं॥[२१]

द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्यात्मक है। कोई द्रव्य नित्य द्धध्रौव्यऋ तथा कोई द्रव्य अनित्य (उत्पाद-व्यय) मात्र नहीं है। पर्यायवान् द्रव्य ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाशशील है। इसलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त द्रव्य का लक्षण कहा गया है। उत्पाद स्थिति और व्यय ये तीनों संयुक्त रूप से रहते हैं। एक के बिना दूसरे का सद्भाव नहीं है। अतः ये भिन्न-भिन्न द्रव्य के लक्षण नहीं कहे गये हैं। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य में सदैव सहअस्तित्वपना रहता है और भी कहा है-

एगसमयम्मि एगदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया।

उप्पायसमा विगमा ठिईउ उस्सग्गओ णियमा॥[२२]

अर्थात् एक द्रव्य में एक समय में अनेक उत्पाद भी होते हैं। उसमें विनाश भी उत्पाद जितने होते हैं तथा सामान्यतः स्थितियाँ भी होती है। अगली गाथा में इसे उदाहरण से स्पष्ट किया है कि एक संसारी जीव के जब वह किसी विवक्षित गति में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होता है तब उसके एक ही समय में मन, वचन, शरीर आदि होते हैं। उसी समय में उसके देह रूप में अनेक पुद्गल-परमाणु, अनेक मनोवर्गणाएँ, अनेक

वचन-वर्गणाएँ मन-वचन के रूप में परिणमन करती है। उसी समय आगामी काल में होने वाली पर्याय के योग्य कर्मबन्ध, कर्मोदय आदि सब होते हैं। पूर्व में संचित कर्मों की निर्जरा आदि होते हैं तथा अनुगम रूप से इन सभी पर्यायों में जीवादि का अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार एक ही समय में एक ही द्रव्य में अनेक उत्पाद, व्यय और स्थिति में सह-अस्तित्वपना सिद्ध होता है।

परमतों में सह अस्तित्व -

एक ही वस्तु के विभिन्न धर्मों का कथन करने के वक्ता के जितने कथन-प्रकार या अभिप्राय होते हैं वे सभी अपने आप में नय है अतः अभिप्राय जितने उतने ही नयवाद और यदि वे सभी नय अपने-अपने कथन को ही स्वीकार करते हुए अन्य सभी नयों का निषेध करते हैं तो उतने ही परमत होते हैं।[23] और उन सभी की सत् प्ररूपणा करते हुए यदि अपने कथन को स्वीकार करते हुए अन्य को गौण करके उस समय उनका कथन न भी करें, परन्तु उनके अस्तित्व को स्वीकार करें तो वे सभी परमत सह-अस्तित्व से सत् वस्तु की प्ररूपणा का साधन बनते हैं। तीसरे काण्ड की गाथा 48 से 51 तक आचार्य ने सभी परमतों का कथन करते हुए स्पष्ट किया है कि परमार्थ से या द्रव्यार्थिक नय से एकान्त मान्यता का प्रतिपादन करने वाला सांख्य दर्शन है। यह दर्शन किसी अपेक्षा से सत् का विनाश तथा किसी अपेक्षा से असत् का उत्पाद नहीं मानता है। यह द्रव्यार्थिक नय की रीति से द्रव्य को ही विषय करता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति, पुरुष आदि पच्चीस तत्वों का सद्भाव ही है, अभाव नहीं। प्रधान और अव्यक्त ये प्रकृति के पर्यायवाची शब्द हैं। अव्यक्त से जिन बुद्धि आदि 23 तत्वों की उत्पत्ति होती है उनको व्यक्त कहते हैं। कहा भी है :-

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥[२४]

अर्थात् व्यक्त कारण सहित होता है, अनित्य होता है, अव्यापक होता है, क्रिया सहित होता है, अनेक होता है, अपने कारण के आश्रित होता है, प्रलयकाल में प्रधान में लय को प्राप्त हो जाता है, अवयव सहित

है और प्रधान के आधीन होने से परतन्त्र है, यह व्यक्त का लक्षण है और अव्यक्त का लक्षण इसके विपरीत है। सांख्यदर्शन परिणामवादी सिद्धान्त है। इसकी दृष्टि में प्रत्येक तत्व सत् स्वरूप ही है। इसके विपरीत बौद्धदर्शन केवल वर्तमान पर्याय मात्र तत्त्व मानता है। उसकी दृष्टि में कोई भी तत्त्व त्रिकालवर्ती नहीं है। क्षणभंगवाद या क्षणिकवाद बौद्ध दर्शन की विशेष मान्यता या सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस दर्शन में कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण में वह नहीं रहती किन्तु दूसरी हो जाती है। अर्थात् वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता रहता है। इस मत में मान्य है कि जो सत् है वे सभी क्षणिक है अर्थात् नित्य नहीं है अथवा जो सत् है वह सभी प्रकारों से एक दूसरे से विलक्षण हैं। अर्थात् कोई भी किसी के सादृश्य नहीं है। उनकी मान्यतानुसार नित्य वस्तु में अर्थक्रिया हो ही नहीं सकती, क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपद् अर्थक्रिया करती है और न क्रम से। अतः पर्यायार्थिकनय की एकान्त मान्यता वाला बौद्धदर्शन कहा गया है। यद्यपि वैशेषिक दर्शन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की मान्यता वाला है, किन्तु वह किसी तत्व को नित्य और किसी तत्व को अनित्य मानता है। परन्तु जो सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य मानते हैं वह भी युक्तियुक्त संभव नहीं है। अतः बौद्ध और वैशेषिक सांख्यों के सद्वाद पक्ष में जो दोष बताते हैं वे सब सत्य है। इसी प्रकार सांख्य लोग बौद्ध तथा वैशेषिक के असद्वाद में जो दोष लगाते हैं वे भी सच्चे हैं। यदि इन सभी दर्शनों के भिन्न-भिन्न मतों को एकमत किया जाए तो सभी में पारस्परिक सह-अस्तित्व से जैन दर्शन में मान्य कथंचित् स्याद्वाद के प्रयोग से सभी मान्यताएँ सत्य सिद्ध होगी क्योंकि तब सह-अस्तित्व से सभी मत परस्पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होंगे और सत् वस्तु स्वरूप का निरूपण करने में समर्थ होंगे क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में त्रिकाल गुण-धर्म शक्ति विद्यमान रहती है। अतः वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। कहा भी है :-

दव्वट्ठिवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो।
एए समोवणीया विभज्जवायं विसेसेंति॥[२५]

अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की मान्यता से सामान्य ही वास्तविक है तथा पर्यायार्थिक नय की मान्यता से केवल विशेष ही वास्तविक है। परन्तु इन

दोनों के सापेक्ष होने पर एक-दूसरे का अस्तित्व सम्भावित हो जाता है और इस प्रकार ये अनेकान्तवाद को विशिष्ट बनाते हैं।

ज्ञान-चारित्र में सह अस्तित्व :

आचार्य ग्रंथ के अन्त में ग्रंथ के सार के रूप में अन्तिम गाथाओं में ज्ञान व चारित्र का महात्म बताते हुए कहते हैं-

णाणं किरियारहियं किरियामेंत्तं च दो वि एगंता।
असमत्था दाएउं जम्ममरणदुक्ख मा भाई॥[२६]

अर्थात् क्रिया से रहित या चारित्र से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित चारित्र (क्रिया) दोनों ही एकान्त है और दोनों एकान्त होने से जन्म-मरण के दुखों से छुड़ाने में असमर्थ है। दोनों का सह-अस्तित्व ही कार्यकारी है। ज्ञान सहित क्रिया और क्रिया सहित ज्ञान ही मोक्ष मार्ग में सहायक है। बिना ज्ञान के बाहरी धार्मिक क्रियाओं के पालन मात्र से आत्मा का कोई हित नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान होने पर धार्मिक क्रियाओं का पालन एवं वैराग्य न हो तो भी जीव जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी घने जंगल में भटके हुए अन्धे और लंगड़े अलग-अलग प्रयत्न करते हुए दावाग्नि से अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु जब लंगड़ा अन्धे के कन्धों पर बैठता है तो जंगल से पार हो जाता है और अन्धा भी पार हो जाता है उसी प्रकार चारित्र भी ज्ञान का आलम्बन लेकर जन्म-मरण के दु:खों से छुटकारा दिलाने में समर्थ होता है। अत: ज्ञान व चारित्र के सह-अस्तित्व से ही हम मोक्षमार्ग में स्थापित हो सकेंगे ऐसा यहाँ आचार्य का कहना है।

उक्त सभी विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में व्याप्त सह-अस्तित्व अथवा अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्राण है और सभी दृष्टिकोणों के सापेक्ष सह-अस्तित्व से ही सत् वस्तु का प्ररूपण संभव है।

संदर्भ :

1. णयदित्तिणओ भणिओ.....धवला, आचार्य वीरसेन, पुस्तक 1, पृ.सं.11
2. आप्तमीमांसा, आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 106
3. लघीयस्त्रय, आचार्य अकलंकदेव, श्लोक 52
4. सम्मइसुत्तं, आचार्य सिद्धसेन, काण्ड 1, गाथा 3?
5. सम्मइसुत्तं, आचार्य सिद्धसेन, काण्ड 1, गाथा 12 का पुर्वार्द्ध
6. वही, गाथा 17-19
7. पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 9
8. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, अध्याय 1, 5/17/5
9. पंचाध्यायी, पूवार्द्ध, पाण्डे रायमल्ल जी, श्लोक 73
10. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, अधयाय 5/2/266/10
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, क्षु. जिनेन्द्रवर्णी, भाग-2, द्रव्य, पेज 454
12. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी, अध्याय-5, सुत्र 41
13. पंचाध्यायी, पाण्डे रायमल्लजी, अधयाय 1, श्लोक 13
14. आलापपद्धति, आचार्य देवसेन, पर्याय अधिकार, सुत्र-1
15. पंचाध्यायी, पाण्डे रायमल्लजी, अध्याय 1, श्लोक 26
16. सम्मइसुत्तं, आचार्यसिद्धसेन, काण्ड 3, गाथा 1
17. वही, गाथा 4, 18. वही, गाथा 7 19. वही, गाथा 10
20. जैन यशपाल, जिनधर्म विवेचन, द्रव्य विवेचन, पृ.65
21. सम्मइसुत्तं, आचार्य सिद्धसेन, काण्ड 1, गाथा 12
22. वही, काण्ड 3, गाथा 41 23. वही, गाथा 47
24. सांख्यकारिका,शंवरकृण, 10
25. सम्मइसुत्तं, आचार्य सिद्धसेन, काण्ड 3, गाथा 57
26. वही, गाथा 68

- जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी महाविद्यालय,
मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

न्यायविद्या : स्वरूप एवं परम्परा

– डॉ. योगेश कुमार जैन, लाडनूँ

मानव जीवन में विद्या का सर्वाधिक महत्त्व है। विद्या के महत्त्व को बताते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' में लिखा है कि ''विद्ययाऽमृतमष्नुते''[1] यहाँ विद्या से तात्पर्य ज्ञान है, ज्ञान से ही मृत्युविरोधी अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है। आत्मतत्त्व अक्षय अमृत और ब्रह्म रूप है। आत्मा की अपने स्वरूप में अनुभूति ही ब्रह्मानुभूति है और यही मोक्ष है। विद्या के 'परा' और 'अपरा' ये दो भेद करते हुए 'रूद्रहृदयोपनिषद्' में कहा गया है कि परा और अपरा नाम की दो विद्यायें हैं वे साधक के लिए ज्ञातव्य हैं।[2] 'मुण्डकोपनिषद्' के अनुसार **''द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह यद्ब्रह्मा विदो वदन्ति परा चैवापरा''।**[3] मनुष्य के लिए जानने योग्य दो ही विद्याऐं हैं एक परा और दूसरी अपरा। इन दोनों में से जिसके द्वारा इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगों की स्थिति भोगों के उपभोग करने के प्रकार, भोग सामग्री की रचना और उनको उपलब्ध करके नाना साधन आदि का वर्णन है वह अपरा विद्या है यथा यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद तथा छः वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष इनका नाम अपरा विद्या है और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्त्वज्ञान होता है वह पराविद्या है।[4]

मनुष्य में जो स्वाभाविक विचार शक्ति है उसी का नाम दर्शन है। ''दृष्यतेऽनेनेति दर्शनम्''[5] इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाता है वह दर्शन कहलाता है अर्थात् यह संसार नित्य है? या अनित्य है? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन शास्त्र का विषय रहा है। दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण वस्तु परतन्त्र है। 'सत्' की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना विषयी (आत्मा) की ओर ध्यान दिया है। आत्मा

को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य रहा है। इसीलिए 'आत्मानंविद्धि' आत्मा को जानो, यह भारतीय दर्शनों का मूलमंत्र है। यही कारण है कि प्राय: समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं। धर्म तथा दर्शन में प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और दर्शन शास्त्र के सुविचारित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म दर्शन दृढ़ प्रतिष्ठित है। तार्किक विचार पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचार प्रयोजक ज्ञान अथवा परीक्षाविधि का नाम दर्शन है। दर्शन का मूल उद्गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए उसी का वह दर्शन बन जाता है। 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सबसे पहले आत्मा से सम्बन्धित विचार के अर्थ में हुआ। दर्शन यानी वह तत्त्वज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरकादि का विचार करे। दर्शन अर्थात् विश्व की मीमांसा, अस्तित्त्व या नास्तित्त्व विचार अथवा सत्त्व शोधका साधन।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि महर्षियों तथा दार्शनिकों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन-जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उन तथ्यों को 'दर्शन' शब्द द्वारा अभिधीत किया गया तथा[5] जो कुछ श्रद्धा के द्वारा स्वीकार किया गया था उसकी वास्तविकता को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रबल प्रयास किये गये। यह तरीका बुद्धि संगत नहीं है ऐसी बात नहीं क्योंकि दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा
नाम है जो मानव समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में विविध दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें आस्तिक दर्शनों के रूप में छ: दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए-महर्षि गौतम का 'न्यायदर्शन', कणाद का 'वैशेषिकदर्शन, कपिल का 'सांख्यदर्शन', पतंजलि का 'योगदर्शन' जैमिनि का 'पूर्व मीमांसा' और बादरायण का 'उत्तर मीमांसा' अथवा वेदान्त'। ये सभी वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन परम्परा के अनुसार जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं और जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का नास्तिक या आस्तिक होना परमात्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार

अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है। मनु का कहना है कि नास्तिक वह है जो वेदों की निन्दा करता है।[6] ऐसा कहा जाता है कि नास्तिक दर्शनों यथा बौद्ध, जैन और चार्वाक् में से बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का उद्गमन भी उपनिषदों में है यद्यपि उन्हें सनातन धर्म नहीं माना जाता है क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। 'कुमारिल भट्ट' जिनकी सम्मति इन विषयों में प्रामाणिक समझी जाती है स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शन ने उपनिषदों से प्रेरणा ली है और वे यह युक्ति देते हैं कि इनका उद्देश्य अत्यन्त विषय भोग पर रोकथाम लगाना था। वे यहाँ घोषणा करते है कि ये सभी प्रामाणिक दर्शन है।[7]

समस्त भारतीय दर्शनों को हम दो कालों में विभाजित कर सकते हैं- सूत्रकाल और वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों की रचना हुई। सूत्र काल से तात्पर्य सूत्र रचना के समय से ही उसका प्रारंभ हुआ, ऐसा नहीं है किन्तु ये सूत्र अनेक शताब्दियों में किये गये चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं। इन सूत्रों का रचना काल 400 विक्रम पूर्व से 200 विक्रम पूर्व तक स्वीकार किया जाता है। सूत्र का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विष्वतो मुखम्।
अस्तोभ मनवद्यं च सूत्रंसत्रविदोविदुः॥

सूत्रों की भाषा और गूणार्थ को समझने के लिए भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना हुई। यह काल वृत्तिकाल कहलाता है। शवर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शङ्कर, रामानुज, वाचस्पति, धर्मकीर्ति, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदी, प्रभाचंद्र आदि आचार्य इसी युग में उत्पन्न हुए। वृत्तिकाल का समय विक्रम संवत् 300 से वि. सं. 1500 तक माना जाता है। वैदिक दर्शनों में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। उसके बाद क्रमशः अन्य दर्शनों की उत्पत्ति और विकास हुआ। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक में हुई बुराईयों को दूर करने के लिए ईसापूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध के जन्म के बाद बौद्ध दर्शन का अभिर्भाव हुआ। जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही है। वर्तमान युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैन धर्म और जैनदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। तथा उसी परम्परा में

कुन्दकुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानंद, हरिभद्र, माणिक्यनंदि, प्रभाचंद आदि आचार्यों ने जैनदर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। नैयायिकों ने सृष्टि की खदान से शोध पूर्वक पदार्थों को खोजकर उनकी संख्या, स्वभाव आकार एवं उनका परस्पर सम्बन्ध भी न्याय शास्त्र से निश्चित किया है। अतः यह शास्त्रदर्शन पदार्थ परीक्षण रूप है। न केवल समग्र दर्शन शास्त्र अपितु सामान्य व्यवहार में भी न्याय परिभाषा का अतीव महत्त्व है इसीलिए सभी दर्शनों के व्यवहार का द्वार न्याय दर्शन को माना जाता है।

उपनिषद् में उपलब्ध विद्या के भेद को बाद के विद्वानों ने प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व के आधार पर विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र में 'कौटिल्य' (327 ई पू.) द्वारा मान्य विद्या भेदों का निर्देश आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार नामों से किया है। **''आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्ता दण्डनीत्योः प्रभवति''**[८] अर्थात् 'आन्वीक्षिक्या'-प्रमाणों और तर्कों से विवेचित त्रयी, वार्ता, वेद और दण्डनीति का आदेश कर सकते हैं, कहकर आन्वीक्षिकी का महत्त्व बताया है। धर्माधर्म का निर्णय वेदत्रयी से होता है, अर्थानर्थ का निर्णय वार्ता से अर्थात् वाणिज्य विद्या से होता है। कौटिल्य ने इस विद्या का महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है-

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकीमता॥[९]

अर्थात् आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं का प्रदीप-प्रकाशक है। सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह विद्या सम्यग्व्यवहार साधनभूत है। न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि-'इमास्तुचतस्रोविद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहाय उपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकीन्याय विद्या। तस्याः पृथक प्रस्थानाः संशयादयाः पदार्थाः तेषां पृथग् वचनमन्तरेण, अध्यात्मविद्यामात्रमियंस्यात् यथोपनिषद्[10] अर्थात् तत्त्वज्ञानग्रन्थों में संशयादिकों का विवरण नहीं है, न्याय शास्त्र ने संशय का विवरण करते हुऐ संशय निराकरण पूर्वक तत्त्व-ज्ञान की प्रस्थापना की पद्धति बताई है। यही कारण है की न्याय शास्त्र के अध्ययन बिना तत्त्वज्ञान का अध्ययन कभी नहीं हो सकता। न्याय शास्त्र का चरम प्रयोजन निश्रेयस सिद्ध ही है। संशय रहित निश्रेयस प्राप्ति यह न्याय का प्रमुख उद्देश्य है।

आन्वीक्षिकी सभी धर्मो का आश्रय है, जैसे धर्म से यदि पदार्थ धर्म लिए जायें तो निश्चय ही वे अनुमान पर ही आधारित हैं यथा द्रव्य धर्म द्रव्यत्व की सिद्धि द्रव्यनिष्ठ कार्य सामान्य की कारणता में किंचिद् धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से तथा पृथिवी धर्म पृथिवीत्व की सिद्धी पृथिवीनिष्ट गन्ध-सामवायिकारणता में किंचिद् धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से होती है। धर्म से यदि पुण्य अर्थ लिया जाये तो उसकी सिद्धी भी अनुमान से ही होती है यथा ''स्वर्गकामोयजेत'' इस विधि वाक्य से यज्ञ को स्वर्ग का कारण बताया गया है पर यज्ञ का अनुष्ठान पूरा होने पर यज्ञ कर्त्ता को तत्काल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती अपितु वर्तमान देह का अवसान होने पर प्राप्ति होती है, अतः अनुमान द्वारा यज्ञ के धर्मरूप व्यापार की सिद्धी कर उसके द्वारा यज्ञ में वेदोक्त स्वर्ग कारणता की उपपत्ति की जाती है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी-अनुमान ही पदार्थ धर्मों का तथा शास्त्र विहित कर्मजन्य धर्मों का साधक होने से उनका आश्रय है। यह आन्वीक्षिकी प्रमाण और तर्क द्वारा अन्य सभी विद्याओं को प्रतिष्ठित करती है, प्रकाश में लाती है और उन्हें लोक यात्रा के लिए उपयोगी बनाती है।

महर्षि गौतम न्याय शास्त्र के आद्य प्रणेता माने जाते हैं। शास्त्रकार का मुख्यनाम 'मेधातिथि' माना जाता है किन्तु प्रसिद्धि गोत्रनाम 'गौतम' से ही पायी जाती है। कुछ विद्वान इनका नाम 'अक्षपाद' भी स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मेधातिथि गौतम मूलरूप में सूत्रों के कर्त्ता और अक्षपाद परिस्कर्त्ता है। न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों को मिलाकर न्याय शास्त्र अथवा तर्क शास्त्र नाम से इस दर्शन युग्म की प्रसिद्धि हो गई थी। यद्यपि महर्षि गौतम न्याय के आद्यप्रणेता माने जाते हैं और कषाद वैशेषिक दर्शन के, किन्तु विमर्श से ज्ञात होता है कि ये दृष्टा ही थे प्रणेता नहीं। भारतीय सिद्धान्तानुसार सब शास्त्रों का उद्गम स्थान वेद ही है। उसके किसी तत्त्व का उपबृंहण शास्त्र का स्वरूप धारण करता है इसीलिए इन्हें दर्शन भी कहा जाता है। मूलभूत सिद्धान्त का परिष्कृत दर्शन ही शास्त्र कहा जाता है। ये ही छः शास्त्र हैं। उनमें से न्याय शास्त्र एक है अतः उसका मूल सात वेद ही है। ऋग्वेद में **'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च'** (अ.5/7) कहा है जो गौरव लाघव ज्ञान में लाघव ज्ञान को हितकारक बताता है यह न्याय शास्त्र का ही विषय है। कहा भी है कि -

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपत्तिभिः।
न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि श्रुतिः[१२]

इस प्रकार सर्वत्र न्याय शास्त्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। तत्त्वज्ञान के साधन स्वरूप स्मृतिग्रन्थों में, प्रायः मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और विष्णु स्मृति में इस विद्या का वर्णन प्राप्त होता है।

वात्स्यायन ने न्याय भाष्य की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**[१४] अर्थात् सभी प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय उस वाक्य समूह को भी कहा जाता है जो अन्य व्यक्ति को अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है। वात्स्यायन ने उसे परम न्याय कहा है और उसे वाद, जल्प, वितण्डा रूप विचारों का मूल तथा तत्त्वनिर्णय का आधार बताया है।[15]

न्यायशास्त्र के भेद :

भारतीय वाङ्मय में न्याय के दो भेद माने गये हैं वैदिक और अवैदिक। जिस न्याय में वेद का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है वह वैदिक है और जिसमें वेद का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं किया गया है वह अवैदिक। अवैदिक न्याय में चार्वाक्, जैन और बौद्ध दर्शन के सौत्रन्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माधयमिक सम्प्रदाय तथा अन्य अपने देश के अर्वाचीन चिन्तकों द्वारा उद्भावित समग्र न्याय का समावेश है। वैदिक न्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आदि वेदान्त के न्यायों का समावेश है। उक्त सभी न्याय शास्त्रों मे गौतमीय न्याय शास्त्र को सर्वमूर्धन्य स्थान प्राप्त है, क्योंकि न्याय का विवेचन तथा न्याय की प्रणाली एवं वस्तु तत्व का विचार करने में जैसी सावधानी और सतर्कता गौतमीय न्याय में अपनायी गयी है वैसी अन्य कहीं नहीं अपनाई गयी है।

गौतमीय वैदिक न्याय-शास्त्र के समग्र वाङ्गमय को दो धाराओं में विभाजित किया जाता है- प्रमेय प्रधान और प्रमाण प्रधान। गौतम से गंगेश के पूर्व तर्क के न्यायविद् विद्वानों की कृतियाँ प्रमेय प्रधान है और गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाण प्रधान हैं। प्रमेय प्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीन न्याय तथा प्रमाण प्रधान ग्रन्थराशि को नव्य न्याय कहा जाता है। प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय में जो भेद है वह मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में जहां प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अबच्छेदकता, अबच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं, वहीं नव्यन्याय के ग्रन्थों में इनकी भरमार रहती है। नव्य न्याय

के ये शब्द उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते है जैसे किसी दुर्गम वन में प्रवेश चाहने वाले मनुष्यों को सिंहे व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु।

प्राचीन न्याय और नव्यन्याय की शैली में भी महान् भेद है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराडम्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त और सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय बहुत शीघ्रता से स्पष्ट नहीं हो पाता, बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं कि शैली की दु:शीलता के कारण ही जिसका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता तथा पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्यन्याय की भाषा आडम्बर पूर्ण तथा स्वरूपत: दुर्गम होते हुऐ भी शैली की शालीनता के कारण अर्थत: अत्यन्त स्पष्ट होती है। विषय तथा प्रतिपादन दोनों के गुणदोष चन्द्रमा की धवलिमा के समान स्पष्ट दिखते हैं।

प्राचीन न्याय और नव्यन्याय में एक अन्तर और भी है वह यह कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते हैं तथा वे विषय के बाह्यकलेवर का स्पर्शकर रूक जाते है। किन्तु नव्यन्याय में विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मता से होता है। उसके विचार विषय के सर्वांग का स्पर्श करते हैं। तथ्य यह है कि न्याय शास्त्र के प्राचीन न्याय और नव्यन्याय के नाम से जो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं उनका आधार है प्रतिपाद्य विषय का गौण-प्रधान भाव तथा भाषा और शैली की भिन्नता, किन्तु दोनों प्रस्थानों का मूल स्रोत एक ही है और वह है गौतम का न्यायदर्शन 'न्यायसूत्र'।

10-11 वीं शताब्दी में जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो भारतीय इतिहास में एक अभिनव युग का आरम्भ हुआ। इसी समय नव्यन्याय का सृजन हुआ। नव्यन्याय में सूत्र ग्रन्थों की उपेक्षा और स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण आरम्भ हुआ। प्राचीन न्याय की भाषा अति सरल थी किन्तु नव्यन्याय की भाषा जटिल होती चली गई सम्भवत: इसीलिए कि इस युग में बौद्धों के साथ सैद्धान्तिक युद्ध चलता रहा जिससे वादी को हराने के लिए भाषा की जटिलता व्यूह रचना को साथ लेकर उहापोह पर आधारित हो गई थी। नव्य न्याय के प्रवर्तक गंगेशोपाध्याय को नव्यन्याय का पिता कहा जाता है।

न्याय का अर्थ है- विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण

करना। न्याय दर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (आगम)। इसका दूसरा नाम वादविद्या भी है। क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है। न्याय सूत्र के रचयिता गौतमऋषि हैं इन्हीं का नाम अक्षपाद है। न्याय दर्शन को मानने वाले नैयायिक कहलाते हैं। नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। तथा आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति दोष, प्रत्यभाव (पूनर्जन्म), फल, दुख, और अपवर्ग (मुक्ति) ये 12 प्रमेय माने हैं। नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। तथा उसे अस्वसंवदी माना गया है। उनका मत है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। नैयायिकों के समान वैशेषिक भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तथा आत्मा को शरीर परिमाण न मानकर व्यापक मानते हैं। सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं तथा दोनों ही दर्शनों ने हेतु के पांचरूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) माने हैं। तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच अवयव माने हैं। न्याय दर्शन भारतीय दर्शनों की महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसका ज्ञान न केवल दर्शन-शास्त्रों को समझने के लिए अपितु संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं से स्वयं को भी अवगत कराने के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रारम्भ से ही सभी शास्त्रों पर न्याय शास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और उसकी मान्य पद्धतियों के अनुसार ही अन्य शास्त्रों का विकास हुआ है। किन्तु जब बौद्ध सम्प्रदाय के विद्वानों ने वैदिक दर्शनों की मान्यताओं की आलोचना करते हुए एक नवीन तर्क प्रधान विचार दृष्टि प्रस्तुत की तथा वैचारिक जगत् में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न की जिससे भारत की पुरातन मान्यताएँ और मर्यादाएँ अभिभूत होने लगीं। तब आवश्यक हुआ कि शास्त्रीय विचारों में न्यायपद्धति को ऐसा अभिनव रूप दिया जाय जिससे विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में गम्भीर और यथार्थ चिन्तन किया जा सके। फलतः न्याय में एक नयी शैली का अविर्भाव हुआ जो भाषा और सरणि की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ और परिष्कृत थी। न्याय की यह शैली 'नव्यन्याय' शब्द से अभिहित होने लगी

और इस शैली का प्रथम ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' गंणेशोपाध्याय ने लिखा।

कौटिल्य का अनुसरण करते हुए जैनाचार्य सोमदेव ने (959ई) में लिखा है[16] कि आन्वीक्षिकी विद्या का पाठक हेतुओं के द्वारा कार्यों के बलाबल का विचार करता है, संकट में खेद खिन्न नहीं होता, अभ्युदय में मदोन्मत्त नहीं होता और बुद्धि कौशल तथा वाक्कौशल को प्राप्त करता है। किन्तु मनुस्मृति में आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या[17] कहा है और सोमदेव[18] ने भी आन्वीक्षिकी को अध्यात्मविषय मे प्रयोजनीय बतलाया है। नैयायिक वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य के आरम्भ में लिखा[19] है कि ये चारों विद्यायें प्राणियों के उपकार के लिए कही गयी हैं। जिनमें चतुर्थी यह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या है। इसके पृथक प्रस्थान संशय आदि पदार्थ है, यदि उन संशय आदि का कथन न किया जाये तो यह केवल अध्यात्मविद्या हो जायेगी, जैसे कि उपनिषद्। इसका आशय यह है कि यदि आन्वीक्षिकी में न्याय शास्त्र प्रतिपादित संशय, छल, जाति आदि का प्रयोग किया जाता है तो वह न्यायविद्या है अन्यथा तो अध्यात्मविद्या है। इस तरह आन्वीक्षिकी का विषय आध्यात्म भी है और हेतुवाद भी है। इनमें से आत्मविद्या रूप आन्वीक्षिकी का विकास 'दर्शन' कहलाया तथा हेतुविद्या रूप आन्वीक्षिकी का विकास 'न्याय' कहलाया।

वात्स्यायन भाष्य में 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ न्याय विद्या करते हुए लिखा है[20] कि 'प्रत्यक्ष और आगम के अनुकूल अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं। अतः प्रत्यक्ष और आगम से देखे हुए वस्तुतत्त्व के पर्यालोचन या युक्तायुक्तविचार का नाम अन्वीक्षा है और जिसमें वह हो उसे आन्वीक्षिकी कहते हैं।

न्याय[21] शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए भी शास्त्रकारों ने इसका यही अर्थ किया है कि जिसके द्वारा निश्चित् और निर्वाध वस्तुतत्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। ऐसा ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण सिद्ध होता है।

अक्षपाद ने न्याय शास्त्र को लेकर ही एक दर्शन की स्थापना की थी जिसे न्यायदर्शन कहते हैं। इस दर्शन ने सोलह पदार्थो के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति माना है। उन सोलह पदार्थों में जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति आदि भी हैं। जिनका उपयोग मुख्यरूप से वादविवाद में ही होता है। न्याय दर्शन के न्यायसूत्र नामक मूल ग्रन्थ में इन सबका सांगोपांग वर्णन है।

जब बौद्धों और जैनों ने न्याय शास्त्र की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया तब तक न्यायदर्शन इस विद्या में पूर्ण उन्नति कर चुका था।

न्यायसूत्रों के उद्भव का सुनिश्चित काल ज्ञात नहीं है, किन्तु एक सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में न्यायदर्शन का उद्भव अन्य प्राचीन दर्शनों से अर्वाचीन है। बौद्ध[22] दार्शनिक नागार्जुन ने अपनी कृति में न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों पर आक्षेप किया है अतः नागार्जुन के समय में न्यायसूत्र किसी न किसी रूप में उपस्थित होना चाहिए। नागार्जुन के पूर्व बौद्ध धर्म में किसी ने न्यायसूत्र की ओर ध्यान नहीं दिया था परन्तु जब नागार्जुन के सिद्धान्त को अमान्य किया गया तो बौद्ध दार्शनिक **असंग** और **वसुवन्धु** ने न्याय शास्त्र की ओर ध्यान दिया। वसुबन्धु तर्क शास्त्र के प्रसिद्ध विद्धान हुए हैं। उन्होंने तर्क शास्त्र पर तीन प्रकरण भी रचे है। उनके पश्चात् दिङ्नाग और धर्मकीर्ति बौद्ध दार्शनिक ने न्याय शास्त्र को यथार्थरूप में स्वीकार करके 'बौद्ध न्याय' को प्रतिष्ठित किया। बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग और उनके अनुयायी धर्मकीर्ति के पश्चात जैनपरम्परा में जैनन्याय के प्रस्थापक अकलंक देव का जन्म हुआ और जैनदर्शन में जैनन्याय पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना हुई। जैसे युद्धकाल में युद्ध के उपकरणों का विकास होता है वैसे ही विविध दर्शनों के पारस्परिक संघर्ष काल में स्वपक्ष के रक्षण और परपक्ष के निराकरण के लिए तर्क शास्त्र का विकास हुआ।

रसियन विद्वान चिरविट्स्की ने **'बौद्ध न्याय'** नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ के प्रारंभ में लिखा है कि बौद्धन्याय से हम तर्क शास्त्र की उस पद्धति का बोध करते हैं जिसका निर्माण ईसा की 6-7 वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के दो महान तार्किक दिङनाग और धर्मकीर्ति ने किया था। इनके साहित्य में सर्वप्रथम परार्थानुमान का वर्णन है। अतः परार्थानुमान ही तर्क या शब्द से कहे जाने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। दूसरों को समझाने के लिए जो अनुमान प्रयोग किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते है। विकल्प या अध्यवसाय, अपोहवाद और स्वार्थानुमान के सिद्धान्त उसी परार्थानुमान की देन है।

जैन परम्परानुसार जैन न्याय के बीज आगम साहित्य में तो प्राप्त होते ही हैं साथ ही दर्शन युग के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में न्यायविद्या को स्थान दिया, परन्तु जैन न्याय का पूर्णविकसित रूप आचार्य

अकलंक के ग्रन्थों में प्राप्त होता है तथा इसी कारण उन्हें जैनन्याय का जनक कहा जाता है। आचार्य अकलंक की ही परंपरा को अनवरत रखते हुये आचार्य हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने इस न्यायविद्या को पुष्ट किया तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी तार्किक मेधा के बल से आचार्य अकलंक के लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र एवं आचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र पर महाभाष्य स्वरूप **प्रमेयकमलमार्तण्ड** टीका लिखकर जैनन्याय के स्वरूप को पूर्णता प्रदान की। इस प्रकार न्यायशास्त्र में प्रमाण और उसके अंगोपांगों अनुमानादि के विवेचन का ही प्राधान्य है और अद्यतन इसी आधार पर अनेकानेक स्वतंत्र ग्रंथ रचे गये हैं।

संदर्भ-

1. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमङ्नुत।। ईङ्गावास्योपनिषद्, मन्त्र 11

2. द्वे विद्ये वेदित्व्ये हि परा चैवापरा च ते। रूद्रहृदयोपनिषद्, मन्त्र 28 ।

3. मुण्डकोपनिषद्, मंत्र 4।

4. तत्रपरा ऋग्वेदो यजुर्वेद:सामवेदोऽथर्ववेद: ङ्गिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा ययातदक्षरमधिगम्यते।मुण्डकोपनिष्द्, मंत्र 5।

6. नास्तिको वेदनिन्दक:। मनुस्मृति 2:11 ।

7. तन्त्रवार्तिक, 1/3/2, पृ., 81।

8. कौटिल्य अर्थ शास्त्र-1/2/1।

9. कौटिल्य अर्थ शास्त्र-1/2/1।

10. न्यायभाष्य 1.1.1।

11. न्यायभाष्य 1.1.1।

1 2 उद्धृत, सांख्य प्रवचन, पृ. 4।

13. सांख्य दर्शनम् , प्र. परि. 1/25 पृ. 307।

14. वात्स्यापन भा. 1/1/1 ।

15. न्यायभाष्य सूत्र 1/1 ।

16. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीति चेति चतस्रोराजविद्या:। अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याणाबलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेशु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवै शारद्यम।। नी.वा , श्लोक 56।

17. मनुस्मृति, अ. 7, श्लोक 43।

18. आन्वीक्षिक्यधयात्मविषये.. ।।60।। नीतिवाक्यामृत, श्लोक 60।

19. न्यायभाष्य 1/1/1 ।

20. वात्स्यायनभाष्य, 1/1/1 ।

21. नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थो*नेनति न्याय:-न्यायकुसुमो्जलि।

-नितरामीयन्ते गम्यन्ते गव्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायन्तेऽर्था: अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्याय: तर्क मार्ग:। न्याय प्रवे शपञ्जिका पृ.1।

-निश्चितं च निर्वाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेतिन्याय:। न्यायविनि चयालंकार, भा.1, पृ.33।

- सहायक आचार्य, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

अभिनंदन-

प्राचार्य निहालचंद जैन-निदेशक वीर सेवा मंदिर सम्मानित हुए

(१) अहिंसा इन्टरनेशनल श्री जिनेन्द्रवर्णी जैनधर्म प्रचार-प्रसार पुरस्कार २०१४
(२) श्री श्यामसुन्दरलाल शास्त्री श्रुतप्रभावक न्यास-रईधू पुरस्कार वर्ष २०१५

नई दिल्ली। कुन्द कुन्द भारती में दि. 8 मार्च, 2015 को श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के सान्निध्य में **अहिंसा इन्टरेनशनल पुरस्कार २०१४ भव्य समारोह में पं. निहालचंद जैन को अहिंसा इंटरनेशनल श्री जिनेन्द्रवर्णी जैनधर्म प्रचार-प्रसार पुरस्कार** प्रदत्त किया गया। इसी प्रकार दूसरा पुरस्कार **''श्री श्यामसुन्दरलाल शास्त्री श्रुतप्रभावक न्यास-रईधू पुरस्कार-वर्ष २०१५''**, महावीर जयंती के सुअवसर पर फिरोजाबाद (उ.प्र.) जैन मेला में 3 अप्रैल को प्रदत्त किया गया।

उल्लेखनीय है कि पं. निहालचंद जैन, जैनदर्शन की वैज्ञानिकता के सुप्रतिष्ठित लेखक और प्रवचनकार हैं। आपने अभी तक 18 पुस्तकों का सृजन व संपादन किया है, जिसमें कई पुस्तकें पुरस्कृत भी हैं। शताधिक विद्वत्संगोष्ठियों में सहभागिता और संयोजन कर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में बहुमूल्य योगदान दिया है।

वर्तमान में आप- वीर सेवा मंदिर शोध संस्थान दरियागंज नई दिल्ली के निदेशक के रूप में जैन साहित्य के शोधार्थियों और नवोदित विद्वानों को मार्गदर्शन प्रदान कर रहे हैं। इसके पूर्व भी आप अनेक पुरस्कारों से सम्मानित हो चुके हैं।

वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष एवं सभी पदाधिकारियों की ओर से हार्दिक बधाई एवं आपके स्वस्थ व दीर्घायु की मंगल कामना करते हैं।

- वी. के. जैन, महामंत्री
वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2

पुस्तक समीक्षा

प्रतिष्ठाचार्य विमलकुमार सोंरया-अभिनंदन ग्रन्थ- 'प्रतिष्ठा-प्रज्ञ'

प्रधान संपादक- प्राचार्य निहालचंद जैन-निदेशक वीर सेवा मंदिर-शोध संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली-2, **संयोजक**-डॉ. अरिहंत जैन- 30 राधिका विहार-2, सीपत रोड, बिलासपुर (छ.ग), **लोकार्पण प्रसंग**- श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव- एक मार्च 2015, सिद्धक्षेत्र मदनपुर (ललितपुर)उ.प्र. **सान्निध्य**-परमपूज्य अध्यात्म योगी आ. श्री विशुद्धसागर जी महाराज ससंघ, सहयोग राशि- रु.501/- आर्टपेपर पर कलरफुल प्रिंटिग पृ. सं.564, **प्राप्ति स्थान एवं प्रकाशक**-वीतराग वाणी ट्रस्ट रजि. सैल सागर-टीकमगढ़ (म.प्र.) ।

पांच खण्डों में विभाजित-प्रथम खण्ड में 42 जैनाचार्यों/मुनिराजों/ आर्यिकाओं के मंगल आशीर्वाद, 115 विद्वानों/साहित्यकारों की शुभकामनाएं एवं सुरेश 'सरल' की कलम से सोंरया जी की जीवन-गाथा, तृतीय खण्ड-प्रतिष्ठाचार्य सोंरया जी के दस महत्वपूर्ण शोधालेख एवं विशिष्ट चयनित सम्पादकीय (संख्या-30), चतुर्थखण्ड में 33 प्रभृत विद्वानों के शोधालेख/ पांचवाँ खण्ड- परिशिष्ट के रूप में, अभिनंदन ग्रंथ-जीवनोपयोगी और लोककल्याणकारी आलेखों का समुच्चय है तथा शून्य से शिखर तक उत्कर्ष की एक अनकही गाथा का गुंथन। पूज्य आचार्यों मुनिराजों के 24 रंगीन चित्र। पूज्य गणेश वर्णी जी-मड़ावरा जिनकी कर्मभूमि रही का स्मरण-(फुल साइज चित्र द्वारा), सोंरया जी एवं परिवार की दुर्लभ चित्रों की झलकियाँ, संख्या लगभग 160 (जो ग्रंथ के 30 पृष्ठों में) समाहित है।

इसमें 45 वर्षीय धर्मप्रभावना के कार्यकाल में अनेक स्थानों से प्राप्त अभिनंदन पत्र, प्रशस्ति पत्र, सम्मान-पत्रों में से कुछ उपाधियों से अलंकृत प्रशस्ति पत्रों के छाया चित्र।

ग्रन्थ संग्रहणीय / पठनीय तथा शोधार्थियों के लिए संदर्भित ग्रन्थ है।

(२) श्रमण संस्कृति प्रज्ञ- प्रो. भागचन्द्र 'भास्कर' गौरव ग्रन्थ (प्रथम खण्ड)

प्रधान संपादक- प्रो. राधा बल्लभ त्रिपाठी, **प्रकाशक**- श्री भा0 दिगम्बर जैन (तीर्थ संरक्षिणी) महासभा- नई दिल्ली, **संपादक मण्डल**- डॉ. प्रेमचन्द जैन, डॉ. पुष्पलता जैन नागपुर एवं डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, गाजियाबाद, प्रबन्ध संपादक- पवन कुमार जैन, नई दिल्ली। **मूल्य :** 1500रु. कुल पृष्ठ संख्या-550, **मुद्रक**- आनंद कुमार जैन, दी महावीर प्रेस-भेलूपुर, वाराणसी (उ.प्र.), षष्ठ खण्डों में विभाजित- प्रथम खण्ड में आत्मकथ्य एवं प्रशस्ति द्वितीय खण्ड में-आचार्यों (15) के शुभाशीर्वचन तथा लगभग 18 मूर्धन्य विद्वानों, साहित्यकारों जैन पत्रकारों एवं कवियों की शुभकामनाएं। तृतीय खण्ड-सृजन, साक्ष्य जैन वाङ्मय के अंतर्गत भास्कर जी के द्वारा सृजित ग्रन्थों के सार संक्षेप एवं शोधालेख जिनकी संख्या लगभग 68 है। चतुर्थ खण्ड- सृजन साक्ष्य-बौद्ध वाङ्मय - बौद्ध दर्शन के अधीति मनीषी डॉ. भास्कर द्वारा सृजित ग्रन्थों के लगभग 31 शोधालेख। पंचम खण्ड- सृजन साक्ष्य स्वरचित संस्कृत प्राकृत-हिन्दी काव्य, षष्ठ खण्ड- प्रो. भास्कर जी के कतिपय चिंतनपरक आलेख (संख्या 25) समाहित है। शोधार्थियों के लिए सन्दर्भित ग्रन्थ है। सम्पूर्ण गौरव-ग्रन्थ डॉ. भास्कर के द्वारा सृजित शताधिक ग्रन्थों की समीक्षा, संक्षिप्त परिचय एवं शोधालेखों का समुच्चय है।

ग्रन्थ- अत्यन्त महत्वपूर्ण पठनीय एवं विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए उपयोगी है। लगभग 20 पृष्ठों का आर्ट पेपर पर कलरफुल चित्रों की झलकियाँ, जो पारिवारिक तथा सम्मानित पुरस्कारों एवं देश विदेशों में सहभागिता करते हुए संगोष्ठियों के हैं।

समीक्षाकार- प्रा. पं. निहालचंद जैन, निदेशक,
वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

पाठकों के पत्र....

'अनेकान्त' नियमित प्राप्त हो रहे हैं। इसमें प्रकाशित शोधपूर्ण और तर्कबद्ध लेख कई जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। श्री अनिल अग्रवाल का लेख 'क्रम नियमित विशेषण का अभिप्रेतार्थ विषय वस्तु पर अच्छा प्रकाश डालता है।

मुखपृष्ठ के अन्त:भाग में प्राचीन प्रतिमाओं के चित्र, भित्तीचित्र ताड़पत्रों शिलालेखों के चित्र प्रकाशित करना एक सराहनीय कदम है जो पाठक की भावदशा को उन्नत करता है एवं शोध-निबंधों को आत्मसात् करने की पूर्व भूमिका तैयार करता है। सम्पादक मण्डल का बहुत-बहुत अभिनंदन।

- **महेन्द्र मोतीलाल गांधी** (से.नि. इंजी.) मुम्बई

'अनेकान्त' नये परिवेश में प्रकाशित हो रहा है। तदर्थ बधाई। जून 2014 अंक में संपादकीय- 'वर्तमान में श्रमणचर्या की विसंगतियाँ एवं निदान' पढ़ा। सम्पादक विद्वान ने 'चल तीर्थ' की आगमोक्त व्यवस्था के संदर्भ में बहुमुखी- कहीं कहीं लज्जाजनक स्थिति को रेखांकित कर सुधार हेतु ध्यान आकर्षित किया है।.... सितम्बर 2014 अंक का संपादकीय 'पुरातत्त्व एवं नव निर्माण' विचारोत्तेजक और दिशा बोधक है। दोनों अंकों के आलेख शोधपरक पठनीय हैं। सम्पादक मण्डल का आभार।

- **डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल,**
बी-369, ओपीएम कालोनी, अमलाई (शहडोल) म.प्र.

Respected Pt. Nihalchand Jain-

Thank you very much for a quarterly research journal for Jainology **"Anekant".** Jain model of life spam, a scientific approach by Dr. Samani Chaitya Pragya is a wonderful article, bringing Science and religion together. I am layman ignorant and your sir have deep study of jainology. Kindly keeping touch with me.

- T. K. Jain
C-3A/86-B, Janakpuri, New Delhi-110058

वीर सेवा मंदिर
नवीन कार्यकारिणी समिति-2015

पद	नाम	मोबाइल
अध्यक्ष	श्री भारत भूषण जैन (एडवोकेट)	9810273537
उपाध्यक्ष	श्री रूपचंद कटारिया	9871205252
उपाध्यक्ष	श्री धनपाल सिंह जैन	9811676030
महामंत्री	श्री विनोद कुमार जैन	9958698839
मंत्री	श्री सुरेन्द्र कुमार जैन	9873932262
मंत्री	श्री सुनील कुमार जैन	9871799916
कोषाध्यक्ष	श्री धर्मभूषण जैन	9810125495
सदस्य	श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)	9910405101
सदस्य	श्री चक्रेश जैन (बिजली वाले)	9810416503
सदस्य	जस्टिस अभय गोहिल	9425113500
सदस्य	श्री विमल प्रसाद जैन	8800299677
सदस्य	श्री विजेन्द्र जैन	9350776553
सदस्य	श्री मदन लाल जैन	9899094674
सदस्य	श्री जगदीश प्रसाद जैन	9310023288
सदस्य	श्री श्रीकिशोर जैन	9910690823
सदस्य	श्री योगेश जैन	9810104607
सदस्य	श्री प्रताप जैन	9311820977
सदस्य	श्री प्रवीन कुमार जैन	9312200794
सदस्य	श्री पवन कुमार जैन	9312802754
सदस्य	श्री प्रदीप जैन	9811469228
सदस्य	श्री मनोज कुमार जैन	9999866868
कॉप्ट सदस्य	श्री प्रमोद कुमार जैन	9810356201
कॉप्ट सदस्य	श्री विपिन जैन	9811062677
कॉप्ट सदस्य	श्री सत्येन्द्र जैन	9312534901

अवसर का लाभ उठायें - स्वाध्याय के प्रति रुचि जगायें।
वीर सेवा मंदिर के निम्नांकित ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही 10 पुस्तकों का सेट उपहार में ग्रन्थों के साथ नि:शुल्क दिया जायेगा। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक आफ इण्डिया, दरियागंज ब्रांच नई दिल्ली द्वारा जमा किया जा सकता है।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग-2,3	पं. बालचंद सिद्धान्त.	1500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्त.	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibiliography I&II	Chhotelal Jain	1500रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं.पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य राम सेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.

उपहार स्वरूप दी जाने वाली पुस्तकों का सेट

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीयुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दु:खी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain
7. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
8. वारसाणु	आ. कुन्दकुन्द
9. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
10.उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'

आदेशानुसार- महामंत्री, वीर सेवा मंदिर

Year-68, Volume-4 Oct-Dec.. 2015
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

(जैनधर्म और आयुर्वेद विशेषांक)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
मो. 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त
(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)
संस्थापक
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

ANEKANT
(A Quarterly Research Journal for for Jainology & Prakrit Languages)
Founder
Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना
(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली)
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नोएडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editorial Board

Pt. Nihal Chand Jain- Bina
Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut
Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi
Prof. M.L. Jain, New Delhi

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription
एक अंक-रुपये 25/- वार्षिक - रु. 100/-
Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -
वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)
21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
All correspondence for the journal & Editorial
Vir Sewa Mandir
(A Research Institution for Jainology)
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002
फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522
e-mail-virsewa@gmail.com

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक - भजन

ऐसे विमल भाव जब पावै,
तब हम नरभव सुफल कहावै।। टेक।।

दरशबोधमय निज आतम लखि,
परद्रव्यनिको नहिं अपनावै।
मोह-राग-रुष अहित जान तजि,
झटित दूर तिनको छुटकावै।। ऐसे विमल भाव... ।।1।।

कर्म शुभाशुभबंध उदय में,
हर्ष विषाद चित्त नहिं ल्यावै।
निज-हित-हेत विराग ज्ञान लखि,
तिनसौं अधिक प्रीति उपजावै।। ऐसे विमल भाव...।।2।।

विषय चाह तजि आत्मवीर्य सजि,
दुखदायक विधिबंध खिरावै।
'भागचन्द' शिवसुख सब सुखमय,
आकुलता बिन लखि चित चावै।। ऐसे विमल भाव...।।3।।

- कविवर 'भागचन्द'

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. 'मेरी भावना' का राजस्थानी अनुवाद		5-6
2. स्थायी स्तम्भ- युगवीर-गुणाख्यान	प्रा. निहालचंद जैन	7-11
3. संपादकीय-	डॉ. जयकुमार जैन, पं. निहालचंद जैन	12-17
4. प्राणावाय पूर्व जैनायुर्वेद और शाश्वत जीवन विज्ञान	आ. राजकुमार जैन	18-27
5. कैवल्य वृक्षों का औषधीय महत्व	सिंघई जयकुमार जैन	28-39
6. जोणिपाहुड : एक अनुशीलन	डॉ. उदयचन्द्र जैन	40-44
7. आयुर्वेद और जैनाचार	वैद्यराज पं.धर्मचन्द्र जैन	45-53
8. वनस्पति विज्ञान और आयुर्वेद	वैद्य फूलचंद शास्त्री	54-58
9. जैनायुर्वेद के ग्रंथों और पाण्डुलिपियों की उपेक्षा	आचार्य राजकुमार जैन	59-65
10. 'कल्याणकारक' में द्रव्य-गुण चिकित्सा	डॉ. हरिश्चन्द्र जैन	66-70
11. जैनाचार आयुर्वेद ही है	राजकुमार शास्त्री	71-74
12. सल्लेखना : जैनधर्म की सर्वोच्च साधना, ना कि आत्महत्या	प्रो. फूलचंद जैन 'प्रेमी'	75-86
13. पाठकों के पत्र....		87-88
14. आवश्यक सूचना		89
15. ग्रंथ समीक्षा	पं. निहालचंद जैन	90-92
16. श्रद्धांजलि -	ला. अजितप्रसाद जैन	93
17. सकारात्मक सोच	प्रस्तुति - राखी जैन	94-95
18. ग्रंथ सूची	वीर सेवा मंदिर प्रकाशन	96

'मेरी भावना' (१९१६) के सौ वर्ष पूर्ण होने पर विशेष...

मेरी भावना का राजस्थानी पद्यानुवाद

म्हारी भावना

जणा राग द्वेस ने जीत्यो, जीत्यो ने जाण्यो संसार।
सगला जीवाँ रे हित खातिर कीधो ग्यान ध्यान परचार।
तीर्थंकर वै या पैगम्बर, या केवो उण ने अवतार।
उण री हाँची भगति वातै, राखूँ सब जीवाँ सुँ प्यार।।1।।

विसय भोग री आस नहीं, समता रो धण राखै हैं।
अपणी दूजा री आत्मा री, दिवस रात चिन्ता राखै हैं।
स्वारथ-त्याग री दोरी तपस्या, खुशी-खुशी जी कर लेवै।
वी हाँचा साधु दुनिया रा दुख-दरदाँ ने हर लेवै।।2।।

असा साधु सजनाँ री संगत, रोज म्हने मलती रेह्वै।
हउ-हउ वाताँ सुँ जीवन री, फुलवारी खिलती रेह्वै।
कणी जीव ने दुख नी देऊँ, झूठ कदी नी बोलूँ म्हूँ।
नार पराई ने आदर दूँ, माँ-बैना म्हारी मानूँ।।3।।

अहम्कार मन में नी राखूँ, गुस्सा ने म्हूँ दूर करूँ।
दूजा री खुशियाँ ने देखी, इरस्या रो नी भाव धरूँ।
असी भावना रेह्वे म्हारी, सत्य सरल वैवार करूँ।
असी भावना रेहवे म्हारी, सत्य सरल वैवार करूँ।
वणै जटा तक अण जीवन में दूजा रो उपकार करूँ।।4।।

अणी जगत में सबसुँ म्हारो प्रेम भाव वणियो रेह्वै।
दीण दुखी जीवाँ रे वाते करुणा री धारा वेह्वै।
जी दुर्जण है मतिहीण है, वी भी छोड़ै पाप तमाम।
हे भगवान वणा ने दीजो हउ-हाँची बुद्धि रो दान।।5।।

गुणीजणाँ ने देख हिया में म्हारे प्रेम उजड़ आवै।
वणे जटा तक वणारी सेवा करने यो मन सुख पावै।

नी भूलूँ उपकार कणी रा, मन में नी लाऊँ खोटाई।
गुण देखूँ गुण लेऊँ सबसुँ, करज चुकाऊँ पाई-पाई।।6।।
कोई खराब या हउ केवै, धण-दौलत आवै-जावै।
लाख वरस तक जीऊँ या पछै मौत अबारू आई जावै।
और कसो ई दुनिया रो डर या लालच मन में आवै।
तोई न्याय ईमान सुँ म्हारो कदी न पग डगवा पावै।।7।।
सुख में नी फूलूँ भूलूँ म्हूँ, दुख में कदी न घबराऊँ।
कसो भयंकर मसाण जंगल वै तोई बढ़तो जाऊँ।
डगपच नी वैवा दूँ मन ने ताकतवर मजबूत वणाऊँ।
वै संजोग वियोग जगत में राखूँ धीरज सुख पाऊँ।।8।।
सगळा जीव सुखी रै जग में कोई कदी न घबरावै।
पाप वैर छोड़ी ने यो जग, रोज नवा मंगल गावै।
हिलमिल ने रेह्वै सगळा ई, घर-घर में आणन्द छावै।
आत्मा रा सब पाप धोईने, मनख जमारो सफल वणावै।।9।।
असल वगत पर वरखा वेवै, ना हूको ना बाढ़ सतावै।
नी वै कोई रोग बीमारी, शान्ति सुँ जनता जीवै।
प्रजा रो भलो छावा वारो राजा सबरी वात हुणै।
धरम अहिंसा मनखपणा सुँ, धरती आखी स्वरग बणै।।10।।
मन दुखावणी कड़वी भासा, कोई कदी कने नी बोलै।
वस्तु-स्वरूप विचार करी ने दुखड़ा संकट सब झेलै।
मेहनत कर ने करै सब जणा, अपणो-अपणो देस विकास।
बण जावै 'जुगवीर' हिया सुँ, 'दिलीप धींग' रे मन री आस।।1।।

मूल : आचार्य युगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
राजस्थानी पद्यानुवाद : **डॉ. दिलीप धींग** (एडवोकेट)
निदेशक- अंतराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र,
सुगन हाउस, 18, रामानुजा अय्यर स्ट्रीट, साहुकारपेट,
चैन्नई-600079

स्थायी स्तम्भ- 'युगवीर-गुणाख्यान'

इस अंक 68/4 में पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' का उपासना तत्त्व पर लिखे गये आलेख (प्रकाशित-दिस. 1962) के अंतर्गत ''मूर्तिपूजा'' पर सारगर्भित विचार संपादित-संक्षिप्तीकरण के साथ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

-प्रस्तुतकर्ता- पं. निहालचंद जैन, निदेशक वीर सेवा मंदिर

मूर्तिपूजा :-

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था- अर्थात् अर्हन्त-अवस्था में सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्मा के स्मरणार्थ और परमात्मा के प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तने के अवलम्बन स्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्था की मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्मा के वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणों का प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापना-निक्षेप से परमात्मा की प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजने का भी समस्त वही उद्देश्य है जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्ति की पूजा से किसी धातुपाषाण का पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है। ऐसा होता तो गृहस्थों के घरों में सैकड़ों बांट बटेहड़े धड़े पसेरे आदि चीजें इसी किस्म की पड़ी रहती है; वे उनसे ही अपना मस्तक रगड़ा करते और उन्हें प्रणामादिक किया करते। पर ऐसा नहीं है। मूर्ति के सहारे से परमात्मा की ही पूजा, भक्ति उपासना और आराधना की जाती है। मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की उपासना का नाम ही मूर्तिपूजा है। इसीलिये इस मूर्तिपूजा के देवपूजा, देवाराधना, जिनपूजन, देवार्चन, भगवत्पर्युपासन, जिनार्चा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजन को साक्षात् जिनदेव के पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा-

भवत्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पाप्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥९-४२॥

- धर्म संग्रहश्रावकाचार

उर्दू के एक कवि शेख साहब ने इस संबन्ध में अच्छा कहा है-

उसमें है एक खुदाई का जलवा वगर ना शेख !
सिजदा करेसे फायदा पत्थर के सामने ?

अर्थात्-परमात्मा की उस मूर्ति में खुदाई का जलवा-परमात्मा का प्रकाश और ईश्वर का भाव-मौजूद है जिसकी वजह से उसे सिजदा-प्रणामादिक-किया जाता है; अन्यथा, पत्थर के सामने सिजदा करने से कोई लाभ नहीं था। भावार्थ, परमात्मा की मूर्ति को जो प्रणामादिक किया जाता है वह वास्तव में परमात्मा को-परमात्मा के गुणों को ही प्रणामादिक करना है, धातु-पाषाण को प्रणामादिक करना नहीं है। और इसलिए उसमें लाभ जरूर है। जैन-दृष्टि से खुदाई का वह जलवा परमात्मा के परम वीतरागता और शान्तितादि गुणों का भाव है जो जैनियों की मूर्तियों में साफ तौर से झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्मा के उन गुणों को लक्ष्य करके ही जैनियों के यहाँ मूर्ति की उपासना की जाती है।

परमात्मा की इस परम शान्त और वीतराग मूर्ति के पूजने में एक बड़ी भारी खूबी और महत्व की बात यह है कि, जो संसारी जीव संसार के मायाजाल और गृहस्थी के प्रपंच में अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल शास्त्रों में परमात्मा का वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नक्शे के परमात्मस्वरूप का नक्शा (चित्र) अपने हृदय पर खींच सकें या परमात्म-स्वरूप का ध्यान कर सके, वे भी उस मूर्ति के द्वारा परमात्मस्वरूप का कुछ ध्यान और चिन्तवन करने में समर्थ हो जाते हैं और उसी से आगामी दु:खों तथा पापों की निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति में अग्रसर होते हैं।

यदि मूर्तिपूजा के सिद्धान्त पर नजर डाली जाये, मूर्ति के स्वरूप पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाये, तो मालूम होगा कि संसार की कोई भी उपासना बिना मूर्ति के नहीं बन सकती। मूर्ति का अवलम्बन जरूर लेना पड़ता है। आप किसी की प्रशंसा नहीं कर सकते जब तक कि मूर्तियों का सहारा न लेवें।

परमात्मा का नाम लेने से, शब्दों-द्वारा परमात्मा की स्तुति करने से-परमात्मा ने नम:, ईश्वराय नम:, परब्रह्मणे नमो नम:, ॐ नम:, णमो अरहंताणं, अल्हम्दोलिला इत्यादि मन्त्रों के उच्चारण करने से- या ॐ आदि अक्षरों की आकृति सामने रखकर ध्यान करने से यदि किसी पुण्य फल की प्राप्ति होती है तो वह तदाकार मूर्ति पर से परमात्मा का चिंतन

करने से भी जरूर होती है और ज्यादा हो सकती है। ऐसी हालत में जो लोग परमात्मा की शब्दों और अक्षरों में स्थापना करके उन अतदाकार मूर्तियों के द्वारा उसकी उपासना करते हैं उन्हें परमात्मा की तदाकार मूर्तियाँ बनाकर उपासना करने वालों पर आक्षेप करने की जरूरत नहीं है और न वैसा करने का कोई हक ही है; क्योंकि वे स्वयं ही मूर्तियों द्वारा- बल्कि अस्पष्ट मूर्तियों द्वारा- परमात्मा की उपासना करते हैं और उससे शुभ फल का होना मानते हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो कोई भी चिंतन अथवा ध्यान बिना मूर्ति का सहारा लिये नहीं बन सकता और निराकार का ध्यान ही हुआ करता है। प्रत्येक ध्यान अथवा चिंतन के लिये किसी न किसी मूर्ति का आकार-विशेष को अपने सामने रखना होता है, चाहे वह नेत्रों के सामने हो अथवा मानसप्रत्यक्ष। इसी अभिप्राय को हृदय में रखकर पं. मंगतरायजी ने ठीक कहा है-

अबस यह जैनियों पर इत्तहामें बुतपरस्ती है।
बिना तसवीर के हरगित तसव्वर हो नहीं सकता॥

अर्थात्- जैनियों पर बुतपरस्ती का- मूर्तिपूजा विषयक-जो इलजाम लगाया जाता है-यह कहा जाता है कि वे धातु पाषाण के पूजने वाले हैं- वह बिल्कुल व्यर्थ और निःसार है; क्योंकि कोई भी तसव्वर-कोई भी ध्यान अथवा चिंतन-बिना तसवीर के-बिना मूर्ति या चित्र का सहारा लिये-नहीं बन सकता। भावार्थ, ध्यान तथा चिंतन की सभी को निरन्तर जरूरत हुआ करती है, इसलिए सभी को मूर्ति का आश्रय लेना पड़ता है और इस दृष्टि से सभी मूर्तिपूजक हैं।

एक मनुष्य किसी स्थान पर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्ग में चला जा रहा था, उसे सामने से एक दूसरा आदमी आता हुआ नजर पड़ा, जिसके हाथ में छतरी थी। छतरी को देखकर उस मनुष्य को झट से अपनी छतरी याद आ गई। उस मनुष्य को अपनी अपनी छतरी के भूलने की जो कुछ खबर पड़ी है और वहाँ से लाने में उसकी जो कुछ प्रवृत्ति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरी से ही उसे यह सब उपेदश मिला है ओर ऐसे उपदेश को **'नैमित्तिक उपेदश'** कहते हैं। यही उपदेश हमें परमात्मा की मूर्तियों पर से मिलता है। जैनियों की ऐसी मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा को लिये हुए, परमवीतराग और शान्त-स्वरूप

होती हैं। उन्हें देखने से बड़ी शान्ति मिलती है, आत्मस्वरूप की स्मृति होती है- यह ख्याल उत्पन्न होता है कि हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो यह है, तू इसे भुलाकर संसार के मायाजाल में और कषायों के फन्दे में क्यों फँसा हुआ है ? नजीता जिसका यह होता है कि (यदि बीच में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती तो) वह व्यक्ति यमनियमादि के द्वारा अपने आत्मसुधार के मार्ग पर लग जाता है। परम हितोपदेशक मूर्तियाँ, नि:संदेह, अभिवन्दनीय ही होती है। इसी से एक आचार्य महोदय उनका निम्न प्रकार से अभिवादन करते हैं;

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शांततया भवान्तकानाम्।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमंति॥

-क्रियाकलाप

अर्थात्- संसार से मुक्त श्रीजिनेन्द्रदेव की उन तदाकार सुन्दर प्रतिमाओं को मैं, अपनी आत्मशुद्धि के लिये, प्रणाम करता हूँ जो कि अपनी परम शान्तता के द्वारा संसारी जीवों को कषायों की मुक्ति का उपदेश देती हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की यह पूजा आत्मविशुद्धि के लिये की जाती है और जो काम आत्मा की शुद्धि के लिये- आत्मा की विभाव-परिणति को दूर कर उसे स्वभाव में स्थित करने के उद्देश्य से किया जाता हो वह कितना अधिक उपयोगी है इस बात को बतलाने की जरूरत नहीं, विज्ञ पाठक उसे स्वयं समझ सकते हैं और ऊपर के इस संपूर्ण कथन से मूर्तिपूजा की उपयोगिता को बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

मूर्ति पूजन का उद्देश्य - स्वामी समन्तभद्र ने निम्नांकित छंद द्वारा परमात्मा की उपासना का मूल उद्देश्य बताया कि दु:खों से छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्मा के गुणों में अनुराग बढ़ाया जाये।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः॥

- स्वयंभूस्तोत्र

हे भगवान्! पूजा-भक्ति से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं। राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है,

जिसके कारण किसी पूजा-भक्ति से आप प्रसन्न होते हैं। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नही। कोई कितना ही आपको बुरा कहे जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता। तो भी आपके पुण्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त पापों से छूटकर पुण्य-परिणति से पवित्र हो जाता है आपकी उपासना पाप-प्रकृतियों का रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य प्रकृतियों में रस बढ़ने से अन्तराय कर्म नाम की प्रकृति, जो मूल पाप-प्रकृति है, हमारे दान, लाभ, भोगोपभोग आदि में विघ्न स्वरूप रहा करती है, उन्हें नहीं होने देती वह निर्बल पड़ जाती हैं। तब हमारे बहुत से लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अतः परमात्मा की सच्ची भक्ति और उपासना से लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होती है, यह कहना भी अनुचित नहीं होगा।

एक आचार्य ने निम्न वाक्य से उक्त आशय की पुष्टि की है-

नेष्टं विहन्तु शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

अर्थात् परमात्मा की सच्ची पूजा और भक्ति से हमारे लौकिक प्रयोजन भी सधते हैं। यद्यपि परमात्मा स्वयं अपनी इच्छापूर्वक किसी को कुछ देता/दिलाता नहीं है और न स्वयं आकर अथवा अपने किसी सेवक को भेजकर भक्त जनों का कोई काम ही सुधारता है, तो भी उसकी भक्ति का निमित्त पाकर हमारी कर्म-प्रकृतियों में कुछ उलट-फेर होता है, और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। अतः परमात्मा के प्रसाद से लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं। ऐसा कहने में, सिद्धान्ततः कोई विरोध नहीं आता। परन्तु फल प्राप्ति का यह सारा खेल उपासना की प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावों की तरतमता पर निर्भर है। अतः हमें भावों की उज्ज्वलता और निर्मलता पर भी ध्यान रखना चाहिए।

******

संपादकीय

जैनधर्म और आयुर्वेद

डॉ. जयकुमार जैन, संपादक एवं
पं. निहालचंद जैन, निदेशक

वर्तमान में चिकित्सा-विज्ञान की दो विधियाँ मुख्य रूप से प्रचलित हैं। 1. ऐलापैथी चिकित्सा- जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के रूप में विभिन्न रोगों के निदान की विधियाँ और उनके उपचार के लिए औषधियों का विवेचन है। 2. आयुर्वेद- इसके दो प्रयोजन बतलाए गए हैं- 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य च विकारप्रशमनम्' अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का रक्षण करना एवं रोगियों के रोग का उपशमन करना। जहाँ तक जैनधर्म और चिकित्सा विज्ञान के सहसम्बन्ध की बात है, वह पूर्णतः सुस्पष्ट तथ्य है कि जैनधर्म का लक्ष्य आत्मा की मुक्ति है जिसे मनुष्य के स्वस्थ शरीर के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है।

''धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए शरीर का निरोग्य होना आवश्यक है। आयुर्वेद विद्या मात्र चिकित्सा पद्धति तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह एक समग्र जीवन विज्ञान है, जो अपनी व्यापकता के साथ दार्शनिक एवं आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है। जैनधर्म में आयुर्वेद को 'प्राणावाय' या प्राणाय की संज्ञा से व्यवहृत किया गया है।

आयुर्वेद क्या है ?

'यस्मिन् शास्त्रे आयुर्विद्यते येन आयुर्विन्दति स आयुर्वेदः। जिस शास्त्र में आयु का विषय प्रतिपादित किया गया हो और जिससे आयु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है- अर्थात् मध्यायु है या दीर्घायु है, इन सबका ज्ञान करा देता है यही आयुर्वेद है। चरक संहिता सूत्रस्थान 1/41 में कहा है-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तत्त्वं यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते॥

अर्थात् जिस शास्त्र में हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुख आयु इन चार प्रकार की आयु के लिए पथ्य, अपथ्य इस आयु का मान तथा आयु का स्वरूप प्रतिपादित हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद का प्रयोजन क्या है ?

प्रयोजनं बाह्यस्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च चरक संहिता-सूत्रस्थान (1/12)

आयुर्वेद का प्रयोजन- स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और व्याधि से पीड़ित मनुष्य के रोग का शमन करना है।

आयुर्वेद में अष्टांग- आयुर्वेद में आठ अंगों से चिकित्सा का वर्णन किया गया है, जो अष्टांग के नाम से जाना जाता है। वह इस प्रकार है (1) काय चिकित्सा- संपूर्ण धातुक शरीर की चिकित्सा। (2) बाल चिकित्सा (3) ग्रह चिकित्सा- वे सभी रोग जो सहस्रार व नाड़ी चक्र में दोषाताभ होने से होते हैं। (4) ऊर्ध्वांग चिकित्सा (शालाक्य चिकित्सा) नाक, कान, गला व आँख इनके रोगों की चिकित्सा (5) शल्य चिकित्सा (6) दंष्ट्रा चिकित्सा- सर्पादि विष जंतुओं के द्वारा दंष्ट्र होने पर अथवा स्थावर, जंगम विष के किसी प्रकार शरीर में प्रवेश होने पर की जाने वाली चिकित्सा (7) जरा चिकित्सा- पुनर्यौवन प्राप्त रकने के लिए की जाने वाली चिकित्सा (8) वृष चिकित्सा (वाजीकरण चिकित्सा)।

सामान्यतः हमारे आहार-विहार की प्रतिकूलता रोगों का कारण होती है ऐसा आयुर्वेद शास्त्र कहता है, लेकिन प्राणावाय (जैन आयुर्वेद) रोगोत्पत्ति में मुख्य हेतु पूर्व जन्मकृत अशुभ कर्मों को मानता है।

सहेतुकास्सर्वविकारजातास्तेषां विवेका गुणमुख्य भेदात्।
हेतुः पुनः पूर्वकृतं स्वकर्म ततः परे तस्य विशेषणानि॥

-कल्याणकारक-सूत्रा. ९१

रोगों की चिकित्सा :

श्री उग्रादित्याचार्य ने चिकित्सा कर्म की प्रशंसा करते हुए कल्याणकारक-7/32 में लिखा है

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं, चिकित्सितं धर्मविवृद्ध्ये च।

चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं, चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च॥

अर्थात् रोगियों की चिकित्सा, पाप विनाश करने क लिए, धर्म की अभिवृद्धि के लिए की जानी चाहिए। यह उभयलोक का साधन है अतः चिकित्सा से बड़ा कोई तप नहीं है।

प्राणावाय के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि

आ. शुभचन्द्र ने ग्रन्थ ज्ञानार्णव में देवनन्दी (पूज्यपाद) को इस प्रकार नमस्कार किया है-

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलंकमङ्गिनां सोऽयं, देवनन्दी नमस्यते॥

जिनके वचन प्राणियों के काय वाक् और चित्त में उत्पन्न दोषों को दूर कर देते हैं, उन देवनन्दी जी को नमस्कार है। इसमें देवनन्दी के तीन ग्रन्थों का उल्लेख है- काय (शरीर) के दोष का दूर करने वाला वैद्यकशास्त्र, वाग्दोषों को दूर करने वाला व्याकरण ग्रन्थ (जैनेन्द्र व्याकरण) और चित्त (मन) के दोषों को दूर करने वाला ग्रन्थ समाधितंत्र है। इनमें प्रथम वैद्यक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जबकि शेष दोनों ग्रन्थ उपलब्ध है। इस प्रकार पूज्यपाद स्वामी का चिकित्सा विषयक ग्रन्थ अवश्य रहा हे। इसी तरह पूज्यपाद स्वामी ने शालाक्य तंत्र, पात्रकेसरी मुनि ने शल्यतंत्र, आचार्य सिद्धसेन द्वारा अगदतंत्र एवं भूत विद्या, दशरथ मुनि के द्वारा कय चिकित्सा, मेघनादाचार्य द्वारा बालरोगाधारित कौमार भृत्य और सिंहनाद मुनीन्द्र के द्वारा बाजीकरण एवं दिव्यामृत (रसायन) तंत्र का निर्माण किया गया। (कल्याणकारक परिच्छेद 25 के श्लोक 84 के आधार पर) आन्ध्रप्रदेश के प्राचीन चालुक्य राज्य में दिगम्बराचार्य श्री उग्रादित्याचार्य ने कल्याणकारक नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है।

आगम साहित्य में चिकित्सा-विज्ञान

प्रकीर्ण रूप से आगम ग्रन्थों में वैद्यक सम्बन्धी विषयों का उल्लेख निम्न प्रकार से प्राप्त होता है।

(1) स्थानांग सूत्र- रोगों की उत्पत्ति के नौ कारण

(2) निशीथ चूर्णि- महावैद्य का उल्लेख, दृष्टपाकी शास्त्रों का उल्लेख

(3) उत्तराध्ययन- चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख
(4) बृहद्वृत्ति पत्र- रसायन सेवन से चिकित्सा का उल्लेख
(5) विपाक सूत्र- वैद्यकर्म, चिकित्साकर्म एवं धन्वन्तरि वैद्य का उल्लेख तथा विविध रोगों का उल्लेख।
(6) वृ0 कल्पभाष्य पीठिका- अक्षिरोग चिकित्सा का उल्लेख।
(7) दशवैकालिक- मल-मूत्र के वेग को नहीं रोकने का निर्देश।
(8) जिनदास चूर्णि- वमन के वेग को नहीं रोकने का निर्देश।
(9) आचारांग- 16 प्रकार के रोगों का उल्लेख। तथा
(10) औघनिर्युक्त में- पामा चिकित्सा का उल्लेख है।

आगमिक उल्लेख के अनुसार वात, पित्त, कफ और सन्निपात से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति के 9 कारण बतलाए हैं :-
1. अधिक भोजन, 2. अहित भोजन, 3. अतिशमन, 4. अति जागरण, 5. कब्ज (पुरीष निरोध), 6. मूत्रावरोध, 7. अध्वगमन (अधिक चलना), 8. भोजन की अनियमितता और 9. अधिक काम-विकार।

पुरीष वेग को रोकने से मरण, मूत्र वेग को रोकने से दृष्टि हानि और वमन-निरोध से कुष्ठ रोग की उत्पत्ति होती है। आचारांग सूत्र में 16 रोगों का उल्लेख पाया जाताहै- सुखबोधा में भी 16 रोगों का कथन किया गया- श्वास, कास, ज्वर, दाह, हृदयशूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुखशूल, अरुचि, अक्षिवेदना, कर्णशूल, खाज, जलोदर और कुष्ठ।

रोग के कारण

आ. वाग्भट ने काल (समय) अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और कर्म का हीन योग, मिथ्या योग और अतियोग होना रोग का कारण कहा है। मिथ्या आहार-विहार और तज्जनित दोष प्रकोप (वात पित्त कफ का क्षय) से भी रोग की उत्पत्ति होती है। इसके साथ पूर्व जन्म में किए गये पाप (अशुभ) कर्म का उदय जब होता है तो कष्ट रूप रोगोत्पत्ति होता है और जब तक उस अशुभकर्म का परिपाल (क्षय) नहीं हो जाता, कष्ट का निवारण तब तक सम्भव नहीं है। रोग के नाश में आभ्यंतर कारण जहाँ धर्म है, वही बाह्य कारण औषधोपचार है, जो चिकित्सा कही जाती है।

एक उदाहरण कल्याणकारक में दिया जाता है-

यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः।
तथा चिकित्साप्रविभागकाले दोषप्रपाको द्विविधः प्रसिद्धः॥

जिस प्रकार वृक्ष का फल स्वयं भी पकता है और विभिन्न उपायों से भी। उसी प्रकार प्रकुपित दोष भी चिकित्सा और कालक्रम दोनों से पकते हैं।

आहार का स्वास्थ्य पर प्रभाव

''अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भोजनात्'' अर्थात् अधिक मात्रा में भोजन करने से अनारोग्य (रोग) अनायुष्य (अल्पायु) और अस्वर्ग्य (नरक) की प्राप्ति होती है। अधिक मात्रा में सेवन किया गया मधुर भोजन भी सम्यक्रूपेण परिपाक नहीं होता।

मधुरपि बहुस्वादितमजीर्णं भवति। अमृतमपि बहुपीतं विषायते। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी कहता है कि दूध, मक्खन, घी, सूखे मेवा आदि का अधिक मात्रा में सेवन से शरीर की धमनियों में कोलेस्ट्रोल हानिकारक तत्त्व संगृहीत हो जाता है जिससे रक्तचाप एवं हृदयाघात जैसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। आयुर्वेद में सात्त्विक आहार को सही बताया है। स्वस्थ मन-मस्तिष्क एवं हृदय के लिए सात्त्विक आहार की उपयोगिता असंदिग्ध है।

उपवास

उपवास या अनशन का जैनधर्म में जिना महत्त्व है आयुर्वेद में उसका महत्त्व उससे कम नहीं है। आयुर्वेद में इसे 'लंघन' शब्द से व्यवहृत किया गया है। जैनधर्म में छह बाह्य तत्त्व बताये हैं जिनमें अनशन, ऊनोदर और रस परित्याग इन तीन का सीधा संबन्ध आहार से है। उपवास और ऊनोदर शरीर के लिए उपयोगी, हितकारी एवं उपादेय है। जैनधर्म में अनशन तप के विषय में कहा गया है। यह मन और इन्द्रियों को जीतने वाला, आत्मा में निवास करता हुआ इहलोक/परलोक के सुख का दाता है। आयुर्वेद के चिकित्सा- ग्रन्थ-चरक संहिता में महर्षि चरक कहते हैं-

लंघनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षतेऽनले।
विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते॥

(चरक संहिता-३/१३९)

अर्थात् लंघन करने से दोषों का क्षय होने पर तथा जाठराग्नि के प्रदीप्त होने पर रोगी को ज्वरहीनता, लघुता एवं क्षुधा उत्पन्न होती है। जहाँ उपवास से निश्चय ही आध्यात्मिक रूप से पुण्यफल की प्राप्ति होती है, साथ ही शारीरिक व मानसिक स्वस्थता भी प्राप्त होती है। उपवास के द्वारा रोगोपचार में महर्षि चरक का कथन है-

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

(चरक संहिता सूत्रस्थान-२४/१८)

अर्थात् दूषित रक्त से समुत्पन्न विकारों में रक्तपित्तनाशक क्रिया (उपचार) करना चाहिए। साथ ही विरेचन,उपवास और रक्तविस्त्रावण करना चाहिए।

वीर सेवा मंदिर के ग्रन्थालय में हस्तलिखित ग्रन्थों में निम्नांकित आठ ग्रन्थ आयुर्वेद से संबन्धित हैं :-

1. बाल चिकित्सा के 3 ग्रन्थ जो एक एक पन्ने के हैं।
2. कवि तरंग (काव्यात्मक) है।
3. अजीर्ण मंजरी
4. रस क्रिया (सोने एवं चांदी के शोधने की नुस्खे बताये गये हैं।)
5. कालक परीक्षा। 6. मूत्र परीक्षा।
7. नेत्ररोग निदान एवं 8 योग चिंतामणि।

इस संपादकीय को लिखने में, आचार्य राजकुमार जैन, आयुर्वेदाचार्य, जिनके दो शोधालेख प्रस्तुत विशेषांक में समाहित किये गये हैं, की पुस्तक **'जैनधर्म और आयुर्वेद'** की सहायता ली है। श्री राजकुमार जी ने एक महत्त्वपूर्ण पत्र भी लिखा जिसे **''पाठकों के पत्र''** के अंतर्गत दिया जा रहा है। आपने अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों से विशेषांक के इस स्वरूप को संवारने में सहयोग किया है। सिंघई जयकुमार जैन, सतना ने भी एक महत्त्वपूर्ण शोधालेख **''कैवल्य वृक्षों का औषधीय महत्त्व''** भेजकर इसे गरिमा प्रदान की। उक्त दोनों विद्वान लेखकों को साधुवाद।

******

प्राणावाय पूर्व (जैनायुर्वेद) और शाश्वत जीवन विज्ञान

-आचार्य राजकुमार जैन, दर्शनाचारायुर्वोदाचार्य

आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन विज्ञान है। आयुर्वेद मानव जीवन से पृथक कोई भिन्न वस्तु या विषय नहीं है। सामान्यतः मनुष्य के जीवन की आद्यन्त प्रतिक्षण चलने वाली श्रृंखला ही आयु है, वह आयु ही जीवन है, उस आयु (जीवन) का वेद (ज्ञानी) ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद शास्त्र केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही उपयोगी नहीं है, अपितु मानसिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए भी हितावह है।

जैनागम द्वादशांग के अन्तर्गत बारहवें दृष्टिवादांग के चतुर्दश पूर्व में प्राणावाय पूर्व का प्रतिपादन किया गया है। जो वर्तमान में आयुर्वेद के नाम से जाना जाता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार विश्व की समस्त विद्याओं और कलाओं की उत्पत्ति आद्य तीर्थंकर भ. ऋषभदेव से मानी गई है। भ. ऋषभदेव के पहले सर्वत्र भोगभूमि थी, जिसमें कल्पवृक्षों का बाहुल्य था। उस समय न तो आधि-व्याधि की चिंता थी और न ही आजीविका की। शनैः शनैः कल्पवृक्षों का ह्रास हो गया और भोग भूमि का स्थान कर्मभूमि ने ले लिया। श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ी और विद्या के प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने सर्वप्रथम अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमशः लिपि तथा अंक विद्या सिखाया। पुत्रियों की भांति पुत्रों को भी विभिन्न विद्याओं जैसे अर्थशास्त्र, गन्धर्व शास्त्र, कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वविद्या, गजविद्या, रत्न-परीक्षा ज्योतिष, शकुनविद्या, मंत्रज्ञान, द्यूतविद्या, स्थापत्य कला आदि प्रमुख हैं।

आयुर्वेद की उत्पत्ति एवं प्रसार के सम्बन्ध में श्री उग्रादित्याचार्य ने ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में लिखा- कि भरत चक्रवर्ती आदि नरेशों ने समवशरण पहुंचकर भ. ऋषभदेव से पूछा- हे प्रभो! बहुत से मनुष्यों को त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) के प्रकोप से महाभय उत्पन्न होने लगा है।[1] इस

कर्मभूमि में शीत, अतिताप और वर्षा से पीड़ित कालक्रम से मिथ्या आहार-विहार सेवन में तत्पर हम लोगों को स्वास्थ्य की रक्षा का विधान और उपाय क्या है ? बतलाने की कृपा करें।[2]

भगवान् की दिव्य ध्वनि का प्रस्फुटी भाव तथा तदन्तर्गत वस्तु चतुष्ट्य का निरूपण करते हुए श्री उग्रादित्यार्च ने लिखा- ''वह दिव्य ध्वनि सर्वप्रथम समस्त आयुर्वेद को पुरुष (रोगी) के लक्षण, औषध, अन्न और काल, इस प्रकार चार भाग में विभक्त करती हुई इस वस्तुचतुष्ट्य के लक्षण भेद-प्रभेद सहित सम्पूर्ण विषयों का संक्षिप्त रूप से कथन करने लगी जिसने भगवान की सर्वज्ञता को सूचित किया।[3]

वर्तमान में धार्मिक ग्रन्थों के रूप में आचार शास्त्र, नीतिशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद ग्रन्थ आदि के रूप में तथा चारों अनुयोगों के अंतर्गत समाविष्ट समस्त ग्रन्थों के रूप में जो भी वाङ्.मय उपलब्ध है वह भगवान महावीर की देशना (दिव्यध्वनि) से सम्बद्ध है। प्रधान गणधन गौतम इन्द्रभूति ने भगवान् की देशना को धारणकर उसे द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के रूप में प्रतिपादित किया था। वही श्रुत कहलाया और द्वादशांग श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली कहलाते है। गणधरों से श्रुतकेवलियों ने, उने वीतरागी मुनियों व अन्य आचार्यों ने आयुर्वेद का ज्ञान उपदेश रूप में ग्रहण किया और लोकहित की भावना से उसे लिपिबद्ध कर ग्रन्थ रूप प्रदान किया। उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ-कल्याणकारक में अनेक आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कल्याणकारक में स्पष्टरूप से यह तथ्य उद्घाटित किया कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर किसी ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें विस्तारपूर्वक अष्टांग संग्रह नामक ग्रन्थ का अनुसरण करते हुए मैंने संक्षेप में इस ग्रन्थ में रचना की है।[4] इससे यह प्रमाणित है कि समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित अष्टांग वैद्यक विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य ही विद्यमान एवं उपलब्ध रहा होगा।

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' में देवनन्दी (पूज्यपाद) को निम्न प्रकार से नमस्कार किया है-

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्त सम्भवम्।
कलंकमग्निनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

इसमें देवनन्दी (पूज्यपाद) के तीन ग्रन्थों का उल्लेख सन्निहित है- काय (शरीर) के दोषो को दूर करने वाला वैद्यक शास्त्र, वाग्दोषों को दूर करने वाला व्याकरण ग्रन्थ (जैनेन्द्र व्याकरण) और चित्त (मन) के दोषों को दूर करने वाला ग्रन्थ समाधि तंत्र। इनमें प्रथम वैद्यक ग्रन्थ उपलब्ध नही है, जबकि शेष दोनों विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। गोम्मटदेव मुनि ने पूज्यपाद द्वारा वैद्यामृत नामक ग्रन्थ की रचना किए जाने का उल्लेख किया है।[5] पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित शालाक्य तंत्र का उल्लेख भी कल्याणकारक ग्रन्थ में है।[6] इसी प्रकार पार्श्व पण्डित ने भी पूज्यपाद स्वामी द्वारा आयुर्वेद के ग्रन्थ की रचना किए जाने का संकेत मिलता है।[7]

आगे उग्रादित्याचार्य लिखते हैं- ''श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा शालाक्य तंत्र, पात्रकेसरी मुनि ने शल्यतंत्र, आचार्य सिद्धसेन के द्वारा अगद तंत्र एवं भूत विद्या, दशरथ मुनि के द्वारा काय चिकित्सा, मेघनाचार्य के द्वारा बालरोगाधारित कौमार भृत्य और सिंहनाद मुनीन्द्र द्वारा बाजीकरण एवं दिव्यामृत (रसायन) तंत्र का निर्माण किया गया।[8] परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ वर्तमान में विद्यमान नहीं है। किन्तु इन ग्रन्थों का आधार लेकर कल्याणकारक ग्रन्थ है जो लगभग ईसा की 9वीं शताब्दी में लिखा गया।

दिगम्बराचार्य श्री उग्रादित्य ने आन्ध्रप्रदेश के प्राचीन चालुक्य राज्य में उक्त कल्याणकारक ग्रन्थ की रचना की थी। वर्तमान में यही एकमात्र ऐसा उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें प्राणावाय पूर्व का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तार से किया है। 14वीं शताब्दी के मुनि यशा कीर्ति द्वारा अपभ्रंश-भाषा में लिखित ''जगत् सुन्दरी प्रयोगशाला'' नामक ग्रन्थ का उल्लेख स्व. श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष 2 किरण 2 (अश्विन वीर निव्राण 2465) में प्रकाश डाला है। इसी प्रार सन् 1360 के आसपास जैन कवि मंगराज के द्वारा लिखित ''खगेन्द्रमणि दर्पण' नामक ग्रन्थ की जानकारी मिलती है जो कन्नड़ लिपि में 300 पृष्ठों का है, स्थावर विष की चिकित्सा पर आधारित है। मध्ययुग में प्राणावाय पूर्व की परम्परा समाप्त हो गई थी। इसके कुछ कारण थे। एक तो जैन आयुर्वेद-लौकिक विद्या के रूप में मान्य किया गया जो महाव्रती दि. साधुओं के लिए सीखना अभीष्ट नहीं था। क्योंकि उनके लिए लौकिक विद्यायें निष्प्रयोजन मानी जाती थीं। संयमशील तप:पूत साधुओं का जीवन अनुशासित होने से उनका

शरीर प्राय: निरोगी होता है और उन्हें औषधोपचार की आवश्यकता प्राय: नहीं होती तथापि दैववशात् कभी अस्वस्थ होते हैं तो उपवासादि क्रियाओं से वे अनेक रोगों का शमन कर स्वयं लेते हैं।

ऐसा लगता है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत विशेषत: कर्नाटका में प्राणावय पूर्व का प्रचलन अधिक था। वहाँ आठवीं शताब्दी के प्राणावाय पूर्व के ग्रन्थ अभी यत्र-तत्र मिलते हैं, जबकि उत्तर भारत में प्राणावाय पूर्व प्रतिपादक एक भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी से जैन श्राविकों और यति मुनियों के द्वारा रचित आयुर्वेद ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है। उनमें कुछ मौखिक हैं, कुछ संकलन और कुछ टीका ग्रन्थ भी हैं। टीकायें संस्कृत अथवा तत्कालीन प्रचलित हिन्दी (देशी भाषा) में है। दि0 जैन साधुओं में भट्टारकों और श्वेताम्बर साधुओं में यतियों का आविर्भाव होने के पश्चात् लोकापयोगी साहित्य का सृजन हुआ। वे उपाश्रय (उपासरे) में निवास करते हुए लोक समाज में चिकित्सा तंत्र-मंत्र तथा ज्योतिष विद्या आदि के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसे पीछे नाथों व शाक्तों आदि का बढ़ता प्रभाव था। जो लौकिक विद्याओं में जैसे चिकित्सा, रसायन, जादू-टोना, झाड़ा फूँकी, ज्योतिष, तंत्र-मंत्र आदि के द्वारा समाज में अपना प्रभुत्व जमाने लगे थे। ऐसी स्थिति में समाज के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को बनाये रखने के लिए- जैन यतियों को इन लौकिक विद्याओं का आशय लेना पड़ा।

भट्टारकों का प्रभाव दक्षिण भारत में विशेष रूप से था। उन्होंने आयुर्वेद की विशिष्ट चिकित्सा रसायन में दक्षता प्राप्त कर समाज में अपना प्रभुत्व बढ़ाया। पारद, गन्धक और खनिज द्रव्यों के योग से निर्मित रसौषधियों के द्वारा, रोगों का शमन करना तथा रोग व जरा से जर्जरित शरीर में शक्ति का संचार करना रसायन चिकित्सा का उद्देश्य था।

आयुर्वेद मानव-जीवन से पृथक कोई भिन्न वस्तु नहीं है। वर्तमान में उपलब्ध वैदिक आयुर्वेद साहित्य के अनुसार भारतीय संस्कृति के आद्यस्रोत वेद और उपनिषद् के बीज ही आयुर्वेद को प्राप्त हुए हैं। अत: आयुर्वेद केवल भौतिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं है, अपितु आध्यात्मिक तत्त्वों के विश्लेषण में भी मौलिक विशेषता रही। चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो या नि:श्रेयस; दोनों की प्राप्ति के लिए शरीर की स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है।

शरीर को आरोग्य प्रदान करने और विकार ग्रस्त शरीर की विकाराभिनिवृत्ति करने में एक मात्र आयुर्वेद ही समर्थ है। चतुर्विध पुरुषार्थ का मूल आरोग्य ही है- **'धर्मार्थकामोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'**। शरीर के साथ साथ प्राण तत्त्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय में स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं। विशिष्ट विधि पूर्वक निर्मित रस-रसायन-पिष्टी-भस्म-चूर्ण-लेप-धृतपाक तैलपाक- अवलेह-मोदक आदि कल्पनाएँ और समस्त बनौषधियों के प्रयोग ने इस विज्ञान को निश्चित ही मौलिक स्वरूप प्रदान किया है। अपनी सरलता और रोगमुक्त करने की क्षमता के कारण आयुर्वेद, ग्रामीण जनजीवन में आसानी से प्रवेश पा लिया है और विभिन्न काढ़ों (क्वाथ) लेपों आदि के द्वारा ग्रामीण जन उपचार करते देखे जाते हैं। अतः आयुर्वेद मानव जीवन के अत्यधिक सन्निकट है। आयुर्वेद में रोग के मूल कारण को मिथ्या आहार-विहार जनित बतलाकर जिस प्रकार संयम द्वारा आहारगत पथ्य के नियम बनाए गए हैं वे अत्यन्त उत्कृष्ट और व्यावहारिक हैं। एलौपैथी, हौमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि में विश्वास रखने वाले भी आज आहार के महत्व को समझने लगे हैं और रोग निवारण के लिए रोगी के चिकित्सा क्रम के संयम द्वारा विनिर्मित आहारगत पथ्यक्रम को महत्व देने लगे हैं।

जैन वाङ्मय और आयुर्वेदशास्त्र

बारहवाँ- 'दृष्टिवाद' नाम का अंग है। उसके चौदह भेद हैं। उन चौदह भेदों मं 'प्राणावाय' या 'प्राणावाद' नामक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। जैनाचार्य ने प्राणावाय की विवेचना इस प्रकार की है-

''कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतकर्म जांगुलिप्रक्रमः
प्राणायानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितत्स्तत्प्राणावायम्॥

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तदगत दोष और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के कर्म, विषैले जीव-जन्तुओं के विष का प्रभाव और उसकी चिकित्सा तथा प्राण-अपान वायु का विभाग जिसमें विस्तार से वर्णित हो वह 'प्राणावाय' होता है।

ग्रन्थ के अन्त में लिखते हैं-

सर्वार्थाधिकमागधीयविलसद् भाषापरिशेषोज्वलात्।
प्राणावायमहागमादर्वितथं संगृह्य संक्षेपतः।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥

-कल्याणकारक, अ. २५, श्लो. ५४

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्थमागधी भाषा में जो प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) है उससे यथावत् रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र की रचना संस्कृत भाषा में की।

जैनमतानुसार आयुर्वेद रूप संपूर्ण प्राणावाय के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हैं। इसके विपरीत वैदिक मतानुसार आयुर्वेद शास्त्र के आद्य प्रवर्तक या आद्युपदेष्टा ब्रह्मा हैं जिन्होंने स्रष्टि की रचना से पूर्व ही उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की अभिव्यक्ति की जिस प्रकार बालक के जन्म के पूर्व ही माता स्तनों में स्तन्य (क्षीर) का आविर्भाव हो जाता है, किन्तु जैनामतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है।

भोगभूमि के पश्चात् कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। उस समय शनैः शनैः कालक्रम से ऐसे मनुष्य भी उत्पन्न होने लगे जो विष शस्त्रादि द्वारा घात होने योग्य शरीर को धारण करने वाले होने लगे। उन्हें वात-पित्त-कफ के उद्रेक से महाभय उत्पन्न होने लगा। ऐसी स्थिति में भरत चक्रवर्ती आदि भव्य जन भगवान् ऋषभददेव के समवसरण में पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने प्रभु से निम्न प्रकार निवेदन किया -

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ।
शीतातितापहिमधृष्टिनिपौडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम्॥
नानाविधामय भयादर्तिदुःखितानमाहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः।
तत्स्वास्थ्यरक्षण विधानर्मिहातुरणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ॥

- कल्याणकारक, अ. 1/6-7

अर्थात् हे देव! इस कर्मभूमि में अत्यधिक ठंड, गर्मी और वर्षा से पीड़ित तथा कालक्रम से मिथ्या आहार विहार के सेवन से तत्पर, व्याकुल बुद्धि वाले शरणागत हम लोगों के लिए आप ही शरण है। हे तीन लोक के स्वामिन्! अनेक प्रकार की व्याधियों के भय से अत्यन्त दुःखी तथा

आहार औषधि के क्रम को नहीं जानने वाले हम व्याधितो (पीड़ितों) के लिए स्वास्थ्य रक्षा के उपाय और रोगों का नाश करने वाली क्रिया (चिकित्सा) बतलाने की कृपा करें। तब भगवान् की वाग्देवी दिव्यध्वनि प्रसारित हुई। जिसे गणधर प्रमुख ने जाना और महावीर तीर्थंकर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों ने आयुर्वेद शास्त्र का अत्यन्त विस्तृत, दोषरहित ज्ञान दिया।

आयुर्वेद शास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले उसमें निष्णात व्यक्ति को 'वैद्य' कहा जाता है ऐसा कथन मुनिजनों ने किया है। वैद्यों का शास्त्र होने से इसे वैद्यक शास्त्र कहते हैं। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य एवं आयुर्वेद शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।
वैद्यं वदन्ति पदशास्त्रविशेणज्ञा एतद्विचिन्त्य च पठन्ति च तेऽपि वैद्या॥
वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभात्तत्वार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात्।
आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

– कल्याणकारक अ. १/१८-१९

अर्थात् अच्छी तरह से उत्पन्न केवलज्ञान रूपी चक्षु को विद्या कहते हैं। उस विद्या से उत्पन्न उदार शास्त्र को व्याकरण शास्त्र के विशेषज्ञ वैद्यशास्त्र कहते हैं। उस उदार शास्त्र को जो लोग अच्छी तरह मनन पूर्वक पढ़ते हैं वे वैद्य कहलाते हैं। यह आयुर्वेद भी कहलाता है। वेद शब्द का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने वाला है यानि तत्त्व के अर्थ को प्रतिपादित करने वाले वचन। इस वेद शब्द के पहले 'आयुः' शब्द जोड़ दिया जाय तो 'आयुर्वेद' शब्द निष्पन्न होता है। अतः उस वैद्यशास्त्र के ज्ञाता उस शास्त्र का अपर (दूसरा) नाम आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

जिस शास्त्र में आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। अथवा जिस शास्त्र के विषय में विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दुखकर आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र में बतलाए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है। इसी प्रकार स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, शुभ और अशुभ बतलाने वाले दूत एवं अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशों से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह स्वल्पायु है

अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है इन सब विषयों का ज्ञान करा देता है वह आयुर्वेद है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आयु शब्दका अर्थ वय नहीं करना चाहिये। आयु और वय में पर्याप्त भिन्नता है। आयु शब्द यावज्जीवन काल का बोधक है जबकि वय शब्द जीवन की एक निश्चित कालावधि का द्योतक है। आयु के लिए कौन सी वस्तु लाभदायक है अथवा किस वस्तु या विषय के सेवन सेआयु की हानि हो सकती है ? किस प्रकार की आयु हितकर है और किस प्रकार की आयु अहित कर है ? यह संपूर्ण विषय जिस शास्त्र में वर्णित होता है तथा आयु को बाधित करने वाले रोगों का निदान और उनका प्रतिकार करने के उपायों (चिकित्सा) का वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है उसे विद्वानों ने आयुर्वेद संज्ञा से अभिहित किया है। इस शास्त्र में आहार-विहार सम्बन्धी नियमों और अन्य सदाचारों का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। यह वैद्य शास्त्र लोकोपकार के लिए प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रयोजन द्विविध है-

1. स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और 2. रोगी मनुष्यों के रोग का प्रशमन करना।

भगवान् जिनेनद्र देव के अनुसार दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया गया है- पारमार्थिक स्वास्थ्य और व्यवहार स्वास्थ्य। इन दोनों में पारमार्थिक स्वास्थ्य मुख्य है। परमार्थ स्वास्थ्य का निम्न लक्षण बतलाया गया है-

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं यदेदात्यन्तिकमद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्॥

-कल्याणकारक अ. २/३

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से उत्पन्न, अत्यन्त अद्भुत, आत्यन्तिक एवं अद्वितीय विद्वानों अतीन्द्रिय मोक्षसुख ही पारमार्थिक सुख कहते है।

व्यवहार स्वास्थ्य का लक्षण निम्न निम्न प्रकार बतलाया गया है।

समाग्नि धातुत्व मदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियसुप्रसन्नता।
मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु॥

- कल्याणकारक अ. २/४

अर्थात् मनुष्य के शरीर में सम अग्नि (अविकृत जठराग्नि) होना, धातुओं का सम होना, वात-पित्त-कफ तीनों का विभ्रम (विकृत) नहीं होना, मलों (स्वेद मूत्र-पुरीष) की विसर्जन किया यथोचित रूप से होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता सदैव रहना यह व्यवहारिक स्वास्थ्य का लक्षण है।

चिकित्सा योग

यहां कतिपय चिकित्सा योगों को उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ ताकि सभी लोग उनका व्यवहार कर उनमें अपेक्षित लाभ उठा सकें। कुछ उपयोगी योग निम्न है-

1. गिलोय, सोंठ, नागरमोथा और जवासा इन सबका क्वाथ बना कर देने से ज्वर नष्ट होता है।
2. गिलोय, सोंठ और पीपलामूल इन सबका काढा बना कर पीने से वात ज्वर मिटता है।
3. पित्तपापडा, नागरमोथा, चिरायता इनका काढ़ा बनाकर 1-1 तोला प्रातः सायं पीने से पित्त ज्वर नष्ट होता है।
4. मीठा अनार का रस पिलाने से या फालसा के रस में सेधा नमक मिलाकर देने से पित्त ज्वर शान्त होता है।
5. नीम की छाल, सोंठ, गिलोय, कटा पोहकर मूल, कुटकी, कचूर, अडूवा, कायफल, पीपली और शतावरी इनको 3-3 माशा लेकर इनका काढा बनाकर देने से कफज्वर शान्त होता है।
6. कायफल, पीपल, काकडासिगी, पोहकर मूल समभाग लेकर इनका बारीक चूर्ण 3 माशा की मात्रा में मिश्री की चासनी के साथ देने से कफ ज्वर नष्ट होता है।
7. कायफल, पीपलामूल, इन्द्रजौ, भारंगी, सौंठ, चिरायता, काली मिर्च, पीपल, काकड़ासिंगी, पोहकरमूल, रास्ना, दोनों कटेरी, अजमोद, छड़, वच, पाठ, अडूसा, चव्य इन सबको समभाग लेकर 8 माशा का क्वाथ बनाकर दोनों समय देने से सन्निपात ज्वर, सभी प्रकार के वातरोग, पेट का शूल, आफरा, वाय व कफ विकारों का नाश होता है।
8. धनिया और पित्तपापड़ा का क्वाथ पीने से जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर) मिटता है।

9. जो जीर्ण या मलेरिया ज्वर कुनैन आदि औषधियों के सेवन से नहीं मिटता है वह ज्वर दार-हल्दी का चूर्ण या क्वाथ देने से मिट जाता है।
10. पित्त पापड़ा और गिलोय के काढ़े में काली मिर्च का चूर्ण डाल कर पिलाने से जीर्ण ज्वर और खांसी में लाभ होता है।
11. विषम ज्वर (मलेरिया) की स्थिति में सुदर्शन चूर्ण गरम जल से देने से ज्वर शान्त होता है।
12. बकरी के दूध में सोंठ का बारीक चूर्ण मिलाकर या सोंठ को घिस कर सिर पर लेप करने से सिरदर्द ठीक होता है।
13. हरड़ की गुठली को पानी में पीस कर लेप करने से आधाशीशी की पीड़ा मिट जाती है।
14. प्रातः सायं दूध के साथ गुलकन्द का सेवन करने से स्मरण शक्ति बढ़ती है।
15. घी और दूध के साथ 1 माशा बच का चूर्ण लेने से स्मृति की वृद्धि होती है।
16. ब्राह्मी से निर्मित धृत या मण्डूकपर्णी का स्वरस या गव्य दुग्ध के साथ यष्टीमधु (मुलेठी) का चूर्ण या गिलोय स्वरस या मूल और पुष्प युक्त शखपुष्पी के कल्क का प्रयोग करने से मेधा की वृद्धि होती है। अतः ये मेध्य रसायन है। इनमें ब्राह्मी एवं शंख पुष्पी विशेषतः मेध्य है।
17. अडूसा, मुनक्का और मिश्री का सेवन करने से सूखी खांसी मिट जाती है।
18. केर की लकड़ी की भस्म 1 रत्ती की मात्रा में मिश्री की चासनी के साथ खाने से सूखी खांसी में लाभ होता है।
19. अदरक का रस, नागरबेल के पान का रस और तुलसी पत्तों का रस सम भाग लेकर उसमें मिश्री मिला कर पीने से कफज खांसी में लाभ होता है।
20. मिश्री 16 तोला, वंशलोचन 8 तोला, पिप्पली 4 तोला, छोटी इलायची 2 तोला और दाल चीनी 1 तोला इनको कूट छान कर बारीक चूर्ण बना लें। यह सितोपलादि चूर्ण श्वास, कास, हाथ-पैर की जलन, पित्त विकार आदि में अत्यधिक लाभकारी है।

******

कैवल्य वृक्षों का औषधीय महत्व

-सिंघई जयकुमार जैन

(यह शोधलेख-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो लेखक का श्रमसाध्य खोजपूर्ण कार्य है। 24 तीर्थंकरों ने भिन्न भिन्न वृक्षों के नीचे तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया था अस्तु वे 'कैवल्यवृक्ष' कहलाते हैं। लेखक ने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा से विभिन्न पुराणों के आधार पर कैवल्यवृक्ष तालिका भी भेजी है जो यहाँ संदर्भित नही है। - संपादक

वर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए। भोगभूमि की व्यवस्थाएं समाप्त हो रही थीं। कल्पवृक्षों की क्षमताएं घट रही थीं। जनमानस भयाक्रान्त था, ऐसे समय में ऋषभदेव (आदिनाथ) ने 8 विद्याओं के अन्तर्गत ''कृषि'' का ज्ञान कराया। उन्होंने आहार के लिए उपयोगी और स्वास्थ्य के लिए उत्तम अन्न फल और बनौषधियों की जानकारी दी। तत्कालीन भारतीय समाज के लिए 'शाकाहार' की महत्ता प्रतिपादित की। निरामिष भोजन बल, वीर्य वर्द्धक और शुद्ध है क्योंकि अहिंसा की एकमात्र शुद्धि का आधार है। शाकाहार पर्यावरण संरक्षण का भी कार्य करता है। **वनस्पति के बिना जैविक प्रक्रिया असंभव है।**[१] कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जो औषधि एवं आहार दोनों में कार्य आती हैं। इनका शाकाहार तथा चिकित्सा की दृष्टि से महत्व है। इन वानस्पतिक आयुर्वेद औषधियों का चूर्ण, क्वाथ, लेप, अवलेह, वटी, आसव, अरिष्ट आदि रूप में उपयोग होता है। शाकाहारी सामाग्री का मूल स्रोत, वृक्ष, लता, गुल्म आदि हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके शिष्यों ने तीर्थंकर की वाणी को बारह अंगों (द्वादशांग) के रूप में नाम दिया। इस द्वादशांग वाणी के अन्तिम अंग को ''दृष्टिवाद'' कहते हैं। दृष्टिवाद भी पांच भेदों में गर्भित है, जिनमें से एक भेद 'प्राणावाय' है। प्राणावाय में मनुष्यों के आध्यात्मिक, नैतिक और शारीरिक स्वस्थता के उपायों का वर्णन है। यह स्वस्थता आंतरिक भी और बाह्य भी और इसे प्राप्त करने के लिए आहार-विहार, परहेज तथा

चिकित्सा पद्धति को इस अंग में समाहित किया गया है। प्राणावाय नामक इस पूर्व के पदों की संख्या दिगम्बर परम्परा में तेरह करोड़ और श्वेताम्बर परम्परा में एक करोड़ छप्पन लाख कही गयी है।

यह प्राणावाय प्रवाद पूर्व, इन्द्रिय, बल, आयु, उच्छवासों का,
अपघात मरण अरु आयुबन्ध, आयु अपकर्षण आदि का।
यह आयुर्वेद के अष्ट अंग, का विस्तृत वर्णन करता है।[२]
इसमें पद तेरह कोटि इसे पूजत ही स्वास्थ्य लाभ मिलता॥

वर्तमान में दिगम्बर जैनाचार्य 'उग्रादित्य' विरचित 'कल्याणकारकम्' ग्रन्थ इस परम्परा के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य के रूप में प्राप्त है। विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह कर आचार्य उग्रादित्य का समय ईस्वी नवीं शताब्दी निरूपित किया है। इस ग्रन्थ के प्रारंभ में आचार्य श्री ने आयुर्वेद शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में एक सुन्दर इतिहास लिखा है। ग्रन्थ के मंगलाचरण में भगवान् आदिनाथ को प्रणाम करते हुए भरत चक्रवर्ती ने प्रार्थना की कि-

देव त्वमेव शरणं शरणागताना
मस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ।
शीतातितापहिम वृष्टि निपीडितानां,
कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम्॥५॥[३]

स्वामिन् इस कर्मभूमि की हालत में हम लोग ठंडी, गर्मी व बरसात आदि के पीड़ित होकर दुखी हुए हैं एवं कालक्रम से हम लोग मिथ्या, आहार-विहार का सेवन करने लगे हैं। इसीलिए देव, आप ही शरणागतों के रक्षक हैं।

नानाविधामयभयादतिदुःखिताना,
माहार भेषजनि रुक्तिमजानतां न।
तत्स्वास्थ्य रक्षण-विधाानमिहातुराणां,
का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ॥६॥[४]

त्रिलोकीनाथ! इस प्रकार आहार, औषधि आदि के क्रम को नहीं जानने वाले व अनेक प्रकार के रोगों के भय से पीड़ित हम लोगों के रोग को दूर करने और स्वास्थ्य रक्षण करने का उपाय क्या है ? कृपया आप बतलावें।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि आयुर्वेद का कथन जैनधर्म व जैन साहित्य में विद्यमान है। आदि पुराणकार ने लिखा है कि-

''आयुरस्मिनविद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः''[5]

समस्त लोकविधियों के स्वामी भरत मूर्तिमान आयुर्वेद ही हैं अर्थात् आयुर्वेद ने ही क्या भरत का शरीर धारण किया है।

वनस्पतिकायिक जीवों की दस लाख जातियाँ होती हैं। आयुर्वेद के विशिष्ट जानकारों ने जिन जिन वनस्पतियों को अपने शोध का विषय बनाया, उनमें से कोई भी वनस्पति ऐसी नहीं थी, जिसमें औषधीय गुण न हो। निःसन्दिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि, प्रत्येक वनस्पति के किसी न किसी अंश में रोगशमन की क्षमता होती है। आवश्यकता है, उसके गुण को पहचानने और नियंत्रित विधि से सेवन करने की।

तीर्थंकरों ने जिन वृक्षों के नीचे ध्यानस्थ हो, कठोर तपश्चरण द्वारा घातिया कर्मों को नष्टकर केवलज्ञान प्राप्त किया, उन वृक्षों को कैवल्यवृक्ष के नाम से अभिहित किया गया है। अनेक जैन ग्रन्थों में हमें इन कैवल्यवृक्षों की जानकारी प्राप्त होती है। दिगम्बरा परम्परा में 'तिलोयपण्णत्ति' सहित प्रथमानुयोग के अनेक ग्रन्थों में हम इनके बारे में जान सकते हैं।

आइये ! हम इन वृक्षों के औषधीय गुणों को संक्षिप्त में जानने का प्रयास करेंगे।

१. न्यग्रोध (बरगद) - भ. आदिनाथ का कैवल्यवृक्ष

संस्कृत- वट, रक्तफल, श्रृंगी, न्यग्रोध, स्कन्धज, क्षीरी, वास, वैश्रवण, बहुपाद। हिन्दी- बड़, बरगद

लेटिन- Ficusbenghalensis Linn

बरगद का वृक्ष प्राणवायु विसर्जित करने में वनस्पति जगत में दूसरे स्थान पर है। बड़ कषाय शीतवीर्य, गुरु, ग्राही स्तम्भन, रुक्षण, वर्ण्य, मूत्र तथा तृष्णा, वमन, मूर्च्छा, रक्तपित्त, विसर्प, दाह और योनिदोष को दूर करने वाला है।[6]

श्री राकेश बेदी ने लिखा है कि यह गर्भ के लिए हितकर है। प्रदर, पेट के रोग, प्यास, दाह, खांसी, शोधन के उपद्रव, मूत्र और वीर्य रोग, गठिया, फोड़े-जख्म, विसर्प, कुष्ठ, खून बहने, सर्पपिष और मूर्धा के रोग में भी उपयोगी है।[7]

२. सप्तपर्ण - तीर्थंकर अजितनाथ का कैवल्यवृक्ष

संस्कृत- सप्तपर्ण, विशालत्वक, शारद, विषमच्छद

हिन्दी- सतौना, सतवन, हतिवन, सतिवन

लैटिन- Alstonia scholaris R.Bs.

सुन्दर विशाल, सीधा, सदाहरित एवं छीरयुक्त सतिवन या सतौने का वृक्ष प्रायः समस्त आर्द्र प्रान्तों में पाया जाता है।

इसके सत्व के गुण कुनैन के समान हैं। प्रसूतावस्था में पहले दिन से ही इसे सुगन्धित पदार्थों (वच, अदरक, कचूर) के साथ देते रहने से ज्वर नहीं आता, अन्न ठीक से पचता है और माता का दूध बढ़ता है।[8]

आयुर्वेद के अनुसार सप्तपर्ण की छाल कफ, वात शामक, व्रणशोधक, रक्तशोधक, कृमिघ्न, और विषम ज्वर नाशक होती है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके द्वारा बनाई गई औषधियाँ कुप्रभावहीन होती हैं।[9]

३. शाल (शाल-वृक्ष) तीर्थंकर संभवनाथ का कैवल्य वृक्ष एवं भ. महावीर स्वामी

संस्कृत- शाल, सर्ज, काश्र्य, अश्वकर्णक, शत्यशम्बर

हिन्दी- शाल, साल, साख, सखुआ

लैटिन- Shosea robusta Gaertrif

शाल के बड़े और विशाल वृक्ष सतलुज नदी के प्रदेशों से लेकर आसाम तक, मध्य भारत के पूर्वी भाग, और छोटा नागपुर के जंगलों में बहुतायत से होते हैं।

यह व्रणशोधन, रक्तविकार, अग्निदाह, कर्णरोग, विष, कुष्ठ, प्रमेह और पाण्डु रोग का नाश करने वाला तथा मेद को सुखाने वाला है। फोड़े-फुंसियों की पीड़ा शान्त करने में तथा घाव भरने में उपयोगी है। शाल के मंजन से दांतों की पीड़ा शान्त होती है।[10]

४. सरल - भ. अभिनन्दननाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- सरल, पीतवृक्ष, सुरभिदारूक

हिन्दी- धूपसरल, चिर, चीढ़, चीड़

लैटिन- Pinus longifolia Roxl.

चीड़ के विशाल वृक्ष सीधे (सरल) होते हैं। ये हिमालय में काश्मीर से लेकर पंजाब, उत्तरप्रदेश और आसाम तक पाये जाते हैं।

चीड़ कटु, तिक्त उष्णवीर्य, कोष्ठ शुद्धिकर तथा कफ, वात, शोध, कण्डू और व्रण का नाश करने वाला है। इसके काण्ड में क्षत करने से एक प्रकार का निर्यास निकलता है जिसको गंध विरोजा कहते हैं। गंध विरोजा से जो तेल निकाला जाता है, उसको तारपीन का तेल कहते हैं।[11]

५. प्रियंगु- भ. सुमतिनाथ एवं भ. पद्मप्रभ का कैवल्यवृक्ष

संस्कृत- प्रियंगु, फलिनी, कान्ता, लता, श्यामा, गुन्द्रा, गन्धफला, प्रिया, विधववसेनांगा,

हिन्दी- प्रियंगु, फूल-प्रियंगु, गन्धप्रियंगु, वुंडुड, बूढ़ी घासी, डइया, दहिया

लैटिन- Callicarpa macrophylla Vahl.

यह नेपाल, देहरादून, बंगाल, बिहार, तथा उत्तरप्रदेश के कुछ भागों में (जलप्राय स्थानों में) पाया जाता है। गुल्म 4 से 8 फुट ऊँचा होता है। पुष्प गुलाबी होते हैं। डालियाँ पुष्प गुच्छों के बोझ से झुक जाती हैं।[12]

६. शिरीष- भ. सुपार्श्वनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- शिरीष, भण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, शुकप्रिय, मृदुपुष्प। हिन्दी- सिरस, सिरिस

लैटिन- Albizzia labbeck Benth

शिरीष कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु त्रिदोष हर, वेदना, स्थापन, शिरोविरेचन, विषहर, कुष्ठ, कण्डु, श्वॉस और खाँसी रोग को दूर करने वाला है।

शिरीष कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य, लघु, त्रिदोष हर, वेदना स्थापन, शिरोविरेचन, विषहर, कुष्ठ, कण्डु, श्वॉस और खांसी रोगा को दूर करने वाला है। छाल के क्वाथ का कुल्ला करने से दाँत मजबूत होते हैं।[13]

७. नागवृक्ष-भ. चन्द्रप्रभ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- नाग, नागपुष्प, केशर, नागकेशर, नागकिञ्जल्क, काञ्चनाह्व, चाम्पेय हिन्दी- नागकेसर, नागेसर, नागचकया, पीलानागकेशर

लैटिन- Mesua ferrea Linn

पूर्वी हिमालय, आसाम, पूर्व बंगाल और बर्मा से लेकर दक्षिण हिन्दुस्तान तक पहाड़ों में पाया जाता है। वृक्ष छोटा और सुन्दर होता है।

नागकेसर कफ और पित्त के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों के साथ ही विषजन्य रोगों में लाभकारी है। यह बवासीर, खूनी बवासीर, पेट के कीड़े, खजुली आदि रोगों को दूर करता है। इसका उपयोग कुष्ठरोगों में भी किया जाता है। नागकेसर की छाल, जड़, फूल, कली, कच्चे-पक्के फल आदि सभी का उपयोग औषधि निर्माण में किया जाता है।[14]

८. अक्ष (बहेड़ी)- भ. पुष्पदंत का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- अक्ष, विभीतक, कर्षफल, कलिद्रुम, भूतवास, कलियुगालय

हिन्दी- बहेड़ा, बहेरा, फिनास, भैरा

लैटिन- Terminallia belerica Roxle

लगभग 60 से 100 फीट तक ऊँचाई को प्राप्त होने वाला बहेड़े का विशाल वृक्ष देश के प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है।

बहेड़ा हलका, गरम, रूक्ष, तीक्ष्ण और कफ-पित्त नाशक है। आँखों के लिए हितकर और अन्य मुख रोगों में गुणकारी है। बहते हुए खून को बन्द करता है। बालों को पकने से रोकने और बालों की वृद्धि में सहायक होने के कारण बालों के लिए लाभदायक समझा जाता है। यह कृमिनाशक है।[15]

९. धूलिपलाश - भ. शीतलनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- पलाश, किंशुक, पर्ण, यज्ञिय, रक्तपुष्पक, क्षारश्रेष्ठ, वातपोथ, ब्रह्मवृक्ष, समिद्वर,

हिन्दी- ढाक, पलाश, परास, टेसू

छोटे या मध्यम ऊँचाई के पलाश वृक्ष अत्यन्त शुष्क भागों को छोड़कर प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। दूर से सुग्गे की चोंच की तरह दिखने के कारण इसे किंशुक भी कहा जाता है।

इस वृक्ष की छाल से रक्तवर्ण का गोंद निकलता है। पलाश का पुष्प वातल तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, वातरक्त और कुष्ठ का नाश करने वाला है। पलाश के बीजों का तेल कफ-पित्त प्रशमनकारक है।[16]

१०. तेंदू - भ. श्रेयांशनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- तिन्दुक, स्फूर्जक, कालस्कन्ध, असितकारक

हिन्दी- तेंदू, गाब, गाम

लैटिन- Disphyros melanoxylon Pers

यह वृक्ष प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है पर बंगाल में अधिक होता है। इसके बीजों में तेल होता है। विषम ज्वर में छाल देते हैं। मुख पाक में फल के फांट से कुल्ला कराते हैं।[17]

११. पाटल- भ. वासुपूज्य का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- पाटला, पाटलि, अमोघा, मधुदूती, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थली, अलिवल्लभा,

हिन्दी- पाढल, पाडर, पारल

लैटिन- Stereo spermumsuveo lens D.C.

यह प्रायः समस्त भारत में शुष्क भागों में पाया जाता है।

पाटल कषाय, तिक्त तथा त्रिदोषहर है। अरुचि, श्वास, शोध, अर्श, वमन, हिचकी, तृषा और रक्त विकार को मिटाने वाला है। फूलों को जल में रखने से उनका सुवास उतरता है।[18]

१२. जम्बू- भ. विमलनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- फलेन्द्रा, नंदी, राजजम्बू, महाफला, सुरभिपत्रा, महाजम्बू।

हिन्दी- बड़ी जामुन, फरेन्द्र, फरेन, फडेना, फलेन्द्र, राजजामुन।

लैटिन- Eugenia Jambo lana Lam

अत्यन्त शुष्क भागों को छोड़कर जामुन सभी प्रान्तों में पाई जाती है। इसका वृक्ष बड़ा और सदा हराभरा रहता है।

जामुन की कोमल पत्ती वमन वन्द करने वाली है। मधुमेह में जामुन की मगज से लाभ होता है। फलों का उत्तम आसव बनता है, वह मुधमेह, अतिसार, संग्रहणी और ऑब में दिया जाता है।[19]

१३. अश्वत्थ (पीपल)- भ. अनन्तनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- अश्वत्थ, पीपल, बोधिद्रु, चलपत्र, गजाशन,

हिन्दी- पीपलवृक्ष लैटिन- Ficus religiosa Linn.

पीपल का वृक्ष इस देश के प्रायः सभी प्रांतों में पाया जाता है। यह बहुत ऊँचा, घना और विस्तारयुक्त होता है। प्राणवायु उत्सर्जित करने में पीपल का स्थान सर्वप्रथम है।

मूत्र संग्रहणीय दस औषधियों में चरक ने पीपल को गिनाया है। रोग निवारक वस्ति (एनीमा) में महर्षि चरक छाल का प्रयोग करते थे।

पीपल का प्रयोग खांसी, दमा, बुखार, चेचक, खून रोकने, गुदा के रोग, गठिया, सूजन, विसर्प, फोड़े, और कान के रोग में किया जाता है।[20]

पश्चिम बंगाल में पत्ता काला रंग तैयार करने के लिए पीपल की छाल का अन्य छालों के साथ प्रयोग किया जाता है। प्राचीनकाल में म्याँमार (वर्मा) में पीपल की छाल से कागज तैयार किया जाता था।[21]

१४. दधिपर्ण - भ. धर्मनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- कपित्थ, कपिप्रिय, पुष्पफल, दधित्थ, दन्तशठ, दधिफल

हिन्दी- कैंथ, कैंथा, कैंत, करंत

लैटिन- Feronia elephantum Corsea

यह इस देश के प्रायः सूखे प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होता है। दक्षिण भारत में वन्य अवस्थाओं में पाया जाता है।

परिपक्व कैंथ मधुर, अम्ल-कषाय तथा सुगन्धि होने से रुचिकर, कफ, वायु, श्वास, खाँसी, अरुचि और तृष्णा को दूर करने वाला है।[22]

१५. नन्दी - भ. शान्तिनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- तूणी, तुन्नक, आपीन, तुणिक, कच्छक, कुठेरक, कान्तलक, नन्दक, हिन्दी- तुन, तून, तूनी, महानिम

लैटिन- Cedrela Foona Roxl

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में आसाम, बंगाल, छोटा नागपुर, पश्चिमी घाट एवं दक्षिणी प्रायदीप में होता है। इसकी लकड़ी फर्नीचर बनाने के काम आती है।

छाल तथा पुष्प का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है बच्चों के जीर्ण अतिसार आदि में छाल का प्रयोग करते हैं। विषम ज्वर में दस्त होने पर भी छाल दी जाती है।[23]

१६. नन्दीवृक्ष-श्वेताम्बर परंपरा में-भ. शान्तिनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- नन्दीवृक्ष, अश्वत्थ भेद, प्ररोही, गजपादप, स्थालीवृक्ष, क्षय तरु, क्षीरी हिन्दी- बेलिया पीपल

लैटिन- Ficus reteesa

यह छोटा नागपुर, विहार, मध्यभारत, दक्षिण भारत तथा सुन्दरवन में होता है।

१७. तिलक- भ. कुन्थुनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- तिलक, क्षुरक, श्रीमान, पुरुष, छिन्नपुष्पक

हिन्दी- तिलक, तिलिया, तिलका

लैटिन- Wendlendia exerta D.C.

हिमालय के उष्णप्रदेशीय शुष्क जंगलों में, उड़ीसा, मध्यभारत, कोंकण एवं उत्तरी डेक्कन में पाया जाता है। यह खुली हुई और छोटी-छोटी वनस्पतियों से रहित भूमि जैसे नालों के ढलान पर अधिक होता है।

इसकी छाल रेचक तथा चबाने से लालास्राव वर्धक होती है।[24]

१८. आम्र- भ. अरनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- आम्र, चूत, रसाल, सहकार, कामांग, माकन्द, अतिसौर, मधुदूत, पिकवल्लम हिन्दी- आम

लैटिन- Nagbniufera indica Linn

भारत में लगभग 1200 प्रकार के आम के वृक्ष पाये जाते हैं। व्यावसायिक आधार पर लगभग 25 प्रजातियों के नाम सफल हैं। इनमें दशहरी, लंगड़ा, तोतापरी, चौसा, सफेदा, कलमी, अल्फान्सो, बम्बइया, नीलम, बंगलौरा, गुलाब खस, मुलगोवा, बंगनपल्ली, पैंरी, ओलूर, स्वर्ण रेखा आदि प्रमुख है।

इसकी लकड़ी, छाल, पत्ते, फल, बीज, मज्जा, गोंद आदि सभी बड़े उपयोगी हैं। इसके तने और शाखाओं की छाल से अनेक प्रकार की आयुर्वेदिक औषधियाँ तैयार की जाती हैं। वृक्ष की ताजी छाल का रस पेचिश में और छाल का काढ़ा पुराने से पुराने घाव को भरने में प्रयोग किया जाता है। आम की सूखी पत्तियों का चूर्ण मधुमेह की रामबाण औषधि है। आम की बौरों की सहायता से अतिसार, प्रमेह, रक्तदोष, कफ तथा पित्त से संबन्धित अनेक औषधियाँ तैयार की जाती हैं। आम का फल (पका हुआ) हृदय रोगी के लिए विशेष रूप से लाभदायक है तो कच्चा फल लू लगने पर पने के रूप में दिया जाता है।[25]

१९. कंकेलि - भ. मल्लिनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- कंकेलि, अशोक, हेमपुष्प, वञ्जुल, नट, ताम्रपल्लव, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प हिन्दी- अशोक

लैटिन- Saraca indica Linn

वर्ष भर हरित रहने वाला अशोक का वृक्ष बड़ा सीधा और लगभग झोपड़ाकार होता है। यह मध्य और पूर्वी हिमालय सहित, पूर्वी बंगाल और दक्षिण भारत में पाया जाता है। यह रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, आर्तवशूल आदि गर्भाशय के रोगों में गुणकारी है।[26]

२०. चम्पक- भ. मुनिसुव्रतनाथ का कैवल्यवृक्ष

संस्कृत- चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प, स्वर्णपुष्प, पीतपुष्प, काञ्चन, षट्पदातिथि। हिन्दी- चम्पा

लैटिन- Michelia Champaca Linn

चम्पा का वृक्ष छोटा और सदाबहार होता है। यह प्रायः वाटिकाओं में प्राप्त होता है किन्तु पूर्वी हिमालय में 3000फीट ऊँचाई तक तथा आसाम पश्चिमी घाट तथा दक्षिण भारत में वन्य अवस्था में भी पाया जाता है।

चंपा रस में कटु, तिक्त, कषाय, शीतवीर्य, रक्तपित्त, दाद, कुष्ठ, कंडु वृण, मूत्रकृच्छ, विष, कृमि, रक्तविकार, कफ और पित्त का नाश करने वाला है।[27]

२१. बकुल- भ. नमिनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- बकुल, मधुगन्ध, सिंह केसरक हिन्दी- मौलसिरी

लैटिन- Mimusops elengi Linn

सघन और चिकने पत्तों से युक्त यह वृक्ष सर्वत्र बागों में लगा हुआ पाया जाता है। दक्षिण भारत तथा अंडमान में बहुतायत से होता है।

मौलसिरी का पुष्प कफ, पित्त, विष, कृमि, और दांत के रोगों का नाश करने वाला है। छाल का क्वाथ जीर्ण ज्वर में देते हैं। दांत हिलने और मुखपाक में भी छाल के क्वाथ के कुल्ले कराये जाते हैं। रक्त-युक्त जीर्ण ऑव में पके हुए फलों का उपयोग किया जाता है।[28]

२२. मेषश्रृंग- भ. नेमिनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- मेषश्रृंगी, विषाणी, मेषवल्ली, अजश्रृंगिका, मधुनाशिनी

हिन्दी- मेढासिंगी, गुड़मार

लैटिन- Gymnema sylvestre RBs

यह कोंकण, श्रावणकोर, गोवा तथा दक्षिण भारत में विशेष रूप से तथा बिहार एवं उत्तरप्रदेश में कहीं-कहीं मिलती है। इसकी पत्तियों को चबाने से 1-2 घण्टे के लिए जीभ की स्वाद ग्रहण शक्ति नष्ट हो जाती है, इसी से

इसे गुड़मार कहते हैं। मधुमेह के इलाज के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।[29]

२३. धव- भ. पार्श्वनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- धव, धट, नन्दितरु, स्थिर, धुरन्धर, गौर

हिन्दी- धौरा, धौ, धव, धों, धववृक्ष

लैटिन- Anogeissus lati folia wall

पूर्व बंगाल तथा आसाम को छोड़कर धव का वृक्ष प्रायः भारत के सभी प्रांतों में पाया जाता है। वृक्ष बड़ा या मध्यम ऊँचाई का होता है।

धव मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल एवं प्रमेह, अर्श, पाण्डु, पित्त तथा कफ का नाशक है।[30]

२४. देवदारु- (धव)- श्वे. परंपरा में देवदारु-भ. पार्श्वनाथ का कैवल्य वृक्ष

संस्कृत- देवदारु, दारु, दारुभड, इन्द्रदारु, मस्तदारु, किलिम, द्रुकिलिम, सुरभूरुह हिन्दी- देवदार

लैटिन- Cedrus deodaru (Roxl) Loud

पश्चिमोत्तर हिमालय में कुमायूँ से पूर्व की ओर यह पाया जाता है। जौनसार ओर गढ़वाल में भी बीच का भाग देवदारु वृक्ष माला का प्रधान उत्पत्ति स्थान है। इसका वृक्ष बहुत विशाल, चिरायु और सुन्दर होता है।

देवदार की सुगन्ध युक्त लकड़ी तेल से भरी होती है जिसे के लोन का तेल कहते हैं।[30]

देवदारु का तेल कृमि, कुष्ठ और वात को मिटाने वाला है। देवदार- आम, तन्द्रा, हिक्का, ज्वर, रक्तविकार, प्रमेह, कफ, खांसी, कण्डू और वायु का नाश करने वाला है।[31]

देवदार मानवों के साथ ही पशुओं के अनेक रोगों को दूर करने में प्रयुक्त होता है।[32]

संपादकीय नोट : लेखक की प्रकाशित कृति- 'जैन आगमों में वर्णित वृक्ष एवं पर्यावरणीय अनुचिंतन ' पठनीय एवं संदर्भित है। इसे 09425005624 पर संपर्क कर प्राप्त कर सकते हैं।

संदर्भ : 1. महाकवि आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण परिशीलन/आलेख- डॉ. सुषमा/ पृष्ठ 251

2. श्रुत स्कंध विधान/गणिनी प्रमुख आर्यिका ज्ञानमती/ पृ. 10
3. कल्याणकारकम्/ आचार्य उग्रादित्य/ पृ. 2
4. वही, पृ. 2 5. आदिपुराण, पृ.
6. द्रव्य गुण विज्ञानम् (द्वितीय खंड)वैद्य यादव जी त्रिविक्रम जी आचार्य, पृ. 336
7. जंगल के उपयोगी वृक्ष/ रामेश वेदी/ पृष्ठ 176-180
8. द्रव्यगुण विज्ञानम्/ पृ. 261-262
9. भारत का राष्ट्रीय वृख और राज्यों के राज्य वृक्ष/परशुराम शुक्ल, पृ. 224
10. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 104-105 11. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 347
12. वही, पृ. 228-250
13. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 189
14. भारत का राष्ट्रीय वृक्ष और राज्यों के राज्य वृक्ष, पृ. 285
15. जंगल के उपयोगी वृख, पृ. 188-189
16. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 161 17. भाव प्रकाश निपन्टु, पृ. 567-568
18. वही, पृ. 291-292 19. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 206
20. जंगल के उपयोगी वृख, पृ. 116-119
21. भारत का राष्ट्रीय वृक्ष और राज्यों के राज्यवृक्ष, पृ. 253
22. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 132 23. भाव प्रकाश निघन्टु, पृ. 532
24. वही, पृ. 505
25. भारत का राष्ट्रीय वृक्ष और राज्यों के राज्यवृक्ष, पृ. 277-278
26. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 180-181
27. वही, पृ. 71 28. वही, पृ. 252
29. भाव प्रकाश निघंन्टु, पृ. 222 30. वही, पृ. 539-540
31. वही, पृ. 196-197 32. द्रव्य गुण विज्ञानम्, पृ. 346
33. भारत का राष्ट्रीय वृक्ष और राज्यों के राज्य वृक्ष, पृ. 335

नोट :- तीर्थंकरों के कैवल्य-वृक्ष के चित्र कवर पृष्ठ 2 एवं 3 पर देखें।

- अनुराग ट्रैडर्स,
सतना-485001 (म. प्र.)

जोणिपाहुड : एक अनुशीलन

-डॉ. उदयचन्द्र जैन

हिदाहिदं च आउस्से, विण्णाणे वाहि-संतणं।
विज्जदे जत्थ जीवाणं, जीवणं देह-रक्खणं॥

जिस विज्ञान में व्याधियों के हित-अहित के उपाय हो तथा जीवों के लिए जीवन और शरीर रक्षण के भाव हो वह आयुर्विज्ञान है। जीव और देह के संयोग का नाम जीवन है। जितने समय तक यह संयोग बना रहता है, उसी का नाम आयु है। आयुर्विज्ञान में हितकारी या अहितकारी जितने भी द्रव्य, गुण और कर्म हैं, उनके आरोग्य का लाभ मनुष्य के लिए लाभदायी होता है।

देह-इंदिय-सत्ताणं, हिदाहिद-णिरामयो।
वाहि-विहिद-लोगाणं, आयुविण्णाण-संभवो॥

शरीर-इन्द्रियों वाले सत्त्वों के हित-अहित एवं निरामय बनाने वाला आयुर्विज्ञान है। यह व्याधि व्यथित लोगों के लिए आयु (जीवन जीने) की कला सिखलाता है।

आरोग्यं दिग्ध-आउस्सं, सुह-संसाहणं जणा।
लभंते आउ-संण्णाणं, जोग-मुद्दग-भावए॥

वास्तव में दीर्घ आयु, आरोग्य, सुख-संसाधन आदि के कारणों को लोग योग मुद्रा (मन, वचन और काय) की बोधता से प्राप्त करते हैं।

जोणि-शब्द- 'जोणि' का अर्थ योनि है, उत्पत्ति, उपाय, कारण हेतु आदि का नाम भी योनि हैं) 'जोणिपाहुड' में योनि को उत्पत्ति स्थान कहा है।

सुरयल-लद्ध-पसंसं, सुवण्ण-सहियं च रोगद्दुहरणं।
भव्य-उवयारद्ध काया चक्की-कोसं पाहुडयं॥

जिस ग्रन्थ में पूर्ण प्रशंसा हो, उत्तम वर्णों सहित रोगों का उपचार हो तथा जो भव्य जनों के उपकारार्थ एवं देह की कान्ति के लिए चारों ओर

से बनाए रखता है ऐसा 'जोणिपाहुड' ग्रन्थ है। इस प्रारंभिक प्रशंसा के पश्चात् दश गाथाओं में 'योनिप्राभृत' (जोणिपाहुड) को सर्व रोग हितकारी भी कहा है।

जोणिपाहुड और उसके रचनाकार- पाण्डुलिपि की प्रारंभिक संस्तुति में प्रश्वश्रवण महामुनि आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि के पश्चात् जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसी के आधार पर 'जोणिपाहुड' ग्रन्थ को महाविद्या वाला ग्रन्थ कहा है।

कलिकाल-सव्वण्हू, जे जोणाइं जोणिपाहुडं गंथं।
जत्थ रओ तत्थ कओ य देहग्गमह विज्जाइ॥

जो कलिकाल सर्वज्ञ है, उन्होंने जो 'जोण' (जीवन जीने की कला) है वही 'जोणिपाहुड' ग्रन्थ जैसा रचा गया, वैसा ही देह रूप महाविद्याओं को मैंने समझा, वैसा ही कहा। योनियों (जीव राशियाँ) जीव उत्पत्ति की योनियाँ चौरासी लाख कही गई है। वे त्रस-स्थावर आदि देह और चैतन्य युक्त हैं, उनकी आयु है, इसलिए आयु का विज्ञान भी है। उस आयु के मध्य रोग-शोकादि, आधि-ब्याधि आदि भी संभव है। उनके उपचार के लिए विविध अधिकारों का 'जोणिपाहुड' ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ के प्रारंभ में संवत् 1582 शाके 1449 स्पष्ट लिखा है। यह पंडित हरिश्रावक विरचित है। जिसे हरिषेण विरचित भी लिखा है। इस 'जोणिपाहुड' की दो प्रतियां हैं। प्रथम प्रति में 333 गाथाएं हैं और इसी के अंत में पं. हरिषेण नाम लिखा है।

इति पंडित श्री हरिषेण नमया योनिप्राभृत -

इसमें लि. द्राक्षा, पिंडीलि, सिधालक, कासलुक, कपित्थ, कुष्माण्डि, ढिस, त्रिकटुक, सिदी, चतुज्जातक, धान्यक आदि वनस्पतियों के सेवन को निरोगी बनाने वाला कहा गया है। मूलतः यह कौमाभृत्य, शालाक्य, शाल्यहत्थ, कायचिकित्सा, जांगुल, भूतविद्या, रसायन एवं बाजीकरण इन अष्टांग आयुर्विज्ञान से संबन्धित 'जोणिपाहुड' है।

इसमें अंशुघातरोग, वातरोग, अतिसार, अपस्मार, उदररोग, कर्णरोग, कासरोग, कुष्ठरोग, क्रिमिरोग, ज्वर, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, चित्तरोग, मूत्रचिकित्सा, बालरोग, मूर्च्छा, मस्तिष्क, हृदयरोग आदि का विवेचन और उसके उपचार आदि पर प्रकाश डाला गया है। जिन्हें अधिकार रूप में प्रतिपादित किया गया है। अतिसाराहियार, श्वासाहिकार, पित्ताधिकार, ज्वराधिकार, प्रमेहाधिकार

मूत्तचिकित्सा, अतिसार विचार, गहणीसेयाहियार (114), पाण्डुरोगाधिकार (117) आमरोगाधिकार (121), शूलाधिकार (125), विसूचिकाधिकार, गुम्माधिकार, पवणासाधिकार (137), तृष्णाधिकार, धरोधाधिकार, हरिस्साधिकार, हिक्काधिकार (161) कासाधिकार (167), कुष्ठाधिकार (176-199) शिररोगाधिकार, सवणहियार (106-214), श्वासरोगाधिकार (2315-224) भगंदराधिकार (23-229), नयनसेगाधिकार (230-236), घाणरोगाधिकार (237-240), मुखरोगाधिकार (241-243) दंतरोगाधिकार (244-249) गलरोगाधिकार (250-253), भूताधिकार (254-242), बालरोगाधिकार (273-283), गखाधिकार (284-325) एवं रसाधिकार (326-333) जैसे अधिकारों में रोग, रोगकारण, उपचार आदि को महत्व दिया गया है।

प्रथम गाथा में उन्माद, मणिवात, मूर्च्छावात एवं शीर्ष वेदना बहरेपन में 'कायफल' से शान्ति मिलती है।

जोणिपाहुड में प्रतिपादित रोगोपचार-

वातरोग- यह रोग कई स्थानों में होता है- जैसे कोष्ठगत, आमाशयगत, पक्वाशयगत, स्नायु, संधिगत, अस्थिगत, रक्तगत, शुक्रगन, गर्भागत, शिरोगत आदि वात (वायु) रोग है। इसके नाश हेतु कहा -

चउजायं चउचंदणमुरुमं सीठंट्ठि-गुहुमका सरीरं।
तयं ते जरिजड-गुडं, सव्वं चोच्चं किमिडजाइफलं॥८॥

चारों जात, चारो चंदन, उड़द, सोंठ, गुहुमक असती (अलसी) एवं जायफल को समभाग में पुराने गुड़ के साथ लेने से वातरोग (वायुविकार) शांत होता है।

यहाँ यह भी कथन किया है कि इन्हें समभाग द्रव्य से दुगुने तेल के साथ परिपालकर उसे लगाने से सभी वातरोग नष्ट हो जाता है।

इय समभाए दव्वे, गुरुरण्हाण खिवेह कच्छम्मि।
कच्छसम एक्कतिल्लं, वायाइ-सव्व-दोसहरं॥९॥

ज्वररोगोपचार- ज्वर (बुखार) वातिक, पैत्तिक, कफज, सन्निषातज, आदि कई प्रकार का होता है। ज्वर की पूर्व अवस्था में मूंग की दाल का पानी, पुराने शालि (समा) के चावल, षष्टिक चावल (षाठी चावल) या दलिए की खिचड़ी देने से ज्वर लाभ होता है।

'होइ जरो मंद-तिव्वो य। (14) यदि ज्वर मंद या तीव्र हो, आहार में अरुचि, आहार लेते हुए वमन, आंख भी न खुले ऐसे समय में कुलमास का पानी देना लाभदायक होता है। कुलमासा अद्धमं चं तह सायं। (15)

शिशु और उसके प्रति सावधानी- जन्मजात बालक से लेकर दुग्धपान की अवस्था तक शिशु रहता है। उस अवस्था पर 'कायफल या पिप्पली को माँ के दूध में घिसकर देना उचित होता है। उसे स्तनपान देना ही उचित रहता है, धाई आदि का दुग्ध ठीक नहीं होता है। माँ का दूध औषध ही है।

धणं बालाण दिज्जइ, तं ण धाइएइसु तस्सेव।
भेसह गुणं च जायइ, इयरे कुब्वंतु सयमेव॥ (२९)

जोणिपाहुड में अनेक औषधियों के कारणोपचार पूर्वक आरोग्य लाभ की कामना की है।

धम्मत्थ-काम-मोक्खं, जम्हा मणुयाण होइ आरोग्यं।
तम्हा तस्स उवायं, साहिज्जंतं णिसामेहि ॥४३॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जहां मनुष्यों के लिए कहे गए वहाँ उसके आरोग्य के उपाय भी दर्शाए जाते हैं। यह देह जयसुन्दरी माला रोगोपचार के लिए लिखी जा रही है।

अट्ठसयं वाहीणं, अववायाणं च पंचय-सयाणि।
अणुदियहं मणुयाणं, वसंति आसण्ण-मच्चू ॥४५॥

इस लोक में मनुष्यों के लिए आठ सौ व्याधियाँ सदैव रहती हैं और इसलिए वे मृत्यु के निकट रहते हैं। फिर भी **'जीवंति कीस मणुआ' (४६)** मनुष्य कैसे जीवित रहते हैं या उनका जीवन कैसे बना रहता या बना रहेगा। एक-एक रोग की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं उसमें वात, पित्त और कफ है।

सिरहंग-पिट्ठिभंगं, फुडणं कडि-जाणु-जंध-संधीसु।
खरफासं च सरीरं, सूलं कण्णच्छि-वच्छेसु॥ ५३॥

प्राय: शरीर में उत्पन्न हाने वाले रोगों के विविध प्रकार हैं उन रोगों के विषय में 53 से 60 कुल 7 गाथाएं दी हैं। जिनमें शिरोवेदना, पृष्टि-भंग, कटि, जानु (घुटने) जंघा आदि की संधियों में उत्पन्न पीड़ा, कर्ण, अक्षि एवं वच्छ (हृदय) रोग आदि भी हैं। कंडु, कुष्ट रोग के लिए

त्रिफला-दारू-हल्दी (94) कुष्ठाधिकार से संबन्धित 176-199 कुल 23 गाथाएं हैं।

जोणिपाहुड और उसका वैशिष्ठय-

1. प्राकृत भाषा का यह ग्रन्थ है। इसमें महाराष्ट्री प्राकृत है, कहीं कहीं पर संस्कृत श्लोक दिए गए हैं।
2. इस जोणिपाहुड में रोग और रोगों के उपचार प्रायः वनस्पतियों से प्राप्त फल-पुष्प, छाल आदि तक दिए गए।
3. जड़-मूल, गुल्म, ता, बेल, पत्र आदि के भी उपचार दिए गए।
4. तिल के तेल, धृत, लवण, चंदनरस आदि से रोगोपचार का उल्लेख है।
5. विरेचन, वमन,उपवास आदि को भी महत्व दिया गया।
6. देह की कान्ति बनाएं रखने के लिए उपटन, लेप एवं विशेष खाद्य पदार्थों को महत्व दिया गया।
7. भोजन में आहारशुद्धि, जलशुद्धि, स्थानशुद्धि आदि को भी महत्व दिया।
8. रोगोपचार के साथ योगिक क्रियाओं पर भी बल दिया गया।

प्रथम प्रति में 333 गाथाएं हैं और द्वितीय प्रति इससे भिन्न नहीं, परन्तु इसमें 617 गाथाएं दी गई हैं जो अपूर्ण हैं। इसमें प्राकृत गाथाओं के साथ संस्कृत श्लोक भी हैं। कहीं कहीं पर मंत्र, तंत्र आदि भी दिए गए हैं। इसे पढ़ा भी नहीं, इसके लिपिकार का नाम भी नहीं ।

- २९, पार्श्वनाथ कालोनी
सवीना, उदयपुर (राज.) ३१३००२

आयुर्वेद और जैनाचार

वैद्यराज पं. धर्मचन्द्र जैन
(जैनदर्शनशास्त्री,आयुर्वेदाचार्य)

आयुर्वेद भारतीय आगम का एक मुख्य अंग है। जिसका मूल स्रोत जैनागम के अनुसार चौदह पूर्वों में से 'प्राणिवाद' नामक पूर्व है। जो त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ की वाणी है। इसी पक्ष को अन्य भारतीय आगमों में आयुर्वेद को अथर्ववेद के उपागरूप में स्वीकार किया है। वहाँ पर वेदों को अपौरुषेय माना गया है। इन दोनों मान्यताओं का उद्देश्य समान है। वह है इसकी प्रामाणिकता। आप्त वाक्यों को सभी जगह संदेहातीत माना है। आप्तोपदेश का अंश ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन शास्त्र है। भले ही इसके उद्गम का इतिहास 4-5 हजार वर्ष से अधिक पुराने उपलब्ध साहित्य के आधार पर न मिलता हो, किन्तु इस ऐतिहासिक धारणा का खण्डन आयुर्वेद शब्द की निरूक्ति एवं अर्थ से ही हो जाता है। तथाहि-

आयुषी वेदः आयुर्वेद :- अर्थात् आयु-जीवन या जिन्दगी का जो वेद या शास्त्र है उसे आयुर्वेद कहते हैं। भारतीय शब्द शास्त्रज्ञों ने अनेक निरूक्त्यर्थों द्वारा इसी तथ्य को प्रमाणित किया है। आयु और अनेकार्थक विद्लृ धातु से आयुर्वेद शब्द बना है। आयुर्वेद शास्त्र की प्राचीनतम आर्य संहिता सुश्रुत में आयुर्वेद शब्द की कितनी व्यापक विशद निरूक्ति की है सो मननीय है। तथाहि-

(1) आयुरस्मिन् विद्यते, अनेनवा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।
(2) आयुः शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः। अथवा (3) आयुर्विद्यते ज्ञायते अनेनेत्यायुर्वेदः। (4) आयुर्विद्यते, विचार्यते अनेन वेत्यायुर्वेदः (5) आयुरनेन विन्दति प्राप्तोतीत्यायुर्वेदः।

अर्थात् इसमें आयु रहती है अथवा इसके द्वारा आयु जानी जाती है अथवा इसके द्वारा आयु के विषय में विचार ऊहापोह किया जाता है अथवा इसके द्वारा आयुष को प्राप्त किया जाता है। इसलिये इसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु का अर्थ होता है शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा इनका

संयोग। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, आत्मा और मन का जब तक सम्बन्ध रहता है उसे आयु कहते हैं। इस आयु का सर्वतोन्मुखी विवेचन जिस शास्त्र में है वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद की दूसरी और प्राचीनतम संहिता चरक में भी आयु शब्द का और भी व्यापक विवेचन किया है। तथाहि-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ च.सू. अ. १

जीव का हित, अहित, सुख और दुख इसका नाम आयु है। इस आयु के लिये पथ्य (हितकर) अपथ्य (अहितकर) और आयु के परिमाण (स्थिति काल) का विवेचन जिस शास्त्र में है उसे आयुर्वेद कहते हैं। अन्यच्च-

शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोगो धारिजीवितम्।
नित्यगश्चान बन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ च.सू.अ. १

शरीर इन्द्रियाँ मन और आत्मा इनके संयोग का नाम आयु है। नित्यग, अनुबंध, ये आयु के पर्यायवाची शब्द हैं। इसका सीधा अर्थ हुआ कि जब से शरीरादि का सम्बन्ध है और जब तक रहेगा तब तक के अपरिमेय काल का नाम आयु है। इस असीम आयु के हिताहित का विशद विश्लेषण करने वाला शास्त्र ही आयुर्वेद है।

वर्तमान आयुर्वेद का आधार चरक संहिता के तात्त्विक विश्लेषण से वैशेषिक दर्शन, और सुश्रुत संहिता की विवेचन शैली व दार्शनिक सिद्धांतों के अनुरूप सांख्य दर्शन है। ये दोनों दर्शन, आत्मा या जीव की अनादिता व नित्यत्व को स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन ने जीव का यह स्वरूप सापेक्ष दृष्टिकोण से मान्य किया है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण से जीव अनादि व अनन्त है। इसलिये उसका प्रतिपादक साहित्य व उसका मौलिक अस्तित्व भी अनादि है। इसके समर्थ प्रमाणों, उद्धरणों से आयुर्वेदागम भरा पड़ा है। आयुर्वेद की उक्त परिभाषा के अंतर्गत अनादि-अनिधन जीव के जन्म से लेकर तद्भव मरण पर्यन्त ही नहीं, अपितु असंख्य भव भवान्तरों तक उसके हिताहित के विवेचन के उत्तरदायित्व का भार और अंततोगत्वा मुक्ति तक पहुँचा देने का उत्तरदायित्व भी आयुर्वेद का है। इसलिये अन्य शास्त्रों की तुलना में इसका महत्त्व कम नहीं है।

जैनागम में आयुर्वेदिक साहित्य इस समय यद्यपि प्रचुर रूप में उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु प्राचीन काल में अन्य साहित्य की भांति इस विषय पर भी जैनाचार्यों ने पर्याप्त लिखा है। श्री उग्रादित्याचार्य (लगभग 11वीं शताब्दी) कृत और श्रीमान् पं. वर्द्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री द्वारा संपादित 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ ही एक मात्र जैनायुर्वेद का प्रतीक है, किन्तु इसके अलावा भी विशाल साहित्य जैनायुर्वेद का रहा है यह निर्विवाद है। पूज्यपाद आचार्य के अनेक योग तो अपने मूल रूप में अजैनाचार्यों द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक ग्रंथों में मिलते हैं। ऐसे योगों के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का नाम अंकित रहता है। श्वेताम्बर जैनाचार्यों द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक साहित्य का पर्याप्त उल्लेख भी मिलता है। जैनाचार का प्राण अहिंसा सिद्धान्त का इसमें पूर्णतया संरक्षण किया है।

आयुर्वेद का उद्देश्य व्याधिग्रस्त लोगों की व्याधि दूर करना और स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना है तथाहि- **''इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनम् व्याध्युपस्टष्टाना व्याधि परिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं चं (सुश्रुत)''** अर्थात् रोगग्रस्त को रोग से मुक्त करना और स्वस्थ जीव की रक्षा करना आयुर्वेद का उद्देश्य है। यहाँ पर व्याधि शब्द दूषित हुए वातादि दोष जन्य ज्वरादि शारीरिक रोगों, और संसार परम्परा के जनक रागद्वेष क्रोधादि मानसिक विकारों का बोधक है। इन दोनों प्रकार के रोगों को दूर करना न केवल भौतिक खान-पान और प्रवृत्ति निवृत्ति पर निर्भर है, अपितु वैचारिक शुभ शुद्ध समीचीन प्रवृत्ति की भी अपेक्षा रखता है। इस दिशा में जैनाचार का महत्व अनिवार्य है। आचार शब्द का व्यापक अर्थ इस क्षेत्र में आचार्यों ने स्वीकार किया है। **''आ समन्तात् चरणमाचारः''** अर्थात् व्यक्ति का जो अन्तरंग और बहिरंग समीचीन क्रिया कलाप होता है उसे आचार कहा है। व्रत, नियम, उपवास सामायिक, संध्यावंदन आदि सभी धार्मिक नियमों व क्रियाओं का समावेश इसमें हो जाता है। यह सबका सब आचार-विचार आयुर्वेद के सदवृत्त (सदाचार) में भी है। यही शुभ प्रवृत्ति उत्कर्ष करती हुई जब अभ्यासवश निवृत्ति का रूप धारण कर लेती है और इसके मूल नायक जीव की अपने गन्तव्य चरम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करा देती है तभी यह आचार अपने सही रूप में चरितार्थ होता है। आयुर्वेद भी इसी लक्ष्य (लौकिक एवं पारलौकिक

अभ्युदय) की प्राप्ति में फलितार्थ होता है। अपने कथन के प्रमाण में आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध अन्यतम आचार्य, वाग्भट संहिता के लेखक वाग्भट का निम्न श्लोक ही पर्याप्त होगा।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियाः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(वाग्भट सू.)

जिस व्यक्ति के वात-पित्त-कफ दोष समान है, रस रक्तादि धातुओं का निर्माण व मल मूत्र का विसर्जन स्वाभाविक रूप में होता है, तथा मन इन्द्रियाँ और आत्मा प्रसन्न है वह स्वस्थ है। यहाँ संसारावस्था में मन और आत्मा की प्रसन्नता न केवल इच्छानुप आहार पर निर्भर है, अपितु आकुलता के उत्पादक रागद्वेषादि दोषों की कमी व अभाव की अपेक्षा रखती है। फिर आत्मा की आत्यन्तिक प्रसन्नता तो रागद्वेषादि दोषों से नितान्त छुटकारा मिलने पर ही होती है। इसी परम शुद्ध अवस्था का नाम पूर्ण स्वास्थ्य और उसके नायक जीव का नाम स्वस्थ है। **''स्वे आत्मानि तिष्ठतीति स्वस्थः।''** स्पष्ट है कि जैनाचार्य का आयुर्वेद से अंगांगिभाव सम्बन्ध है। अपने मन्तव्य के समर्थन में जैनेत्तर आयुर्वेद के कुछ उद्धरणों का उल्लेख जो उपयोगी हैं, दिये जा रहे हैं।

तद्दुःख संयोगो व्याधय उच्यन्ते। ते चतुर्विधा-आगन्तवः, शरीराः मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति। तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ता। शारीरा स्त्वन्तपान मूला वातपित्तकफशोणितसन्निपात वैषम्यनिमित्ता। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतयः इच्छाद्वेष भेदैर्भवन्ति। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्रा प्रभृतयः।।

दुखों के संयोग का नाम व्याधि है वे चार प्रकार की होती हैं- (1) आगंतुक (अभिघात चोट, अभिषंग अभिचार से पैदा होने वाली) (2) शारीरिक-ज्वर रक्तपित्त आदि (3) मानसिक क्रोध, लोभ, हर्ष ईर्ष्या आदि। (4) स्वाभाविक-भूख, प्यास, बुढ़ापा, नींद, मृत्यु आदि इन्हें दूर करना आयुर्वेद का लक्ष्य है। यही उद्देश्य जैनाचार्य का भी है। अतः यह स्पष्ट है कि जैनाचार बिना आयुर्वेद अधूरा है। जहाँ तक आहार व औषध के रूप में मद्य, और मधु, के सेवन का प्रतिपादन और तन्निमित्त मात्र हिंसा के समर्थन का प्रश्न है, वह आयुर्वेद के प्रणेता आचार्यों के निजी

दर्शन व संप्रदाय का है । दार्शनिक क्षेत्र के विवाद की तरह आयुर्वेदिक क्षेत्र में इतना मतवैषम्य आश्चर्यजनक और अस्वाभाविक नहीं। आयुर्वेद और जैनाचार की प्रवृत्ति व उद्देश्य समान है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। जैनायुर्वेदिक ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में भी स्वास्थ्य का विश्लेषण इसी प्रकार किया है। तथाहि-

अथेह भव्यस्य नरस्य साम्प्रतं, द्विधैव तत्स्वास्थ्य मुदाहृत जिनैः।
प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतो, द्वितीय मन्यद् व्यवहार सम्भवम्॥

अर्थात् परमार्थ स्वास्थ्य (आध्यात्मिक स्वास्थ्य) और व्यवहार स्वास्थ्य (शारीरिक स्वास्थ्य) के भेद से स्वास्थ्य के दो प्रकार का जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इन दोनों प्रकार के स्वास्थ्यों की सिद्धि सम्यगाचार विचार व व्यवहार से ही हो सकती है।

उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं के स्वस्थ वृत्त या स्वास्थ्य के नियमों का परिशीलन या पठन करते समय इसमें व धर्म के अंगभूत आचारशास्त्र के नियमोपनियमों में भेद कर सकना मुश्किल है। जैन गृहस्थाचार, जिसका मूल सप्तव्यसन का त्याग और श्रावक के 12 व्रत (पंचाणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और 3 गुणव्रत) हैं, इनका इसी नाम से उल्लेख यद्यपि स्वास्थ्य संरक्षरक या स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेदिक आचार में नहीं है, किन्तु वे वही है, केवल नाम मात्र का अन्तर है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। जैनाचार में जिस प्रकार ऐहिलौकिक सुख सामग्री व अभ्युदय प्राप्त करने का, उनके भोग करने का सीमित विधान है और आध्यात्मिक आत्यन्तिक सुख (मोक्ष) को मुनष्य जीवन का चरम लक्ष्य माना है बिल्कुल यही स्थिति आयुर्वेदाचार में भी है। उदाहरण के तौर पर सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वाग्भट' का एक उद्धरण प्रस्तुत है।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वा प्रवृत्तयः।
सुखं च न बिना धर्मात्तस्माद्धर्म वरीभवेत्॥
हिंसास्तेयान्यथा काम मैथुन्य परूषानृते।
संभिन्नालाप व्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम्॥
पापं कर्मेतिदशधा कायवाङ्. मानसैस्त्यजेत्।
अवृत्ति व्याधिशोकार्तमनुवर्तेत शक्तितः॥
आत्मवत्सतत पश्येदपि कीटपिपीलिकाम्।

संप्रद्धिपत्स्वेकमना हेतावोर्ष्येत्फलेन तु॥
कालेहितं मितं ब्रूयादविसम्वादिमपेशलम्।
अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्॥
आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसा दमः।
स्वार्थबुद्धि परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्वृतम्॥
नक्त दिनानि मे यान्ति कथं भूतस्य सम्प्रति।
दुःखभाग् न भवत्येव नित्यं सन्निहित स्मृतिः॥
इत्याचारः समासेन यं प्राप्तोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्य यशोलोकाश्च शाश्वतान्॥

(वाग्भट सूत्रस्थान)

प्राचीनतम चरक संहिता का यही प्रकरण पढ़ते समय यही कल्पना होती है कि यह सद्वृत्त किसी जैनाचार ग्रंथ का है। गृहस्थ के 12 व्रतों का मूलरूप एवं उनके अतिचार का प्रायः समस्त वर्णन इसमें हैं। इसके अलावा और जैनाचार क्या है ? रही मोक्ष की बात सो आयुर्वेद शास्त्र में भी अन्ततोगत्वा लक्ष्य यही रखा गया है, क्योंकि इसकी नींव वैशेषिक व सांख्य दर्शन पर है जो परम आस्तिक व आत्मा की नित्यता के पोषक है। आत्मा की चरम शुद्ध अवस्था भी वे स्वीकार करते हैं। देखिये चरक के सद्वृत्त का कुछ अंश जो मूलतः जैनाचार से मेल खाता है–

नानृतं ब्रूयात। नान्यस्वमाददीत। नान्यस्त्रियमभिलषेत्। नान्यश्रियम्। न कुर्यात्पापम्। नान्यरदोषान्ब्रू याद्। नान्यरहस्यआगमयेत्। न भूमिं त्विलिखेत। न छिन्दयात्तृणम्। न लोष्टं मृन्दीयात्। न नियमं भिन्द्यात्। न मद्यधूतवेश्याप्रसंगरूचीः स्यात्। नैकः सुखी। नेन्द्रिय वशगः स्यात्। ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्री कारुण्यहर्षोपेक्षा प्रशमपरश्च स्यात्।(चरकसूत्र अ.–8)

ऊपर के उद्धरण से इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह सारा वर्णन जैनाचार का ही अंग है। अहिंसादिक पांच अणुव्रतों का सैद्धांतिक विश्लेषण, अनर्थदण्डव्रत व उसके भेदों का अविकल स्वरूप, और औषधादिक चारों दानों की उपयोगिता आदि जैनाचार के ही अभिन्न अंग हैं। उपादेयता, नैकः सुखी स्यात् के रूप में जैनदर्शन के अन्यतम स्तंभ 'अपरिग्रहवाद' को गागर में सागर के रूप में भर दिया है। नेन्द्रिय वशगः

स्यात् कहकर समग्र इन्द्रिय संयम, 'आत्मवत्मसततं पश्येदपि कीट पिपीलिकाम्' का निर्देशकर समूचा प्राणि संयम बता दिया है। 'हिंसास्तेयान्यथाकामं मैथुन्ये परुषानृते, सम्भिन्नालाप व्यापादमभिध्यद्दग्विपर्ययम्।' 'पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्.मानसैत्येजेत्'। इनमें जैनाचार के सभी पाप कर्मों का त्याग और इनके विपरीत उत्तम क्षमादिक दश धर्मों के मन, वचन, काय से पालन करने का स्पष्ट निर्देश है। 'सर्वधर्मेषु, मध्यमांगतिं अनुयायात्,' यह संकेत जैनदर्शन की रीढ अनेकांतवाद एवं स्यादवाद को स्वीकार करने का आदेश देता है। सारांश यह है आयुर्वेद न केवल चिकित्सा प्रणाली या पैथी मात्र है अपितु जीवन विज्ञान है। जीव के हितावह तथ्यों को स्वीकार और अहितकर दुष्कृत्यों का त्याग किये बिना वह ठहर नहीं सकता। आयुर्वेद में ऐसी बातों को सद्वृत्त-स्वस्थ वृत्त कहा है जबकि किसी धार्मिक क्षेत्र में इसे आचार संज्ञा दी गई है।

जैनसिद्धान्त की भांति आयुर्वेद का भी अंतिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। यह प्रारंभ में ही कहा जा चुका है। इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप चरकसंहिता का निम्न पद्य देखिये और उसकी तुलना, जैनाचार्यवादीभसिंह की आत्म कल्याण की भावना से करिये। कितना साम्य दोनों में है।

नक्तं दिनानि मे याति कथं भूतस्य सम्भ्रति।
दुःखभाग् न भवत्येवं नित्यं सन्निहित स्मृतिः॥
इत्याचारः समासेन यंप्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्य यशोलाभाश्च शाश्वतान्॥ (चरक सूत्र)
को हं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थानेहि मतिर्भवेत्॥ (क्षत्रचूड़ामणि)

आयुर्वेद कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने दिन रात के कर्मों का लेखा प्रतिदिन करना चाहिये। ऐसा करने से वह पाप कर्मों से बचकर पुण्य कर्मों एवं आत्म कल्याण के मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। 'जैनाचार्य वादीभसिंह' भी यही कहते हैं। 'मैं कौन हूँ, मेरे गुण क्या हैं? कहाँ रहा हूँ? क्या मेरा लक्ष्य है? मेरी यह अवस्था और लक्ष्य किम्निमित्तक है? इस प्रकार विचार विमर्श यदि जीव प्रतिदिन नहीं करता है तो वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त होता है।'' महानुभाव ! बताइये क्या अन्तर

है दोनों के तत्त्व विश्लेषण में कुछ नहीं।

जैन धर्मानुयायी प्रत्येक विवेकशील पुरुष प्रतिदिन भगवान से प्रार्थना करता है, कामना करता है कि भगवान मेरी प्रवृत्तियाँ भावना कैसी रहे। मेरी भावना के रूप में विस्तार से और निम्नश्लोक के रूप में अति संक्षेप में हर एक जैनी इसे जानता है। आयुर्वेद और उसके पंडित लोग (वैद्य) इसी भावना के पोषक होते हैं। यह केवल शब्द भेद रखने वाले दोनों पक्षों, के नीचे लिखे दो पद्यों से सम्पुष्ट हो जाता है।

एक और उदाहरण से यह बात और पुष्ट हो जाती है-

सत्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषुजीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावे विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातुदेव॥
मैत्री कारूण्यमार्तेषु शक्ये प्रतिरूपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यबुद्धिश्चश्युर्विधा॥ (चरक)

सब प्राणियों से मैत्री भाव, गुणीजनों में आदरभाव और प्रमोद, दु:खीजनों के प्रति दयाभाव और अपने विरोधियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। आयुर्वेद भी यही कहता है। सर्व पुरुषों के प्रति मित्रता, रोग ग्रस्त जीवों के प्रति करुणाभाव (दु:ख दूर करने की भावना) साध्य रोग या रोगी के प्रति उत्साह अथवा रुचि और असाध्य रोगियों के प्रति उपेक्षाभाव वैद्य के होना चाहिये।

संक्षेप में संसार के समग्र दु:ख-सुख के मूल कारण की और आयुर्वेद सम्बन्धी महर्षि चरक की मान्यता के द्योतक तथा प्रसिद्ध आचार्य वाग्भट के सार्वदेशिक स्वास्थ्य के प्ररूपक उद्धरणों को लिखकर मैं अपना अभिप्राय: समाप्त करता हूँ।

समग्रं दु:खमायतमविज्ञाने द्वयात्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥(चरक)

संसार के सभी प्रकार के मानसिक व शारीरिक रोगों का मूल स्रोत अज्ञान है। जबकि सभी प्रकार के सुखों का उद्गम मनुष्य का निर्मल ज्ञान या विवेक है। इन दु:खों को दूर करने और सुखों को प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को विवेकशील होकर सदाचारी बनना अनिवार्य है। समूचे जैनाचार का उपसंहार आचार्य वाग्भट कितने सुन्दर शब्दों में करते हैं।

आर्द्र सन्तानता (सर्वसत्वेषुकृपालुत्वम्)
त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धि परर्थेषु पर्याप्तमिति सद्वृतम्॥

संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करूणा भाव (अनुकम्पा) अनावश्यक परिग्रह का त्याग, मन वचन काय पर सुशासन। दूसरे के प्रति आत्मसद्भावना, इतना ही सदाचार का स्वरूप है। इस प्रकार आयुर्वेद व जैनाचार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण आंशिक मत वैचित्र्य होते हुए भी उनके समोद्देश्य व भावना मूलक पवित्र सम्बन्ध से इन्कार नहीं किया जा सकता है। वे परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

******

पाँच प्रकार की वायु होती है -

१. प्राण वायु- 'मुखे वसति योऽनिलः प्रथित नामतः प्राणकः'

मुख में जो वायु वास करता है, उसे प्राण वायु कहते हैं। जो अन्न, पान आदि को पेट में पहुँचाता है। यदि यह कुपित हो जाये तो दमा, खाँसी, हिचकी इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

२. उदान वायु- 'शिरोगत इहाप्युदान इति विश्रुतः सर्वदा'

मस्तक में रहने वाली वायु उदान नाम से प्रसिद्ध है। यदि यह कुपित हो जाये तो कंठ, मुख, कर्ण, मस्तक आदि में रोगों को पैदा करता है।

३. समान वायु- जो वायु उदर (अमाशय व पक्वाशय) में रहता है यह अग्नि के प्रदीप्त होने में सहायक होने से भोजन को पचाता है।

४. अपान वायु- ''अपान इति योऽनिलो वसति वस्तिपक्वाशये''

अपान वायु पक्वाशय में रहता है। वह योग्य समय में मल-मूत्र, रजो-वीर्य आदि को बाहर निकालता है। इसके कुपित होने पर गुद व मूत्राशयगत रोग, मलावरोध,मूत्रावरोध,मूत्रकृच्छ्र आदि रोग उत्पन्न करता है।

५. व्यान वायु- जो शरीर के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है उसे व्यान वायु कहते हैं। रक्त संचालन, पित्त-कफ आदि को यथास्थान पहुँचाना। कुपित होने पर हमेशा सर्वांगवात, सर्वांगकंप एवं विकृत वेदना युक्त रोगों को पैदा करता है।

वनस्पति विज्ञान और आयुर्वेद

- **वैद्य फूलचन्द शास्त्री** (आयुर्वेदाचार्य)
जयपुर

जब से संसार में मानव शरीर की उत्पत्ति हुई है- तब से उसके साथ ही रोग उत्पत्ति हुई। अतएव रोगी की उत्पत्ति का इतिहास भी मनुष्य के शरीर के साथ ही प्रारंभ होता है, और जब से रोगी की उत्पत्ति हुई तभी से मनुष्य उसको दूर करने के उपायों की खोज करने लगा और तभी से उसके ये उपाय चिकित्सा शास्त्र के रूप में प्रकट होने लगे। अतएव यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं कि चिकित्सा शास्त्र का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव जाति का इतिहास।

ज्यों-ज्यों औषधि विज्ञान का विस्तार होता गया त्यों-त्यों वनस्पति विज्ञान की महत्ता अधिकाधिक लोगों के ध्यान में आने लगी और क्रमशः इस विज्ञान ने एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया जिसका नाम आयुर्वेद हुआ। वनस्पति विज्ञान के अंतर्गत सुश्रुतसंहिता में 700 वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है।

जितनी भी सृष्टि आप देखेंगे सर्वत्र चर सृष्टि में सदैव प्रत्येक प्राणी एक न एक घातक के भय से अपना रक्षा विधान सोचा करता है, हमारी वनस्पतियाँ भी उससे बच न सकीं। जिधर देखेंगे उसका सर्वनाश हो रहा है, पशुओं, मनुष्यों तथा हर प्रकार के पक्षियों की ये खाद्य वस्तुयें हो रहीं हैं। पशु वनस्पति पर ही अपना निर्वाह कर रहे हैं, मांसाहारी पशु भी शाकाहारी पशुओं के ही मांस पर जीवित हैं और मनुष्य तो हर प्रकार से इनका उपयोग करते हैं। अतः वनस्पतियों को इससे बचने के लिए प्रकृति ने विशेष प्रकार की शक्ति प्रदान की है। जो भिन्न 2 रूप में होती है जैसे- कई प्रकार के कण्टक, विषाक्त रोग, कड़वापन, चरपरापन वा अन्य प्रकार के गन्धादि। वृहती आदि के पत्रों में कांटे, वर्चादि में गन्ध, शाखी वृक्षों में वल्कल, विशेष औषधियों में विष, वृश्चिकादि, रोम व

कंटकारी आदि इसी बात के प्रदर्शक हैं कि इनकी रक्षा हो सके।

वनस्पतियों में गुण निर्माण- प्रत्येक प्राणी जानता है कि पौधे पृथ्वी से व सूर्य से तथा वायु से अपना जीव निर्वाह करते हैं। पृथ्वी से वे जितना पदार्थ ग्रहण करते हैं उससे कहीं अधिक वे वायु से पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं। वायु के संयोजक पदार्थों में से एक प्रकार का वायव्य (कार्बन द्विपोषित) अधिक परिमाण में इन वनस्पतियों द्वारा संग्रहीत है। अत: सर्व प्रधान शक्ति वायु जनित होती है, सूर्य से भी बहुत कुछ संग्रह करती है- वनस्पतियों के पत्र श्वास-प्रश्वास का कार्य करते हैं- जैसे हम शरीर के भीतर की दूषित वायु को प्रश्वास द्वारा त्याग करके श्वास द्वारा शुद्ध वायु को ग्रहण करते हैं- वैसे ही वनस्पतियों में यह कार्य सूर्य की रश्मियों द्वारा उनके पत्रों पर स्वयमेव सम्पादित हो जाता है। इस प्रकार सूर्य रश्मियों के ग्रहण से उनमें एक प्रकार की आग्नेय शक्ति (ताप) का संचय होता है। पृथ्वी से वे जल तथा अन्य पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं। सूर्य की तरह अन्य कई ग्रह-उपग्रहों से उन्हें अन्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे चन्द्रमा से सोम या शीत प्रधान अंशादि। इस प्रकार वनस्पतियों में कई प्रकार के पदार्थों व शक्ति का संचय होता है।

वनस्पति व त्रिदोष- उपर्युक्त क्रमों से यह विदित होता है कि वायु-सोम (द्रव्य) द्वारा वनस्पतियों का जीवन है, जिनपदार्थों से जिसका निर्माण होगा- उसमें वही पदार्थ अधिक पाये जायेंगे, इनको ही प्राचीन चिकित्सकों ने ध्यान में रखकर वात-पित्त-कफ की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया था और शरीर में वात-पित्त-कफ से उत्पन्न व्याधियों में इन औषधियों के इन प्रधान गुणों को लक्ष्य करके उपयोग किया है। प्राणी वर्ग के चाहे छोटे से छोटा जीव हो या बड़े से बड़ा सभी को जीवन के मुख्य लक्षणों में गुजरते रहने से जीवन क्रियाओं में बहुत कुछ साम्य है और विशेषकर वनस्पति व मनुष्यों में तो हर प्रकार से सादृश्य देखा जाता है। अत: त्रिदोष की साम्य प्रकृति का 'सोम' 'सूर्य' के द्वारा पालित-पोषित होने पर हर प्रकार से होता है।

आयुर्वेद में वनस्पतियों को उनके गुणावगुण द्योतनार्थ पांच विभागों में विभक्त किया गया है- रस-गुण-वीर्य-विपाक व शक्ति, जिनके कई

विषयों के अन्वेषण मार्ग को आज का वैज्ञानिक अवहेलना की दृष्टि से देखता है और उसके अचिन्त्य महत्व में संदेह करता है जैसे- शक्ति का वीर्य अचिन्त्य क्रिया। इस अचिन्त्य क्रिया का ज्ञान यांत्रिक विज्ञान बतलाने में असमर्थ है। जैसे गुलवनप्सा के विषय में उसका प्रतिश्याय हरत्व प्राप्त नहीं होता ऐसा लेबोरेट्रियाँ प्रतिध्वनित करती हैं, किन्तु प्रतिदिन 'गुलवनप्सा' पीकर हजारों व्यक्ति प्रतिश्याय से मुक्त होते हैं। चन्द्रोदय के ऊपर पाचक रसों की प्रत्यक्ष क्रियायें प्रसिद्ध हैं, किन्तु वैद्य वर्ग दिन-रात चन्द्रोदय देकर मृतक में भी जान डालते हैं।

भारतवर्ष की बहुत सी औषधियां जिनको हम घास-फूस समझकर व्यर्थ ही फेंक देते हैं, वही जब विदेशों में जाकर टिचर-अर्क व एक्सट्रेक्स का रूप धारण करके सुन्दर लेविल से युक्त होकर आती हैं तो हम उनके लिये विपुल धनराशि खर्च करके खरीदते हैं जैसे- अजवाइन, अनन्तमूल, धतूरा, मीठातेलिा आदि।

प्राच्य-पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का समन्वय- इतना ही नहीं हमारे देश में कई ऐसी औषधियां हैं जो विलायती औषधियों से गुणों में अच्छा और निरुपद्रव काम करती हैं। जैसे हृदय गति ठीक करने के लिए 'डिजिटेलिस' नाम की दवा काम करती है तो कुटकीक्वाथ से वही लाभ सफलता पूर्वक प्राप्त करते हैं। 'पोटाशब्रोमाइड्' नामक औषधि के मुकाबले हमारे देश की 'हरमल' नामक औषधि अच्छा कार्य करती है, 'केलम्बा' के मुकाबले गिलोय, गोवाकम, चम्पा, कालादाना, 'थायमल' के स्थान पर अजवाइन इस प्रकार अनेकों औषधियाँ हैं।

कई औषधियाँ ऐसी हैं जिनकी बराबरी एलौपैथिक औषधियां नहीं कर सकती हैं। जैसे कामला रोग पर 'पोडोफोलिन' या 'टेरेक्सी' की मात्रायें पीने से नहीं होता जबकि 'बन्दाल' के केवल सूंघने मात्र से कामला-पाण्डु रोग ठीक होता है। ''ज्वरं हन्ति शिरोवद्ध सहदेवी जटा यथा' अर्थात्-शिर पर सहदेवी की जड़ बांधने मात्र से ज्वर ठीक होता है। 'एस्प्रीन' जिस शिर दर्द को ठीक नहीं कर सकती उसे ताजे 'अपामार्ग' के पत्रों का स्वरस कान में डालते ही शांत करते हैं। 'जंगलनी जड़ी बूटी' में कहा गया है कि शान्ति निकेतन के एक छात्र को बड़े जोर से नाक

से खून बहना चालू हुआ अनेकों डाक्टरों द्वारा चिकित्सा की गई, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। इतने में एक सेथाल उधर से गुजरा उसने 'वक्सी' की जड़ी लेकर पानी के साथ पीसकर पिला दी जिससे रोगी का खून बहना तत्काल बन्द हो गया। इसी प्रकार महिलाओं को रक्तप्रदर में भी इस औषधि का चमत्कारिक प्रयोग सफलता से होता है।

नर्मदा के किनारे पर बड़ौदा की सरहद पर 'गौला' नामक एक औषधि होती है इस विषय में कहा जाता है कि पानी में डूबा हुआ मनुष्य मृत्यु के मुंह में हो तो पुनर्जीवन देती है। डाक्टरों का मत है कि क्लोरोफार्म के समकक्ष अन्य कोई औषधि भारतवर्ष में पैदा नहीं होती है पर हिमालय-पर्वत के अन्दर नेपाल से भूटान के बीच में 'विखमा' नामक एक वनस्पति एक वनस्पति के पौधे पाये जाते हैं, जिनकी ऊँचाई 4 से 5 फुट होती है। इस औषधि की यह प्रवृत्ति है कि कोई भी व्यक्ति इसक पास से निकल जाता है तो वह मूर्छित हो जाता है (अर्थात् इस औषधि को सूंघने से मूर्छित हो जाता है)। इस वनस्पति की तरह दर्पनाशक एक वनस्पति 'निर्विषा' है जो कि 'विखमा' के पास ही पैदा होती है, इसको सूंघने मात्र से बेहोश मनुष्य तत्काल होश में आ जाता है। आचार्य चरक ने कई दिव्य औषधियों के विषय में बताया है-जैसे 'ब्रह्मसुर्वचला' नाम की औषधि होती है जिसको 'हिरण्य क्षीरा' भी कहते हैं जिसके पत्ते कमल के सदृश होते हैं। एक औषधि 'सूर्यकांता' नामक है जिसका दूध सुवर्ण के समान पीला होता है और फूल सूर्य मण्डल के आकार के होते हैं। एक औषधि 'नारी' नामक होती है इसके पत्ते बकरे के सदृश होते हैं। एक 'सर्पा' नामक औषधि सर्प जैसी होती है। 'सोम' नामक औषधि जो सब औषधियों की रानी है, इसके पन्द्रह पत्ते होते हैं और चन्द्रमा की कला के अनुसार कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता घटता जाता है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता घटता जाता है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता नवीन आता जाता है। उपरोक्त औषधियाँ महान दिव्य औषधियां हैं इनके रस का तृप्ति पर्यन्त पान करने से और ऊपर से बकरी का दूध पीर से तथा उसके बाद पलाश की हरी लकड़ी के बनाये हुए ढक्कनदार टब में नग्न स्थिति में सोने से नवीन शरीर की प्राप्ति होती है।

वह मनुष्य आयु-वर्ण-स्वर-आकृति-बल और प्रभा में देवताओं के सदृश हो जाता है। इसी प्रकार भूख और प्यास दूर करने वाली अनेकों औषधियां हैं तथा सोना बनाने वाली भी अनेकों चमत्कृत गुणों से युक्त औषधियाँ हमारे यहां के पर्वतों में पैदा होती है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी पूरी जानकारी न होने से इनके चमत्कृत प्रयोगों से वंचित है।

आज की बढ़ती हुई बीमारियों को देखते हुए वैद्य समाज का कर्तव्य है कि औषधियों के प्रति हमारी उदासीनता को दूर करें। हमारी उदासीनता-प्रमाद से और सरकार से वांछित सहयोग प्राप्त न होने से हम सभी औषधियों के लाभ से वंचित हैं उनको जानकारी करके जन समुदाय के सामने लायें जिससे कि उनके विषय में अनुसंधान करके उस पद्धति से जनता जनार्दन की समुचित सेवा हो सके।

।। नास्ति आयुर्वेदस्य पारम्।।

श्वास-रोग का इलाज

पिप्पलीलवणवर्गविपाकं। सर्पिरेव शमयत्यतिजीर्णम्
शृंगबेरलवणान्वितभार्ङ्गी। चूर्णप्यमलतैलविमिश्रम्।।१०।।

कल्याणकारकम्-16 सर्ग

पिप्पली व लवणवर्ग से सिद्ध किया हुआ घी, अत्यन्त पुरोम श्वास को शमन करता है। सोंठ लवण से युक्त भारंगी चूर्ण को निर्मल तेल में मिलाकर उपयोग करें तो श्वास के लिए हितकर है।

भृंगराज तेल व त्रिफला

भृंगराजरसविंशतिभागैः। पक्वतैलमथवा प्रतिवापम्।
श्वासकासमुपहन्त्यतिशीघ्रं। त्रैफलाजलमिवाज्यसमेतम्।।११।।

हरड़ बेहड़ा, आँवले के कषाय में घी मिलाकर सेवन करने से श्वास रोग शीघ्र नाश होता है। एक भाग तिल के तेल में 20 भाग भांगरे का रस और हरड़ का कल्क डालकर सिद्ध करके सेवन करें तो श्वास रोग को शीघ्र नाश करता है।

(संदर्भ- वही कल्याणकारकम् श्लोक 11)

जैनायुर्वेद के ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों की उपेक्षा

– आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद को वर्तमान में पुरातन भारतीय चिकित्सा के रूप में जाना जाता है, जबकि वह मात्र चिकित्सा विज्ञान ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है, क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र में मनुष्य के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर गहराई से विचार किया गया है। जैनधर्म में लौकिक विद्या के रूप में उसे मान्य किया गया है और द्वादशांग के अंतर्गत उसे परिगणित कर 'प्राणावाय' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। कषायपाहुड़ आदि ग्रन्थों में प्राणावाय का लक्षण प्रतिपादित कर उस विषय पर लिखित श्लोक संख्या प्रमाण बतलाया गया है। यही कारण है कि अनेक जैनाचार्यों ने प्राणावाय विषय को अधिकृत कर ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने कर्त्तव्य को तो पूर्ण कर दिया, किन्तु उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करवाकर उनके संरक्षण करने के अपने उत्तरदायित्व को समाज पूर्ण नहीं कर पाया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अनेक ग्रन्थ या तो नष्ट हो गए हैं या लुप्त हो गए हैं अथवा अंधकारावृत हैं।

जैनायुर्वेद-ग्रन्थ विवरण :

प्राचीन विद्वानों या पत्र-पत्रिकाओं ने पूर्व में समय-समय पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद विषयाधारित ग्रंथों की सूची प्रकाशित की थी जिसके आधार पर संकलित एक बृहत् सूची का निर्माण किया गया है जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है विज्ञजन इसका अवलोकन कर रचनात्मक कदम उठाएंगे।

वर्तमान में जैन वाङ्मय पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि **'प्राणावाय'** (जैनायुर्वेद) से संबन्धित बहुत कम साहित्य ही उपलब्ध है। उपलब्ध सन्दर्भों एवं प्राचीन विद्वानों द्वारा किए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रखर पाण्डित्य से परिपूर्ण बहुमुखी प्रतिभा के धनी समन्तभद्र

स्वामी और पूज्यपाद जैसे भिषगाचार्य द्वारा आयुर्वेदाधारित अनेक ग्रन्थों का सर्जन किया गया था जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है और यदि उपलब्ध है भी तो दुर्लभ एवं अप्रकाशित हैं। उदाहरणार्थ आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित **सिद्धांत रसायन कल्प, पुष्पायुर्वेद, अष्टांग संग्रह** आदि। इसी प्रकार पूज्यपाद स्वामी द्वारा **'कल्याणकारक'** ग्रंथ का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार उनकी अन्य कृतियों-ग्रन्थों में **शालाक्यतंत्र, निदान मुक्तावलि, नाड़ी परीक्षा** आदि का उल्लेख मात्र मिलता है। इसके अतिरिक्त पात्र केसरि द्वारा रचित शल्य तंत्र, सिद्धसेन कृत विष एवं उग्रग्रह शमन विधि का भी उल्लेख मिलता है। पं. आशाधर द्वारा आयुर्वेद के ग्रंथ **अष्टांग हृदय** पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी गई थी जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने ग्रन्थ रचना करते समय जन सामान्य में प्रचलित भाषा का विशेष ध्यान रखा। प्राचीनकाल में प्राकृत व पाली जन साधारण की भाषाएं थी। कालान्तर में धीरे-धीरे इनका विकास हुआ और व्याकरण का आधार पाकर इन भाषाओं ने साहित्यिक सामर्थ्य की गरिमा प्राप्त की। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि इन भाषाओं में विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। विद्वानों आचार्यों ने आयुर्वेद पर आधारित अनेक ग्रन्थों की रचना की, किन्तु हमारे प्रमाद एवं अज्ञान के कारण अनेक ग्रन्थ काल कवलित हो गए हैं। अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो देश के विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। उनकी कोई खोज खबर लेने वाला नहीं है। ऐसे ही प्राकृत भाषा में रचित आयुर्वेद के दो महत्वपूर्ण ग्रंथों- **१. योग निधान** और **२. प्राकृत वैद्यक** को स्व. पं. कुन्दनलाल जैन, दिल्ली ने खोज निकाला था। इसका उल्लेख उन्होनें अपने लेख में किया था। उन्होंने लिखा है कि ये ग्रंथ का एक गुटका (पोथी) में छिपे पड़े थे। जब उस गुटके का एक एक पत्र पलटा तब अचानक हाथ में लगे। पर खेद है कि इस गुटका के आदि-अंत के पन्न ही नहीं थे, कभी फटकर निकल गए होंगे। इनमें बहुत सारी ऐतिहासिक तथ्य पूर्ण सामग्री छिपी रहा करती है।

इसी प्रकार सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर से प्राकृत भाषा के

प्रोफेसर डॉ. उदयचन्द्र जैन ने भी प्राकृत भाषा में रचित आयुर्वेद के ग्रंथ- 'जोणि-पाहुड़' का उल्लेख अपने एक लेख में किया है। (डॉ. उदयचन्द्र जैन का ''जोणि पाहुण : एक अनुशीलन'', आलेख विशेषांक में दिया जा रहा है)।

जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ऐसे ग्रंथों की संख्या अत्यल्प है जिनका मुद्रण एवं प्रकाशन किया गया हो। अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं उनमें श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत **'कल्याण कारक'** ही एक मात्र ऐसा ग्रंथ है जो सर्वांगपूर्ण है और संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसका हिन्दी अनुवाद एवं संपादन स्व.श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा किया गया था। जो वर्तमान में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त वैद्यसार नामक एक एक ग्रंथ का प्रकाशन जैन सिद्धान्त भवन आरा से किया गया था। इसका संपादक और हिन्दी अनुवाद आयुर्वेदाचार्य पं. सत्यन्धर कुमार जैन, काव्यतीर्थ द्वारा किया गया था। इस ग्रंथ को भी पूज्यपाद द्वारा रचित कहा जाता है, किन्तु यह सन्देहास्पद है, क्योंकि इस सम्पूर्ण ग्रंथ में विभिन्न रोगों के शमनार्थ चिकित्सा योगों का कथन किया गया है। प्रत्येक चिकित्सा योग में 5 या 6 श्लोक हैं और प्रत्येक के अन्त में **पूज्यपादेन भाषितम् कथितं पूज्यपादेन, पूज्यपादोदितम्** इत्यादि कथन किया गया है जिससे ध्वनित होता है कि पूज्यपाद स्वामी का कोई चिकित्सा विषयक ग्रंथ पूर्व में विद्यमान रहा होगा जिसमें इन चिकित्सा योगों को उद्धृत कर संकलित कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा शैली भी श्री पूज्यपाद स्वामी की विद्वत्ता के अनुरूप नहीं है। अतः यह खोज का विषय है कि इस ग्रंथ का रचयिता, संग्रहकर्ता या संकलनकर्ता वस्तुतः कौन है ?

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथों के प्रकाशित होने की भी सूचना प्राप्त हुई है-

१. श्री हर्षकीर्ति सूरि द्वारा विरचित-योगचिंतामणि
२. श्री हस्तिरूचि द्वारा विरचित- वैद्य वल्लभ
३. श्री अनन्त देव सूरि कृत- रसचिन्तामणि
४. श्री काण्ठ सूरि कृत- हितोपदेश वैद्यक

५. श्री हंसराज द्वारा रचित- हंसराज निदान और
६. कवि विश्राम द्वारा लिखित- अनुपान मंजरी

ये सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। कुछ हिन्दी भाषा में रचित ग्रंथों के प्रकाशित होने की भी सूचना प्राप्त हुई है। जैसे -

1. कवि नैन सुख द्वारा लिखित वैद्य मनोत्सव, 2. कवि मेघ मुनि द्वारा रचित मेघ विनोद। इसके अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में श्री मंगराज द्वारा लिखित ग्रंथ खगेन्द्रमणि दर्पण मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा कन्नड़ लिपि में कन्नड़ सीरीज के अंतर्गत प्रकाशित किया गया था जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थों की संख्या प्रचुर है। किन्तु यह संपूर्ण साहित्य अभी तक अंधकारवृत है। अब तो स्थिति यह होती जा रही है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जिन ग्रंथों की रचना की सूचना या जानकारी संदर्भ रूप से जहां कहीं से भी प्राप्त होती है, उसकी खोज करने पर ज्ञात होता है कि अब उसका अस्तित्व ही हमारे सम्मुख नहीं है। संभव है किसी ग्रंथ भण्डार में किसी ग्रंथ की एकाध प्रति मिल जाय। उदाहरण के रूप में अनेक स्थलों पर स्वामी समन्तभद्र द्वारा लिखित वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अभी तक वह अप्राप्त ही बना हुआ है। इसी प्रकार आयुर्वेद के एक प्रसिद्ध ग्रंथ **'योग रत्नाकर'** में श्री पूज्यपाद के नाम से अनेक चिकित्सा योग उद्धृत हैं। एक अन्य आयुर्वेदीय ग्रंथ **''वसव राजीयम्''** में भी पूज्यपाद के नाम से अनेक औषध योगों का उल्लेख है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी पूज्यपाद द्वारा रचित कोई चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथ हस्तगत नहीं हुआ है।

भाषा की दृष्टि से आयुर्वेद के ग्रंथों की रचना में जैनाचार्यों योगदान अति महत्वपूर्ण है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि तत्कालीन लोक भाषा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने ग्रंथों की रचना की है, ताकि और जन सामान्य उन ग्रंथों से लाभ उठा सकें। जैनाचार्यों के द्वारा लिखित आयुर्वेद के जिन ग्रंथों की जानकारी वर्तमान में सुलभ है उसके अनुसार चार भाषाओं में आयुर्वेद के ग्रंथों का प्रणयन समय-समय पर

किया है। यथा- प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी। इनमें से कन्नड़ भाषा में लिखित ग्रंथों में कन्नड़ लिपि का प्रयोग किया गया है, शेष तीन भाषाओं, प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी में लिखित ग्रंथों में देवनागरी लिपि को माध्यम बनाया गया है। कन्नड़ लिपि में लिखित कुछ ग्रंथों की लिपि तो कन्नड़ है किन्तु भाषा संस्कृत है। ज्ञात हुआ है कि मेघमुनि नामक एक विद्वान ने गुरूमुखी लिपि (पंजाबी भाषा) में **'मेघ विनोद'** नामक गंथ की रचना की थी जिसे मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन एवं श्री सुन्दरलाल जैन ने हिन्दी में अनुवाद कराकर अपने यहाँ से प्रकाशित कराया था।

जैनायुर्वेद के जिन हस्तलिखित ग्रंथों (उपलब्ध या अनुपलब्ध) की जानकारी विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध हुई है उनका विवरण निम्नवत् है।

1. श्री समन्तभद्राचार्य -अष्टांग संग्रह, सिद्धांत रसायन कल्प, पुष्पायुर्वेद
2. श्री पूज्यपाद स्वामी - कल्याणकारक, रत्नााकरौषधयोग ग्रंथ, वैद्यसार, भैषज्य गुणार्णव, निदान मुक्तावलि, मदनकामरत्न, विद्या विनोद, पूज्यपाद वैद्यक, नाड़ी परीक्षा, वैद्यक शास्त्र
3. सोमनाथ - कल्याणकारक (कन्नड़)
4. कुन्दकुन्द - वैद्यगाहा
5. अमृतनन्दिन् - अकारा दि निघण्टु
6. यश:कीर्ति - जगत् सुन्दरी प्रयोग माला
7. पं. हरपाल - वैद्यशास्त्र (प्राकृत), योग निधान
8. दुर्ग देव - रिष्ट समुच्चय (ज्योतिष-आयुर्वेद)
9. मंगराज - खगेन्द्र मणि दर्पण (कन्नड़)
10. पार्श्व देव - सुकर योग रत्नावलि
11. देवेन्द्र मुनि - बाल ग्रह चिकित्सा
12. श्रीधर देव - वैद्यामृत
13. पद्मनन्दि 14. पद्सेन,15. धनंञ्जय 16. रेवण सिंह- वैद्यक निघण्टु
17. माणिक्यचन्द्र जैन - रसावतार
18. नारायण शेखर जैन- योग रत्नाकर, वैद्यवृन्द, वैद्यामृत, ज्वर निर्णय
19. अनन्त देव सूरि - रस चिंतामणि

20. श्री कण्ठ सूरि – हितोपदेश वैद्यक
21. विजयरूण उपाध्याय– सार संग्रह
22. हर्ष कीर्ति सूरि – योग चिन्तामणि
23. मल्लिवेण – बाल ग्रह चिकित्सा
24. वर रूचि – योग शत वृत्ति, वर रूचि संहिता
25. सोम प्रभ – रस प्रयोग
26. मेरूतुंग – मेरू तंत्र
27. अकलंक – अकलंक संहिता
28. वीर सिंह – वीरसिंहावलोक
29. लक्ष्मीचन्द्र वाचक (दीपकचंद्र वाचक) – लंघन पथ्य निर्णय
30. जयरत्नगषि – ज्वर पराजय
31. महेन्द्र भोगिक – द्रव्यावल समुच्चय
32. हस्ति रूचि – वैद्य वल्लभ
33. हंस राज – भिषक् चक्रचिन्तोत्सव (हंसराज निदान)
34. हेमचन्द्राचार्य – निघण्टु शेष, नाममालादि कोश
35. चिक्कण कवि – गुण पाठ
36. अभिनव – वैद्य निघण्टु
37. साल्व – वैद्य सांगल्य (कन्नड़)
38. लक्ष्मण पण्डित – वैद्य निघण्टु (कन्नड़;
39. शिव घोष – रससार
40. माघवचन्द्र देव – माघराज पद्धति
41. अभिनव चन्द्र – हय शास्त्र
42. कीर्ति वर्मा – गो वैद्य
43. वाच रस – अश्व वैद्य

हिन्दी भाषा में रचित वैद्यक ग्रंथ :-

1. समरथ – रस मंजरी टीका
2. नयनसुख – वैद्य मनोत्सव
3. जिन समुद्र सूरि – वैद्य चिंतामणि
4. लक्ष्मी वल्लभ – काल ज्ञान भाषा, मूत्र परीक्षा

5. धर्मसी – डम्भ क्रिया
6. जोगीदास – वैद्यक सार
7. रामचन्द – रामविनोद, वैद्य विनोद, प्रयोग चन्द्रिका
8. मुनिमान – कवि विनोद, कवि प्रमोद
9. पीताम्बर – आयुर्वेद सार संग्रह
10. चैन सुखयति – सत श्लोकी भाषा
11. मलूकचन्द्र – वैद्य हुलास
12. मेघमुनि – मेघ विनोद, मेघ विलास
13. यति गंगाराम – वैद्य जीवन (लोलिम्बराज भाषा), सूरज प्रकाश, भाव दीपक, भाव निदान
14. लक्ष्मीचन्द्र – लक्ष्मी प्रकाश
15. कवि विश्राम – अनुपान मंजरी
16. गुणाकर – योगरत्नमाला वृत्ति (टीका)
17. चैनसुख मुनि – पथ्या पथ्य टवा (टीका)
18. ज्ञान मेरू – माधव निदान टवा (टीका)
19. हेम निधान – सन्निपात कलिका

– निदेशक, जैनायुर्वेद साहित्यानुसंधान केन्द्र,
राजीव काम्पलेक्स के पास, अहिंसा मार्ग,
इटारसी-461 111 (म.प्र.)

आचार्य उग्रादित्य के 'कल्याणकारक' में द्रव्य-गुण चिकित्सा आदि का वर्णन

डा. हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव हैं। इनका उल्लेख वेदों में भी प्राप्त होता है तो भी जैन धर्म हिन्दु धर्म से अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण पृथक् है और है अति प्राचीन। जैनधर्म की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है समन्वयात्मक (अनेकान्तात्मक) मार्ग का निर्देश करना। प्रस्तुत 'कल्याणकारक' चिकित्साग्रन्थ भी इसी सरिणी का अनुसरण करता है। ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर वर्धमान तक चिकित्सा की जैन वैद्यक परम्परा रही है, किन्तु इस कालखण्ड का कोई प्रामाणिक साहित्य प्राप्त नहीं होता है। तदुपरान्त का जो जैन साहित्य मिलता है उसमें चिकित्साग्रन्थ विरल मिलते हैं।

जैन वैद्यक परम्परा आयुर्वेद से विचारधारा में बहुत अधिक भिन्न नहीं है।, तथापि अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण कुछ भिन्न सी प्रतीत होती है। जैन वैद्यक विचारकों ने वाग्भट्ट के समान चरकसुश्रृत आदि के विचारों को समुचित आदर प्रदान किया है और वाग्भट्ट को बौद्ध वैद्यक परम्परा का अनुगामी माना है। ठीक इसी प्रकार कल्याणकारक के रचयिता आचार्य उग्रादित्य ने किया है। यद्यपि उन्होंने ऐसा कहीं भी स्वीकार तो नहीं किया है, उन्होंने आयुर्वेदावतरण भिन्न प्रकार से माना है, तथापि जैन वैद्यक की परम्परा में बहुत से उपयोगी चिकित्साशास्त्र के सिद्धान्त है यह सिद्ध हो जाता है। कल्याणकारक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्म का दर्शन, विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र पर कैसे प्रभाव होता है, यह ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु है। अनेक विचारधाराओं में मध्य में रहते हुए उनसे तालमेल रखते हुए अपना अस्तित्त्व बनाना महत्वपूर्ण हैं।

कल्याणकारक चिकित्साग्रन्थ के रचयिता आचार्य उग्रादित्य थे।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि यह एक जैन आचार्य थे और राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा चालुक्य वंशी राजा कालिविष्णुवर्धन पंचम के काल में थे, जिसका समय ईस्वी की 9वीं शताब्दि है। उग्रादित्य के गुरु श्रीनन्दि थे जो **'प्राणावाय विज्ञान'** के विद्वान् थे, उन्हीं से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया था। कल्याणकारक में अनेकों आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है जो जैन वैद्यक परम्परा में है, उन्होंने अलग-अलग चिकित्सा की शाखाओं पर ग्रन्थ लिखे हैं।

महर्षि पूज्यपाद	शालाक्य तंत्र (Diseases of Eye Nose & Throat
पात्र केसरी स्वामी	शल्य तंत्र (Surgery)
सिद्धसेन भगवान	अगद तत्र एवं भूत विद्या (Toxicology)
दशरथ मुनीश्वर	काय चिकित्सा (Medicine)
मेघनादाचार्य	कौमार भृत्य (Children diseases)
सिंहनाद मुनीन्द्र	वाजीकरण और रसायन तंत्र

समन्तभद्राचार्य ने अष्टांग आयुर्वेद पर विस्तार से ग्रन्थ रचना की है। कल्याणकारक में उन्हीं का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है। इनमें से उग्रादित्याचार्य के कल्याणकारक वैद्यकग्रंथ के अतिरिक्त कोई भी ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है।

कल्याणकारक के महत्वपूर्ण चिकित्सा सिद्धान्त :

जैनधर्म के जीव एवं सृष्टि के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा उग्रादित्य ने अपने ग्रन्थ में की है। कर्म से जीव का जन्म तथा व्याधि की उत्पत्ति होती है। अन्य कारण जिनसे व्याधि उत्पन्न होती है गौण माने हैं जिनमें दोष तथा अभिघात हेतु होता है। रोगों की उत्पत्ति के लिए शरीर के विकृत दोष उत्तरदायी हैं। महारोगों में वे शीघ्र प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। जबकि अन्य रोगों में मन्दगति से अपना प्रभाव दिखाते हैं, इसका कारण स्वभाव तथा कर्म माना है।

प्रकुपित दोष शरीर में प्रसरित होते हैं, उनके अनेक प्रकार हैं। 15 प्रकारों का वर्णन कल्याणकारक में किया गया है, जिसके अनुसार तीन दोष तथा रक्त मिलकर इस प्रकार के भेद बनते हैं। यह एक आयुर्वेद

सम्मत सिद्धान्त है। तीन दोष के सिद्धान्त को मान्य करता हुआ लेखक रक्त को भी दोष की श्रेणी में लाने का प्रयत्न करता है। रोग की चिकित्सा कर्म की उपशान्ति है। उपाय या चिकित्सा की सहायता से रोग के शमन का काल आने पर रोगोपशमन होता है। ऐसा विचार आचार्य उग्रादित्य ने प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार चिकित्सा क्रम में रोगी की चिकित्सा करते समय ज्योतिष के अनुसार ग्रह, स्वप्न तथा दोषों की स्थिति का विचार किया है। दोषों के बिना रोगोत्पत्ति सम्भव नहीं है जहाँ रोग विशेष का नाम नहीं है वहाँ दोषों के अनुसार विचार करना चाहिए यह विचार आचार्य चरक के अनुसार है-

विकाराणामकुशलो न जिह्वीयान् कदाचन।
न हि सर्वविकारणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

कल्याणकारक में मद्य-मांस-मधु का निषेध -

धार्मिक तथा आत्मिक दृष्टि से अहिंसा एक प्रधान तत्त्व है। जिसे आयुर्वेद में भी स्थान दिया गया है। इसी कारण से मांसाहार का निषेध जैन वैद्यक में किया गया है, अन्यथा नैतिक विरोध उत्पन्न हो जाता। जैनों ने मांसाहार को कभी भी किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है। जैन वैद्यक में उसका पूर्ण पालन किया गया है। उसी प्रकार मधु का प्रयोग भी वर्जित माना है, मधु में असंख्य जीवों का आश्रय होता है। अतः मांस के तुल्य ही इसे चिकित्सा में स्थान नहीं दिया है। शल्य में अनेक कर्मों का सीमित एवं आवश्यक विधान बताया है।

जैनधर्म के अनुसार मद्य के प्रयोग को सर्वथा निषिद्ध माना है। अतः मद्यपान का चिकित्सा कार्य में कहीं प्रयोग नहीं बताया है। आयुर्वेद चिकित्सा में प्रयोग किये जाने वाले आस्रव, अरिष्ट को भी निषिद्ध माना है। मद्य, मांस व मधु का त्यागी ही जैनी होता है। जैन मतानुयायी के इस गुण को आचार्य उग्रादित्य ने चिकित्सा में सुरक्षित रखा है। गम्भीरता से विचार करने पर मद्य, मांस एवं मधु के दुर्गुणों का ज्ञान रहेगा। जैनदर्शन एवम् तत्त्वज्ञान का अध्ययन इसके लिए अत्यावश्यक है, अन्यथा इसका ज्ञान व अनुभूति दोनों असम्भव है।

अहिंसा के इस सूक्ष्म विचार को कुछ शल्य चिकित्सा के विकास में बाधक मानते हैं, किन्तु शरीर रचना, शरीर क्रिया एवं शल्य विषय ग्रन्थ लेखन इस बात का द्योतक है कि जैनधर्म की अहिंसा शल्यचिकित्सा के विकास में अवरोधक नहीं रही है। विज्ञान के नाम पर अनावश्यक प्राणि हिंसा का निषेध ही किया है।

मद्य, मांस व मधु के द्रव्य गुणात्मक विचार को ध्यान में रखते हुए इन द्रव्यों के प्रतिनिधि द्रव्यों का स्थान-स्थान पर प्रयोग बताया है। मद्य के स्थान पर पुष्पों का रस, मांस के स्थान पर विभिन्न द्विदल धान्य, मधु के स्थान पर गुड़ का प्रयोग लिया है, जो आचार्य उग्रादित्य की वैज्ञानिक मीमांसा का अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार प्राचीन वेदानुयायी आयुर्वेद के समस्त विचारों को आत्मसात करते हुए समन्वय की दृष्टि कल्याणकारक में अपनाई गई है। त्रिसूत्र आयुर्वेद-हेतु, लिंग, औषध का पूर्ण विचार कल्याणकारक में किया है। औषध के लिए उग्रादित्य ने प्रशस्त औषध ऐसा कहा है- जो औषधि निम्न गुणों से युक्त होगी वही प्रशस्त औषधि मानी जावेगी -

1. जो ज्ञान व चिकित्सा में व्यहृत होती हो।
2. अल्प मात्रा में प्रयोग कर सके।
3. गन्ध, वर्ण, स्वाद में प्रिय हों।
4. शुद्ध हो, जिससे किसी प्रकार के व्यापद (Complications) न हों।
5. शीघ्र प्रभावकारी हों।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी आज द्रव्य (Durg) के संबन्ध में यही विचार मानता है। औषधि के सभी विचार-आयुर्वेद के साथ पूर्ण सम्मत है। द्रव्य के कार्य को (The mode of action of the durg) 15 प्रकार से वर्गीकृत किया है जिसे 'भेषजकर्म' कहा है। यह सरल तथा सुगम वर्गीकरण है जो सामान्य चिकित्सक के लिए उपयोगी है।

औषधि कर्म- (1) संशमन (2) अग्निदीपन (3) रसायन (4) वृंहण (5) लेखन (6) संग्रहण (7) वृष्य (8) शोषकरण (9) विलयन (10) अधःशोधन (11) उर्ध्वशोधन (12) उभय भाग शोधन (13) विरेचन (14) विष (15) विषौषध।

इस प्रकार औषधि कर्मों का वर्गीकरण अतिवैज्ञानिक व आयुर्वेद में विकास का द्योतक है। कुछ औषधियों के स्वरस का प्रयोग मंत्रोपचार के साथ किया है। मसूरिका (Small Pox) में वनौषधियों से निर्मित पंखे की हवा का सेवन बताया है। इसी प्रकार विषों की चिकित्सा का विशेष वर्णन किया है, जिसे 'अगदतंत्र' कहा जाता है। औषधि के अन्य प्रयोगों का वर्णन आयुर्वेद सम्मत है जैसे- अञ्जन, कर्णपूरण, नस्य, वर्तिकवल आदि। प्रमेह की चिकित्सा के उपक्रम चरक, सुश्रुत की अपेक्षा विशेषता युक्त है। प्रमेह की चिकित्सा में विभिन्न प्राणियों के मल (The Excreta of the animals) का उपयोग बताया है। यह अनुसंधान का विषय है।

पारद का उपयोग :

कल्याणकारक में संक्षिप्तरूप से पारद तथा उसके संस्कारों का वर्णन है। पारद से स्वर्ण निर्माण का कथन है। अनेके पारद योगों का शक्तिवर्द्धक योगों के रूप में वर्णन है।

श्रृंगार प्रसाधन :

कल्याणकारक में पालित नाशन, केश कृष्णीकरण, मुखकान्ति वर्द्धक आदि श्रृंगार प्रसाधन योगों का वर्णन है।

विमर्श :

आयुर्वेद में जैन वैद्यक परम्परा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह प्रायोगिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का है। मद्य, मांस, मधु के निषेध के साथ उनका उचित पूरक बताया है। वात, पित्त, कफ, वात की सहायता से अपना कार्य संपन्न करते हैं। इस प्रकार सामान्य चिकित्सक के सरल प्रयोग परक चिकित्सा ग्रन्थ कल्याणकारक है। रोगों का वर्गीकरण दोषानुसार कर चिकित्सकों का महान उपकार किया है। इस प्रकार कल्याणकारक एक मौलिक वैज्ञानिक जैन वैद्यक परम्परा का ग्रन्थ है।

******

जैनाचार आयुर्वेद ही है

- राजकुमार शास्त्री (निवाई)

जैनधर्म सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत है और यह प्ररूपण द्वादशांगरूप में प्ररूपित किया गया है। इस प्ररूपण में विश्व का कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है। इसमें सम्पूर्ण विषयों का सर्वांगीण निरूपण है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट के दो भेदों में विभाजित किया गया है। सम्पूर्ण विश्व की रचना और उसके क्षेत्र व स्थानों में होने वाली क्रम प्रक्रिया का विशद् वर्णन है। अनन्त जीवों के विविध योनिस्थान, स्वरूप, रंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन जहाँ है, वहाँ इनके प्राकृतिक परिवर्तन तथा हलन-चलन रूप क्रिया कलापों का भी विशद विवेचन है। प्रत्येक वस्तु का गुण, अवगुण, परिपाक, विपाक और उससे होने वाले प्रभाव को भी खुलासा किया गया है। उसी के आधार पर जैनाचार्यों ने दर्शन, कला, काव्य, ज्योतिष व वैद्यक, व्याकरणादि सभी विषयों पर अपने महान ज्ञानानुभव के आधार पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। 11 अंग और 14 पूर्वों के अन्तर्गत सभी विषय आ जाते हैं। दुर्भाग्य से कहिये या हमारे प्रमाद के कारण इन अंग और पूर्वों के ज्ञान के आधार पर परम्परागत आचार्यों द्वारा रचित नानाविध विषयों पर ग्रन्थ थे उनमें से अनेक शास्त्र या तो दीमकों ने भक्षण कर लिये हैं या धर्मान्ध द्वेषियों ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर अग्नि में समर्पित कर दिये। इसी कारण वे महान ग्रन्थ आज हमें दृष्टिगोचर नहीं है, किन्तु जो कुछ हमारे समक्ष हैं, उनके वाचन से हमें उन आचार्यों की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का और उनके अगाध ज्ञान का परिचय अवश्य होता है। जैनाचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथों को छोड़कर वैद्यक ग्रंथ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं तथापि उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं तो आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ इस प्रकार है-**'आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुः विदंति इत्यायुर्वेदः'** इससे सिद्ध होता है कि आयुर्वेद आयु-जीवन का शास्त्र है। अतः आयु

का संरक्षण जिससे हो वही आयुर्वेद है। वर्तमान आयु के अन्त तक पूर्ण स्वस्थता ही आरोग्य है। स्वस्थता के विरोधी रोग हैं। व्याधि रोग का पर्यायवाची शब्द है। शरीर में व्याधियाँ चार प्रकार की होती हैं -

1. वातज 2. पित्तज 3. कफज 4. संसर्गज।

वातोत्पादक पदार्थों का सेवन वातज व्याधियों का जनक है, पित्तज पदार्थों के सेवन से पित्तप्रधान व्याधियाँ होती हैं तथा कफोत्पादक वस्तुओं का सेवन कफज व्याधियों को उत्पन्न करता है। एक-दूसरे के संसर्ग से होने वाली व्याधियाँ संसर्गज कहलाती हैं। संसर्गज व्याधियों में शीतला, मोतीज्वर, राजयक्ष्मा (टी.वी.), उपदंश आदि को लिया जा सकता है। प्रकृति ने अनेक भोज्य पदार्थ उत्पन्न किये हैं जैसे- अन्न, विविध फल, विविध शाक, पत्र-पुष्पादि ये सब अपने-अपने समय पर सर्वत्र उत्पन्न होते रहते हैं। ये नानाविध खाद्य पदार्थ विभिन्न प्रकार की व्याधियों से मुक्त कराने की शक्ति से युक्त हैं इनमें अपूर्व शक्ति है, जिनके सेवन से ही विविध रोग शान्त हो सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके सेवन से नानाविध रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए विवेकियों ने- मनीषियों ने विवेक से काम लेने को कहा। जैसे बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर ये पंच उदुम्बर फल कहलाते हैं। इनमें अनेक जीव है जो चलते-फिरते दिखाई देते हैं तो फिर इनके खाने से शरीर कैसे स्वस्थ रह सकता है। कुछ शाक आदि ऐसे हैं जिनमें चलते-फिरते जीव तो नहीं दिखाई देते हैं, किन्तु अनेक निगोदिया जीवो का पिण्ड स्वरूप ही है, जैसे आलू, शकरकन्दी आदि जमीकन्द। उनके भक्षण करने से भी बुद्धि में प्रमाद, भारीपन और मन्दता आ जाती है।

मद्य, मांस और मधु तो प्रत्यक्ष ही घृणास्पद, मदकारक व हिंसा जन्य है। बुद्धि को विपरीत व कुण्ठित करने वाले हैं तथा क्रूरता उत्पन्न करने वाले हैं। ये पदार्थ व मस्तिष्क में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, हेयोपादेय के बोध से रहित करते हैं। ये पदार्थ स्वयं ही अभक्ष्य हैं इनको भक्षण करने वाला अन्य भी अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने में संकोच नहीं करता है। जैन चिकित्सा पद्धति में भी इनका प्रयोग निषिद्ध माना गया है। उग्रादित्याचार्य ने अपने कल्याणकारक ग्रन्थ में चिकित्सा करने में भी

इनको ग्राह्य नहीं माना है। अतः यह तो निर्बाध सिद्ध है कि आयुर्वेद और जैनाचार का बड़ा निकटतम सम्बन्ध रहा है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन धर्म के अनुयायियों को जिन प्रारंभिक नियमों का पालन करने को कहा है उनके अतिरिक्त सद्गृहस्थ और साधु पुरुषों की जो भी दिनचर्या शास्त्रों में कही गई जिनमें आहार चर्या की प्रमुखता है, का बड़ा वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखा गया है। जैन धर्मानुसार विहित नियमोपनियम धार्मिकता के साथ-साथ स्वास्थ्य रक्षा में भी अत्यन्त सहायक साधन है।

जैनसाधु 24 घण्टे में सूर्योदय के कम से कम 72 मिनिट पश्चात् और सूर्यास्त से कम से कम 72 निमिट पूर्व दिन में एक बार आहार ग्रहण करते हैं। दूसरी बार पानी भी नहीं लेते। अतः आंतों को भोजन पचाने के लिए समय अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त गरिष्ठ, अमर्यादित व कंद मूलादि, प्रमाद बढ़ाने वाले पदार्थ, अनष्टिकारक व अनुपसेव्य पदार्थों का वे प्रयोग नहीं करते। सात्त्विक भोजन करते हैं और यथावसर अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग आदि तपों को भी करते हैं, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में भी बहुत सहयोग मिलता है और अहिंसा प्रधान धर्म का भी परिपालन होता है। समय-समय पर विभिन्न रसों का परित्याग वे करते रहते हैं जिससे जब जैसे रस की आवश्यकता शरीर को होती है, वह उसे मिलता है और जिसकी आवश्यकता नहीं होती उसका सेवन भी बच जाता है, क्योंकि बदलते हुए आहार में प्रायः रसों का परिवर्तन करते रहते हैं।

साधु चर्या में प्रासुक (गर्म) पानी के सेवन की ही प्रमुखता है। अतः स्वास्थ्य की रक्षा में गर्म पानी का भी योगदान मिलता रहता है। आयुर्वेद में भी प्रायः सामान्य रोगों की चिकित्सा तो आहार (खान-पान) शुद्धि से सही हो जाया करती है। चिकित्सा क्षेत्र में पथ्या पथ्य आहार-विहार का महत्वपूर्ण स्थान है। पथ्य रूप आहार-विहार ही अनेक रोगों का चिकित्सक है। कहा भी है-

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवर्णः।
अपथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

अर्थात् पथ्य पूर्वक रहा जावे तो औषध सेवन की क्या आवश्यकता

है और अपथ्यपूर्वक रहने वालों की औषधि का सेवन क्या कार्यकारी होगा? अपथ्य सेवन से रोगोत्पत्ति होती है। इस प्रकार जैनाचार आयुर्वेद ही है। यदि ऐसा भी कह दिया जावे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आयुर्वेद भी उपवास, भूख से कम खाने, खट्टे, मीठे रसों के सेवन या त्याग पर बल देता है। आयुर्वेद में चलितरसीय पदार्थों का सेवन भी वर्जित है, व्याधिकारक पदार्थों को भी नहीं खाने का आग्रह किया गया है। बिना छना पानी भी वर्जित है। उष्ण किये गये पानी का सेवन करना स्थान-स्थान पर कहा गया है। उष्ण पानी के सम्बन्ध में एक घटना स्मरण हो आयी उसे लिखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। घटना इस प्रकार है-

जयपुर राज्य के प्रमुख चिकित्साधिकारी, चीफ सर्जन डॉ. दुर्जनसिंहजी से मुलाकात हुई। वे प्रायः अपने रोगियों को कहा करते थे कि 'तुम सरावगी पानी पिया करो', मैंने उन्हें एक दिन पूछ ही लिया कि आप सरावगी पानी किसे कहते हैं? उन्होंने कहा कि शास्त्रीजी सरावगी होकर भी आप सरावगी पानी नहीं जानते। अरे ! मैं छानकर जो पानी गर्म कर लिया जाता है उसे सरावगी पानी कहता हूँ। जिस पानी का सेवन आपका साधु वर्ग करता है वह पानी बहुत गुणकारक है और उदर सम्बन्धी अनेक रोगों का सबसे बढ़ा चिकित्सक है। आपका साधु वर्ग प्रायः कम ही बीमार पड़ता है, क्योंकि वे शुद्ध आहार-पान करते हैं। शुद्ध आहार-पान ही आरोग्यता की जड़ है।

अतः मेरा इतना ही निवेदन है कि संसार में इस समय अनेक प्रकार की भयंकर बीमारियां चल रही हैं उनसे बचने के लिए ही सही हमें जैनाचारा को अपने जीवन में स्थान देना चाहिए। उसके अनुसार हमारे खान-पान, रहन-सहन का ढंग संयमित होता है और हम भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखते हैं तो स्वस्थ रह सकते हैं।

******

सामयिक ज्वलन्त समस्या पर विशेष....

सल्लेखना : जैन धर्म की सर्वोच्च साधना, ना कि आत्महत्या

- **प्रो. फूलचन्द 'प्रेमी'** निदेशक,
बी.एल. इंस्ट्रीच्युट आफ इण्डोलॉजी,नई दिल्ली

राजस्थान उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति सुनील अम्बवानी एवं न्यायमूर्ति अजीत सिंह की खण्डपीठ ने संथारा (सल्लेखना) प्रथा पर रोक लगाते हुए ऐसा करने वाले के खिलाफ भारतीय दण्ड संहिता की धारा 306 के अन्तर्गत मामला दर्ज करने के निर्देश दिये हैं।

प्रसन्नता की बात है कि माननीय सुप्रीम कोर्ट ने दि. ३१ अगस्त, १५ को राजस्थान उच्च न्यायालय के उक्त निर्णय पर 'स्टे' दे दिया है।

संथारा (सल्लेखना) जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। श्रवणबेलगोला के पहाड़ों में जैन आचार्यों ने, श्रमणों की आत्मसाधना का प्रमाण वहाँ के शिलालेखों से पता चलता है कि सम्राट-चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैनधर्म की दीक्षा लेकर स्वयं सल्लेखना (संथारा) किया था। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने 36 दिवसीय सल्लेखना धारण कर महाप्रयाण किया था। आचार्य विनोबा भावे ने अंतिम समय 155 घण्टे का संथारा धारण किया था। उन्होंने आत्म हत्या नहीं की थी। सल्लेखना (संथारा) और आत्महत्या में बड़ा मौलिक अन्तर है। आत्महत्या- क्रोध के कारण, वासना व मोह के कारण, व्यापार में बड़ा नुकसान, किसी प्रिय के वियोग, इच्छाएँ पूरी न होने से करता है। जबकि सल्लेखना- समता भावों से, शरीर अत्यन्त वृद्ध हो जाने से, असाध्य रोग हो जाने से, रत्नत्रयधर्म के परिपालनार्थ, शरीर को आत्म-जागरण पूर्वक त्याग करना है। इस संबन्ध में विद्वान लेखक डॉ. प्रेमी जी का आलेख चिंतनीय है एवं सल्लेखना पर विशद प्रकाश डाल रहा है। - **संपादक**

जैनधर्म ने जीवन जीने की कला की जो आदर्श पद्धति प्रस्तुत की है। उसी प्रकार उसने मृत्यु को महोत्सव बनाकर दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक करने की कला सिखाने की भी आदर्श पद्धति प्रस्तुत की है। इस आधार पर कोई भी मनुष्य अपने सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जीवन और मृत्यु-इन दोनों को सार्थक बना सकता है। जैन साधना पद्धति में जो संयममय जीवन जीते हैं, वे इसके पूर्ण अधिकारी बनते हैं, क्योंकि संथारा-सल्लेखना एक साधारण एक दिन की क्रिया नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवन की साधना की असाधारण फलश्रुति और सार्थकता है।

सल्लेखना विषयक साहित्य –

'मृत्यु-महोत्सव' के रूप में प्रसिद्ध सल्लेखना, संथारा या समाधिमरण जैसे अति महत्वपूर्ण विषय पर जैनाचार्यों ने काफी कुछ लिखा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल जैसी प्रायः सभी प्राचीन भारतीय भाषाओं में सल्लेखना विषयक जैन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। अर्धमागधी प्राकृत के आगम साहित्य के साथ ही दो हजार वर्ष पहले शौरसेनी प्राकृत भाषा में श्रमणाचार विषयक प्रमुख रूप से सल्लेखना, संथारा और समाधिमरण पर बहुत प्राचीन आचार्य शिवार्य द्वारा लिखा गया **'भगवती आराधना'** नामक बृहद् ग्रंथ श्रमणाचार परक होने पर भी मुख्यतः समाधिमरण विषय का सांगोपांग विवेचन करने वाला ग्रंथराज है। दूसरी-तीसरी शताब्दी के आचार्य वट्टकेर द्वारा प्रणीत मूलाचार में भी समाधिमरण का अच्छा विवेचन है। इसी तरह तीसरी शती के आचार्य समन्तभद्र स्वामी विरचित **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** सहित प्रायः सभी श्रावकाचार और श्रमणाचार **''मृत्यु-महोत्सव''** नाम के भी अनेक लघुग्रंथ तथा समाधिमरण के समय साधक को सम्बोधन के उद्देश्य से लिखी गई अनेक स्फुट रचनायें भी उपलब्ध हैं।

पं. आशाधर द्वारा लिखित **सागारधर्मामृत** ग्रंथ के अष्टम अध्याय में इस विषय का सम्पूर्ण और सजीव चित्रण किया। पं. सदासुखदास जी जैसे अनेक विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में सल्लेखना की महत्ता और सार्थकता का अच्छा विवेचन प्रस्तुत कर, स्वयं इसका स्वानुभव करते हुए जीवन के अन्त में समताभाव पूर्वक समाधिमरण द्वारा अपने जीवन को सार्थक किया।

सल्लेखना का स्वरूप एवं भेद –

सल्लेखना का शाब्दिक अर्थ है – **''सम्यग्काय कषायः लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहायनक्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना–** अर्थात् अच्छे प्रकार से काय (शरीर) और कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का क्रमशः लेखन अर्थात् कृश – क्षीण या कम करना सल्लेखना है। इस तरह बाह्य और भीतरी क्रोधादि कषायों का (उत्तरोत्तर काय और कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए) भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। इसी को समाधिमरण और संथारा भी कहा गया है। यह सल्लेखना जीवन में अर्जित समस्त व्रतों, तपों और संयम की रक्षक तथा इन सभी की साधना है, इसीलिए इसे व्रतराज भी कहते हैं।

वस्तुतः सल्लेखना शब्द, सत्–लेखना–इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम्यक् प्रकार के कषाय को क्षीण या कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। इसके आभ्यंतर और बाह्य–ये दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य सल्लेखना और अन्तरंग क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कलशारोहण की तरह है सल्लेखना – इस प्रकार सल्लेखना काय (शरीर) और कषाय के कृशीकरण– क्रमशः क्षीण करते रहने की अनुपम साधना है। जैसे किसान अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु बीज बोने से पूर्व खेत में हल द्वारा जुताई करके जमीन को पोली करता है, वैसे ही सल्लेखना भी कृशीकरण की प्रक्रिया है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय, तप, त्याग और संयमादि गुणों के द्वारा हमने अपनी भावनाओं को जिस प्रकार भावित – परिप्लावित किया है। आयु के अंत में अनशनादि विशेष तपों के द्वारा शरीर को और श्रुतरूपी अमृत के आधार पर क्रोधादि कषायों को कृश करने की प्रक्रिया को सल्लेखना कहा गया है।

जैन साधना पद्धति में सल्लेखना व्रत यद्यपि जीवन के अंत में धारण किया जाता है, किन्तु उसकी कामना, संकल्प और अभ्यास जन्म के समय से ही प्रारंभ हो जाता है। अपने नवजात शिशु को प्रथम जिनेन्द्रदर्शन हेतु श्रावक उत्सव के साथ जब मंदिर ले जाते हैं, तब वहाँ मुनिराज या गृहस्थाचार्य विद्वान् उसे आर्शीवाद देते हुए कहते हैं – **'अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिरस्तु'** अर्थात् अपमृत्यु से बचा रहे और जीवन के अन्तिम समय

समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करे।

सल्लेखना-संथारा सम्बन्धी भ्रम-निवारण –

जैन साधना-पद्धति में साधु और श्रावक अपने संयममय जीवन के चरम बिंदु के सन्निकट पहुँचकर समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने के लिए सल्लेखना ग्रहण करते हैं और अपने शरीर में बची-खुची शक्ति को सार तत्त्व से खींचकर मृत्यु को महोत्सव बनाने का सार्थक प्रयास करते हैं। जीवन के अवशिष्ट बहुमूल्य क्षणों को समग्ररूप से आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में नियोजित करने का यह सर्वाधिक श्रेष्ठ उपक्रम है।

सल्लेखना या संथारा की गम्भीरता और महत्ता को न समझने वाले कुछ लोग समझते हैं कि इसमें अन्न जल का पूरी तरह त्यागकर बलात् मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पर यह सही नहीं है – क्योंकि ऐसा करना तो आत्महत्या ही कहलायेगा किन्तु जैनधर्म इसकी कदापि आज्ञा नहीं देता, क्योंकि जबतक आयुष्य है तब तक शुद्ध और मर्यादित आहार ग्रहण करते हुये अपनी संयम साधना और धर्म-ध्यान करते हुए आत्मिक विशुद्धि को प्राप्त कर जीवन के चतुर्विध आहारों में से क्रमशः एक-एक आहार को कम करते हुए अन्तिम क्षणों में बाह्य आहार आदि और आन्तरिक कषायों आदि का त्यागपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करना संथारा है।

पं. आशाधार ने सागारधार्मामृत (8/6) में ठीक ही कहा है – स्वस्थ शरीर पथ्य, आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचार के योग्य है। परंतु योग्य आहार-विहार अथवा औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, तो ऐसी स्थिति में सल्लेखना पूर्वक शरीर को छोड़ना ही श्रेयस्कर है।

सर्वार्थसिद्धि (7/22) में आचार्य पूज्यपाद ने सल्लेखना के महत्व और आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए लिखा – ''मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के सोने, चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी को भी अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं हो सकता। यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़ आदि) कारण उपस्थित हो जाए तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता है तो घर में रखे हुए उन सोना-चाँदी

आदि बहुमूल्य पदार्थों को, जितना संभव बने, वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नों का संचय करने वाला व्रती-मुमुक्षु-गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है, उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता।

यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाए तो उनका वह पूरी शांति के साथ परिहार करता है। लेकिन जब शरीर में असाध्य रोग, अशक्य और आकस्मिक उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असंभव समझता है, तो आत्मगुणों की रक्षा हेतु क्रमशः आहारादि का त्याग प्रीतिपूर्वक समभाव से सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग करता है।

क्योंकि साधक अपने जीवन में जब यह देखता है कि उसकी मन, वचन, और काय की शक्ति क्षीण हो रही है तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की अभिवृद्धि नहीं हो रही है, तब उसे मरण अभिप्रेत होता है। इसका फलितार्थ यह है कि मनुष्य जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे वह इस विधि से मरने के लिए भी स्वतंत्र है।

वस्तुतः मुनि अपनी संयम-यात्रा का निर्वहन करते-करते जब यह अनुभव करने लगे कि शरीर और इंद्रियों की हानि हो रही है, योग क्षीण हो रहे हैं, पराक्रम घट रहा है और स्वाध्याय और संयम साधना आदि में बाधा आ रही है—तब वह शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाए। वह सोचे मुझे जो करना था, मैं वह कर चुका हूँ। मुझ पर जो दायित्व था, उसका मैंने उचित निर्वाह किया है। अतः अब मुझे सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (123) में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-जीवन में आचरित अनशनादिक विविध तपों का फल अंत समय गृहीत सल्लेखना है। अतः अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि शरीर धारण का उद्देश्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि है। जब वह न हो सके तो इस शरीर को सल्लेखना के लिए समर्पित कर देना चाहिए।

श्रमण की तरह श्रावक भी अपने मरण को सुधारने के लिए लालायित रहता है तथा शारीरिक कृशता की स्थिति में सल्लेखना के मार्ग को स्वीकार

करने का इच्छुक भी रहता है। वह नहीं चाहता कि शरीर का त्याग रोते-बिलखते, लड़ते-झगड़ते, संक्लेश परिणाम करते और आर्त-रौद्रध्यान तथा रागद्वेष की भट्टी में जलते हुए प्रमत्त या असावधान या बेहोशी की अवस्था में हो, इनकी जगह दृढ़, शांत, आत्मस्थ और सरल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण 'अप्रमत्त एवं जागृत' स्थिति में वीरवृत्ति अर्थात् वीरता के साथ समाधिमरण पूर्वक उसका पार्थिव शरीर छूटे। इस महान् लक्ष्य की संप्राप्ति में सल्लेखना धारणपूर्वक मृत्यु ही महोत्सव की अवधारणा को पुष्ट करती है।

सल्लेखना धारण की परिस्थितियाँ –

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार (122) में कहा है –

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

अर्थात् जिसके प्रतिकार (निवारण) का कोई उपाय नहीं हो, ऐसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग के उपस्थित होने पर जीवन में परिपालित धर्म (श्रद्धा, ज्ञान और आचार) की रक्षा के लिए शरीर का विधि पूर्वक त्याग करना सल्लेखना या समाधिमरण है।

साधक अपने जीवन में सर्वप्रथम यह देखता है कि हमारे शरीर और आत्मा – इन दोनों में से कौन नश्वर और कौन शाश्वत है? मेरा भला किसमें निहित है? ऐसी स्थिति में नश्वर शरीर की अपेक्षा साधक शाश्वत आत्मा और उसके कल्याण को ही सर्वाधिक महत्व उचित समझता है। पं0 आशाधार ने सागारधर्मामृत (8/7) में कहा है–

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः दुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः॥

अर्थात् अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के लिए इच्छित फलदायक धर्म का नाश नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि शरीर नष्ट हो जाने पर तो पुनः दूसरा शरीर मिल सकता है, किन्तु धर्म का पुनः मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः अपने संयममय जीवन को सार्थक बनाने हेतु प्रत्येक साधु और श्रावक के लिए समाधिमरण की प्राप्ति हेतु सजग और प्रयत्नशील रहना अपेक्षित है। क्योंकि आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न (जुदा-जुदा) मानने और जानने वाले अर्थात् भेदविज्ञान की साधना करने वाले ज्ञानी पुरुष मात्र विषय कषाय

की बाह्य पोषक वस्तुओं को ही नहीं, अपितु अपने शरीर को भी अपना नहीं किन्तु इसे बंधन मानते हैं। अतः उसके छोड़ने में उन्हें दुःख की जगह आनन्द प्राप्त होता है। वे रत्नत्रय तथा संयम-साधना को ही सर्वोपरि मानते हैं। अतः इनकी रक्षार्थ इस नश्वर शरीर का त्याग रूप मृत्यु भी महोत्सव बन जाती है।

पं0 आशाधार ने सागारधर्मामृत (8/13-16, 18, 40) में कहा है कि- ''जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग- ये सब शरीर के ही होते हैं, आत्मा के कदाचित् नहीं। अतः यह शरीर मेरा कोई नहीं-इस प्रकार शरीर के प्रति मूर्च्छा रहित होना चाहिए। साधक उपवासादिक साध्य तपों के द्वारा शरीर को शास्त्रोपदेश रूपी अमृत से कषायों को कृश करके चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका) के समक्ष (सुयोग्य निर्यापगाचार्य की सन्निधि में) समाधिमरण के लिए उद्यमी होवे। क्योंकि चिरकाल से आराधित धर्म भी मरण समय में विराधित होता हुआ किल हो जाता है, अर्थात् उसकी सम्पूर्ण आराधना निष्फल हो जाती है। किन्तु यदि मृत्यु के समय धर्म सध जावे तो प्राणी के चिरकाल से उपार्जित पापों का विनाश भी संभव है।

सल्लेखना-संथारा ग्रहण की विधि –

जैन साधना पद्धति के अनुसार कोई साधक असमय में मृत्यु को निमंत्रण नहीं देता, परन्तु जब संयमपूर्वक जीने का अन्य कोई उपाय शेष न रहे तो अपने संयम की रक्षार्थ शरीर का मोह छोड़कर आत्मलीन हो जाता है। यह ऐसा ही है जैसे हम अपनी कोई प्रियवस्तु फेंकना नहीं चाहते, परन्तु हमारी नौका भारी होकर नदी में डूबने लगे तो बहुमूल्य वस्तु को बचाने के लिए हम अल्पमूल्य वाली वस्तुओं को तत्काल नदी में फेंक देते हैं। सल्लेखना में भी जीवन की नाव डूबते समय संयम-साधना जैसी दुर्लभ और बहुमूल्य निधि को बचाने के लिए साधक शरीर जैसी तुच्छ वस्तु का मोह त्याग देता है। वह मृत्यु को माता के समान उपकारी मानता है। क्योंकि मृत्यु ही जीर्ण-शीर्ण शरीर से छुड़ाकर हमें नया शरीर प्राप्त कराती है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसी सम्बन्ध में आगे कहा है कि सल्लेखना धारक को सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनों से ममत्व और धनादि में स्वामित्व की बुद्धि को छोड़कर पवित्र मन होना चाहिए। उसके बाद

अपने परिवार और अपने से संबंधित व्यक्तियों के प्रति जीवन में हुए अपराधों को प्रियवचन बोलकर सबसे क्षमा याचना करके और दूसरों को भी क्षमा करके, अपने अंत:करण को निष्कषाय बनाए। सभी से क्षमायाचना करना तथा स्वयं भी मन, वचन और कायपूर्वक सबको क्षमा कर देना, आत्मोदय की दृष्टि से उत्तमोत्तम कार्य हैं। अंत समय में क्षमा करने वाला संसार का पारगामी होता है और वैर-विरोध रखने वाला अर्थात् क्षमा धर्म को न अपनाने वाला जीव अनंत संसारी होता है।

सल्लेखना में संलग्न साधक को न तो शीघ्र मरण की कामना करना चाहिए और न अधिक जीने की आकांक्षा हो। उसे तो अपनी अजर-अमर आत्मा के अनुभव में ऐसा लीन हो जाना चाहिए कि वह जीवन और मरण के विकल्पों से बहुत ऊपर उठ जाये। उसके लिए इन दोनों में कोई विशेष अन्तर न रह जाए।

आचार्य समन्तभद्र ने (रत्नकरण्ड. – 123 में) ठीक ही कहा है –

अन्तक्रियाधिकरणं तप:फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥

अर्थात् जीवन के अंत में समाधि का आलंबन लेकर शरीर का त्याग करना ही जीवन में की गई तपस्या का फल है, जिसे मुनि और गृहस्थ सभी को समान रूप से अपनाना चाहिए और शक्तिभर पूर्ण प्रयत्न कर समाधिमरण करने का अवसर चूकना नहीं चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय (176) में कहा है – ''मैं मरण के समय अवश्य विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा। इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरणकाल आने से पहले ही सल्लेखना व्रत अंगीकार करना चाहिए।'' आ. सकलकीर्ति ने भी कहा है –

धीरत्वेन सतां मृत्यु, कातरत्वेन चंद् भवेत्।
कातरत्वं बतात्त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम्॥

मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कातरता (दीनता) से भी प्राप्त होती है, तब कातरता को साहस के साथ छोड़कर धीरतापूर्वक मरण करना श्रेष्ठ है।

जैनकवि पं. दीनदयालु जी ने कहा है –

सम्यक्त्वी सोचे यही, मृत्यु महोत्सव चंद् मान।
मृत्यु बिन सुख न मिले, क्यों न महोत्सव जान॥

श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिए कि मैं अपने मरण-समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा, क्योंकि मरण समय प्रायः मनुष्यों के परिणाम बहुत संक्लेशपूर्ण हो जाते हैं तथा कुटुंबीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूट पाता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसी के सल्लेखना होती है।

समाधिमरण वही प्राप्त कर सकता है, जो प्रारंभ से ही धर्म की आराधना में सावधान रहा है। कदापि ऐसा भी संभव है कि किसी ने यावज्जीवन धर्माराधना में चित्त न लगाया हो, किंतु अंतकाल में अपूर्व विवेक का बल प्राप्त कर समाधिमरण कर ले, किंतु यह काकतालीय न्यायवत् अत्यंत कठिन है। जैसे ताड़वृक्ष से अचानक फल टूटकर उड़ते हुए कौए के मुख में वह फल प्राप्त हो जाना कठिन है, वैसे ही संस्कारहीन जीवन में समाधिमरण पाना दुस्साध्य है।

सामान्य नियम यही है कि – ''**चिरंतनाभ्यास निबंधानेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः**'' अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित बुद्धि ही गुण अथवा दोषों में जाती है। इसलिए हर मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन धर्माराधना में लगाकर अंतिम सल्लेखना और समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करनी चाहिए।

शरीर त्याग के प्रकार – जैन शास्त्रों में शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है – **१. च्युत** – स्वतः आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है, वह च्युत कहलाता है। **२. च्यावित** – जो विष-भक्षण, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जलप्रवेश आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है, वह च्यावित कहलाता है। **३. त्यक्त** – जो रोगादि के हो जाने पर और उनकी असाधयता एवं मरणकाल में सल्लेखना या अनशनपूर्वक शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त कहलाता है।

शरीर त्याग के इन तीन भेदों में तृतीय त्यफ्र-शरीरत्याग को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसे ही समाधिमरण या वीरमरण कहते हैं। क्योंकि त्यफ्र अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा उसे कोई संक्लेश पैदा नहीं होता।

मरण के भेद – तत्त्वार्थराजवार्तिक (भखा अकलंकदेव कृत) के अनुसार मरण के दो प्रकार हैं – **१. नित्य मरण** – प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है, वह नित्य मरण है।

२. तद्भव मरण – शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है। नित्यमरण तो निरंतर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर शरीरांत रूप जो तद्भव मरण है उसका कषायों एवं विषय वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव मरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए सल्लेखना की जाती है।

भगवती आराधना के कर्ता आचार्य शिवार्य के शब्दों में ''सल्लेखना के लिए वही तप या उसका वही क्रम अंगीकार करना चाहिए जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर धातु के अनुकूल हो। क्योंकि सामान्यतः सल्लेखना का जो क्रम बतलाया गया है, वही क्रम रहे – ऐसे एकान्त नियम में साधक को प्रतिबद्धता हो सकती है। अतः जिस प्रकार शरीर का क्रमशः सल्लेखना (तनूकरण) हो, वही प्रकार अंगीकार करना उचित है। सल्लेखना से अनंत संसार के कारणभूत कषायों का आवेग उपशांत अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म मरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है।

सल्लेखना में सहयोगियों की भूमिका का महत्त्व –

सल्लेखना के समय गुरु, आचार्य और संघ आदि के सहयोग की भूमिका बड़ा महत्त्व रखती है। अतः साधाक को भीतर के आवेग और कालुष्य को मिटाकर सल्लेखना धारक को उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिए, क्योंकि साधर्मी तथा गुरु आदि की सहायता से अशुभ कर्म या अन्यान्य तत्व विघ्न उत्पन्न नहीं कर पाते। साधक को चाहिए कि व्रत के अतिचारों (दोषों) को साधर्मिकों अथवा आचार्य के सम्मुख प्रकट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि विधियों से दोषों का शोधन करे। क्योंकि ज्ञात दोषों का प्रायश्चित और अज्ञात दोषों की आलोचना करने वाला निर्भार (निःशल्य) हो जाता है।

सल्लेखना-धारक अपने जीवन में किए, कराए और अनुमोदित (कृत, कारित और अनुमोदन से) समस्त हिंसादि पापों को निश्छल भाव से आलोचना (खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यंत महाव्रतों का अपने में पुनरारोपण करे।

इसके साथ ही शोक, भय, खेद, ग्लानि और आकुलता को भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साह को जागृत करके आगम वचनों द्वारा मन को प्रसन्न रखे।

सल्लेखना के साथ वर्तमान या आगामी भव की किसी भौतिक कामनाओं की पूर्ति को नहीं जोड़ना चाहिए। सल्लेखनाधारक की संसार के किसी भोगोपभोग की या इंद्रादि पद प्राप्ति के लिए राग और अप्राप्ति के लिए द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएं भी नहीं होनी चाहिए। उसके भीतर सिर्फ समाधिपूर्वक पूर्ण जाग्रतावस्था में देह-मुक्ति की ही भावना रहनी चाहिए। इसी साध्य के लिए उसने जीवन भर व्रत-संयम-तपादि के पालन का घोर प्रयत्न किया है और अंतिम समय में भी वह उस प्रयत्न से चूकना नहीं चाहता है। सल्लेखना की सम्पूर्ण प्रक्रिया के संबंध में अनेक जैन शास्त्रों में विस्तृत और विशद् विवेचन उपलब्धा है।

सल्लेखना की रक्षा के उपाय –

वस्तुतः नश्वर से शाश्वत वस्तु का लाभ हो तो कौन विवेकी पुरुष उसे छोड़ने को तैयार होगा? अतएव सल्लेखना धारकों को निम्नलिखित पाँच दोषों से स्वयं को बचाना चाहिए –

1. जीवन की आशंसा 2. मरण की आशंसा 3. मित्र के प्रति अनुराग 4. भुक्त भोगों की स्मृति और 5. आगामी भव में अच्छे भोगों की प्राप्ति की कामना।

सल्लेखना काल में इन पाँच विषयों की आकांक्षा कदाचित् भी नहीं करना चाहिए। इन दोषों के चिन्तन से सल्लेखना बिगड़ सकती है। अतः साधक बड़ी सावधानीपूर्वक इनसे बचते हुए आत्मध्यान में लीन रहे।

सल्लेखना आत्मघात (आत्महत्या) नहीं है –

कुछ भौतिकवादी विद्वान्, जिन्हें किसी धर्म के किसी भी आचार विशेष के मर्म या उद्देश्य की गहराई समझने की ुर्सत नहीं, ऐसे लोग इस जीवन की उच्चतम साधना रूप सल्लेखना या समाधिमरण को आत्महत्या जैसा जघन्यकृत्य तक कहने से नहीं चूकते। किन्तु आत्महत्या को कायरतापूर्ण घृणित कार्य कार्य बतलाने वाला और अहिंसा को सर्वोच्च धर्म (आचार) या प्राण मानने वाले जैनधर्म के किसी भी साधना पक्ष से कल्पना कैसे की जा सकती है कि उसमें हिंसा का लेशमात्र निहित हो ?

अहिंसा का सम्पूर्णता से पालन करने के लिए जैनधर्म में, लोक प्रचलित किंचित् भी हिंसक, मिथ्या एवं पाखण्ड युक्त अनेक मान्यताओं, मतों और सिद्धान्तों आदि को पूरी तरह नकारा गया है, चाहे इसके कारण उसे कितनी ही उपेक्षा, अपमान कठिनाईयों या विपत्तियों का सामना भले ही करना पड़ा हो, किन्तु जैनधर्म ने अहिंसा सिद्धान्त के परिपालन और प्रतिपादन की दृढ़ता में किंचित् भी छूट नहीं दी। तब फिर सल्लेखना जैसी दुर्लभ और पवित्र साधना में आत्महत्या जैसे हिंसक, कायरतापूर्ण जघन्य कृत्य की मान्यता या भावना यहाँ कैसे निहित हो सकती है ?

जीवन का अन्त दोनों स्थितियों में है किन्तु सल्लेखना और आत्मघात दोनों में जमीन आसमान जैसा अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है, जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनायें पूर्ण नहीं हुई हैं, वह संघर्षों से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता है। आत्मग्लानि, आवेग, हताशा, द्वेषभाव, पीड़ा, क्रोधादि मनोविकार जैसे विविध कारणों से कोई कायर व्यक्ति ही आत्महत्या करता है, किन्तु सल्लेखना की साधना बिना किसी आकांक्षा के निर्विकार मन से संयम साधना के भावों से वीरतापूर्वक स्वीकार की जाती है।

सल्लेखना अंगीकार करने वाला कोई साधक असमय में मृत्यु को आमंत्रित नहीं करता, किन्तु साधक को जब अपनी आयु का अंत निकट दिखता है अथवा प्रतिकार न किये जाने वाली कोई ठीक न होने वाली शारीरिक व्याधि जैसी प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न हो गई हो, तब वह भेदविज्ञान पूर्वक, क्रमशः चार प्रकार आहार के त्यागपूर्वक सल्लेखना की साधना करता है। इसमें भी उसे जीवन या मरण की आकांक्षा आदि पूर्वोक्त पाँच दोषों से रहित होना अनिवार्य है, तभी उसकी सल्लेखना सफल होती है। सागारधर्मामृत (8/8) में कहा है – **न चात्मघातो *स्तिव्रतक्षतौ वपुरुपेक्षितुः।**
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यौर्हिंसतः स हि ॥

अर्थात् संयम साधना में ग्रहण किये हुए व्रतों के विनाश का कारण उपस्थित होने पर शरीर की उपेक्षा करने वाले के आत्मघात का प्रसंग नहीं होता, क्योंकि वह आत्मघात कषाय के आवेश से, विष आदिक से प्राणों को नष्ट करने वाले व्यक्ति के ही होता है।

******

पाठकों के पत्र .....

<u>पत्र क्रं. १</u>

आदरणीय पंडित जी,

आपका कृपा पत्र मिला, यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'अनेकान्त' का अक्टू.-दिस. 2015 का अंक ''जैनधर्म और आयुर्वेद'' विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में मैं कुछ सुझाव एवं जानकारियाँ भेज रहा हूँ।

जैनधर्म और आयुर्वेद जैसे विषय पर किसी जैन-अजैन विद्वान ने गंभीर चिंतन पूर्वक लेखनी चलाई हो ऐसा मेरी दृष्टि में फिलहाल नहीं है। पूर्व में मुनि कान्तिसागर जी ने कुछ लिखा था। जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रंथ दक्षिण भारत के ग्रंथ भण्डारों में पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित हैं ऐसी जानकारी प्राप्त हुई थी। जैसे धर्मस्थल के पुस्तकालय में पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित आयुर्वेद के ग्रंथ मूडबिद्री के जैनमठ में चारूकीर्ति जी स्वामी के व्यक्तिगत संग्रह में कुन्दाकुन्दाचार्य द्वारा रचित वैद्यगाहा (वैद्यगाथा), इसी प्रकार पल्लपा शास्त्री बंगलौर के व्यक्तिगत संग्रह में वैद्यक ग्रंथ 'अमृतनन्दिन' द्वारा रचित अकारादि निघण्टु आदि। सन् 1946 में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा कन्नड़ सीरिज के अंतर्गत कवि मंगराज द्वारा रचित विश्वविज्ञान का ग्रंथ 'खगेन्द्रमणिदर्पण' मुद्रित प्रकाशित किया गया था। जिसकी प्रतियां दक्षिण के अनेक पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। यह ग्रंथ कन्नड़ लिपि में रचित है किन्तु भाषा संस्कृत है (पृष्ठ-350)। एक ग्रंथ उदयपुर में प्रो. डॉ. उदयचन्द जैन पीयुकुंज्ज उदयपुर के पास भी है- जोणिपाहुड। जिसका संपादन, प्रकाशन भी इन्होंने किया है। श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा रचित 'सिद्धान्तरसायनकल्प' की जानकारी प्राप्त हुई है। जो बंगलौर के किसी ज्योतिष विद्वान के पास संरक्षित है। इस विषय में शोध अनुसन्धान की अपार संभावनाएँ हैं।

आपकी कृपा के लिए आभारी। आपका

आचार्य राजकुमार जैन
(आयुर्वेदाचार्य, दर्शनाचार्य, साहित्यायुर्वेद शास्त्री),
राजीव काम्पलेक्स के पीछे, इटारसी-461111 (म.प्र.)

पत्र क्रं. २

'अनेकान्त' जैन विद्या एवं प्राकृत वाड्.मय में सन्निविष्ट शोध-खोज के विविध पक्षों को समीक्षा सिद्धान्त के मानकों पर यथावत् प्रस्तुत कर रहा है। आप सम्पादन में वाड्.मय के विविध पक्षों को उदार दृष्टि से सम्यृक्त-अथ च अभिषिक्त करते हुए प्रस्तुत करते हैं। एतदर्थ अनेकाशः बधाइयाँ।

आपकी इस पत्रिका में 'युगवीर गुणाख्यान' के स्थायी-स्तम्भ की शुरूआत बहुत अच्छी पहल है। इसके माध्यम से आप शोध-संसार को यह सन्देश भी पहुँचा रहे हैं कि-

'न हित कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।'

-प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु',
28, सरोज सदन, सरस्वती कालोनी, दमोह (म.प्र.) 470661

पत्र क्रं. ३

मान्य सम्पादक जी- 'अनेकान्त'

विगत 3-4 वर्षों से, वीर सेवा मंदिर-शोध संस्थान की प्रतिनिधि-पत्रिका 'अनेकान्त' शोध त्रैमासिकी नियमित मिल रही है, जिससे वीर सेवा मन्दिर की गतिविधियों से भी जुड़ गया हूँ। यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि अनेकान्त अंक 68/3 (जु.-सित. 15) से 'युगवीर-गुणाख्यान' नाम से स्थायी स्तम्भ शुरू किया गया है, जो पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' साहब का वीर सेवा मंदिर को दिये यशस्वी अवदान का मूल्यांकन व उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। 'मेरी भावना' जैसी अमर कृति रचकर उन्होंने अपना नाम भी अमर कर लिया।

अनेकान्त में प्रकाशित आलेख जैनदर्शन का ज्ञान कराने में दीप-स्तम्भ है। अनेक बधाई एवं सम्पादक डॉ. जयकुमार जैन व मेरे मित्र संपादक मण्डल सदस्य पं. निहालचंद जैन को बहुत-बहुत साधुवाद।

- एस. सी. जैन, संयुक्त कलेक्टर (से.नि.),
शांति विहार कालोनी, मकरोनिया, सागर-470 004

आवश्यक सूचना

'अनेकान्त' के लिए, शोधालेख भेजते समय विद्वान-लेखक निम्नांकित बातों पर ध्यान देंगे :-

(१) शोधालेख जैनधर्म/दर्शन से सम्बन्धित हो, परन्तु विवादस्पद न हो। उसकी मौलिकता का एवं अन्यत्र कहीं प्रकाशित न होने का प्रमाणपत्र स्व-हस्ताक्षर सहित संलग्न करें।

(२) 'अनेकान्त' शोध-त्रैमासिकी का उद्देश्य- जैन विद्या के विभिन्न विषयों में शोध-प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना तथा जैनधर्मानुरागी आवाल-बृद्ध पाठकों के लिए सरल एवं बोधगम्य शैली में ऐसे लेखों का प्रकाशन करना है जो जनमानस में आचार-विचार को ऊँचा उठाने में सहायक बनें।

(३) वीर सेवा मंदिर 'अनेकान्त' का प्रकाशन विगत 68 वर्षों से हो रहा है। इसके वर्तमान स्वरूप में और क्या परिवर्तन लाया जा सकता है, इस सम्बन्ध में प्रबुद्ध पाठक एवं विद्वानों के सुझाव सादर आमंत्रित किये जाते हैं, ताकि इसे और अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके।

(४) विद्वानों द्वारा भेजे गये शोध-आलेख स्वीकृत होने के पश्चात् प्रकाशित होने में 6 माह से 1 वर्ष तक का समय लग सकता है। अस्वीकृत लेखों की सूचना इस कार्यालय से आपको यथासमय भेज दी जाती है।

(५) 'युगवीर गुणाख्यान' स्तम्भ के लिए विद्वान लेखकों से अनुरोध है कि वे पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'जी के संबन्ध में संस्मरण उनके ग्रंथों की समीक्षा आदि सारगर्भित विचार लिखकर भेज सकते हैं।

- सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल
के आदेशानुसार

ग्रंथ के समीक्षा के अंतर्गत-प्राप्ति स्वीकार

वीर सेवा मंदिर को निम्नांकित 25 साहित्यिक- किताबें साहित्य विदुषी श्रीमती प्रभा जी, 7 अंसारीरोड, दरियागंज नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त की गई :-

(1) **हैमबरगर (** उपन्यास) लेखक- कमल कुमार, प्रकाशक हिन्दी बुक सेंटर, 4/5बी, आसफअली रोड, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण- 1996, मूल्य 120 रुपये।

(2) **अजनबी जजीरा** (उपन्यास), लेखिका- नासिरा शर्मा, प्रकाशक-लोक भारती प्रकाशन-नयी दिल्ली-2, नं. 1, नेताजी सुभाषा मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण-2012, मूल्य : 300रुपये।

(3) **उकाव** (उपन्यास), लेखक- क्षितिज शर्मा, प्रकाशक-किताबघर प्रकाशन, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, संस्करण-2010, मूल्य: 250रुपये।

(4) **नंगातलाई का गाँव** (स्मृति-आख्यान) लेखक-विश्वनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाषा मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, दूसरा संस्करण-2006, मूल्य : 175 रूपये।

(5) **हमारा क्षितिज** (पुरस्कृत कथा कृति), लेखक-सुधाकर अदीब, प्रकाशक- सुलभ प्रकाशन, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ-226001, संस्करण-2009, मूल्य : 100 रूपये।

(6) **मुड़-मुड़के देखता हूँ** (आत्मकथा), लेखक-राजेन्द्र यादव, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2001, मूल्य : 195 रूपये।

(7) **खाना बदोश** (आत्म कथा)- साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत, लेखक-अजीत कौर, प्रकाशक-किताबघर, प्रकाशन-नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008, मूल्य: 150 रूपये।

(8) **ऑब्जेक्शन मी लार्ड** (उपन्यास) लेखिका-निर्मला भुराड़िया, प्रकाशक- सामयिक प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2008, मूल्य : 120 रूपये।

(9) **जम्मू- जो कभी शहर था** (उपन्यास), लेखिका-पद्मा सचदेव, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, 18,

इन्स्टी. एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-3, प्रथम संस्करण-2003, मूल्य : 150 रूपये।

(10) **गिलिगडु** (उपन्यास), लेखिका- चित्रा मुदगल, प्रकाशक- सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2002, मूल्य : 150 रूपये।

(11) **आदमी स्वर्ग में** (उपन्यास) लेखिका- विष्णु नागर, प्रकाशक- सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2007, मूल्य : 150 रूपये।

(12) **महाभारती** (द्रोपदी के महान चरित्र पर केन्द्रित उपन्यास), लेखिका- चित्रा चतुर्वेदी 'कार्त्तिका', प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली-3, पुनर्नवा संस्करण-2003, मूल्य : 250 रूपये।

(13) **सागर तट के शहर** (कहानी संग्रह) लेखक-हिमांशु जोशी, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-3, प्रथम संस्करण-2008, मूल्य : 90 रूपये।

(14) **निर्वासन** (कहानी संग्रह), लेखिका-उर्मिला शिरीष, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली-3, प्रथम संस्करण-2003, मूल्य : 60 रूपये।

(15) **कलम हुए हाथ** (15 कहानियाँ-बलराम जी) लेखक- बलराम, प्रकाशक-भावना प्रकाशन, 109ए, पटपड़गंज, दिल्ली-91, संस्करण- 2006, मूल्य : 150 रूपये।

(16) **डॉ क्यू ड्रामा तथा अन्य कहानियां,** लेखक-रमेश उपाध्याय, प्रकाशक-शब्द संधान, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-63, प्रथम संस्करण-2006, मूल्य : 160 रूपये।

(17) **प्रतिनिधि कहानियाँ** (10 प्रतिनिधि कहानियां), लेखाक-रामदरश मिश्र, प्रकाशक-किताबघर प्रकाश, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2005, मूल्य : 125 रूपये।

(18) **चर्चित कहानियां,** लेखक-महीपसिंह,प्रकाशक-सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, संस्करण-2005, मूल्य : 100 रूपये।

(19) तीली तीली आग (कहानी संग्रह), लेखाक-शरद सिंह, प्रकाशक- सुनील साहित्य सदन, दरियागंज नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2003, मूल्य : 150 रुपये।

(20) कहत कबीर (व्यंग्य-संग्रह), लेखाक-हरिशंकर परसाई,

प्रकाशक-ज्ञान भारती, रूपनगर, दिल्ली-7,प्रथम संस्करण-1988, मूल्य : 35 रूपये।

(21) **प्रेमचन्द के फटे जूते** (व्यंग्य संग्रह), लेखक-हरिशंक परसाई, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-3, तीसरा संस्करण-2004, मूल्य : 90 रुपये।

(22) **अपना घर** (चुनी हुई कविताएँ) लेखक-मुनि क्षमासागर, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-2, पहला संस्करण-2005, मूल्य : 65 रूपये।

(23) **एक टुकड़ा बंसत** (कविता संग्रह), लेखक-कन्हैयालाल नंदन, प्रकाशक-राजपल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-2000, मूल्य : 125 रुपये।

(24) **स्पंदित प्रतिबिम्ब** (कविता संग्रह) लेखक-अमरनाथ 'अमर', प्रकाशक- किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2002, मूल्य : 150 रुपये।

(25) **आवाज भी एक जगह है,** लेखाक-मंगलेश डबराल, प्रकाशक-वाणी प्राकशन, नयी दिल्ली-2, द्वितीय संस्करण-2004, मूल्य : 100 रुपये।

ग्रन्थ-समीक्षा

भविष्यदत्त काव्य (महाकवि विबुध श्रीधर कृत)

सम्पादन एवं अनुवाद- प्रो. डॉ. राजाराम जैन डी. लिट्
प्रकाशक- श्री भा. दि. जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा
खण्डेलवाल जैन मंदिर परिसर, ५ राजा बाजार कनाट प्लेस, नई दिल्ली-१, प्रथम संस्करण- २०१५, मूल्य ९००रुपये, पृष्ठ-३४४

उक्त ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित था। जीर्ण-शीर्ण दुर्लभ पाण्डुलिपि से इसका सम्पादन व अनुवाद। प्रथमानुयोग- साहित्य की शैली में, समीक्षात्मक प्रस्तावना (लगभग 20 पृष्ठों) सहित उक्त ग्रन्थ, राष्ट्रपति सम्मान पुरस्कार (2000ई.) से पुरस्कृत डॉ. राजाराम जी ने रूपायित किया। पन्द्रह सर्गों में भविष्य दत्त की कथा- 1513 संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। ग्रन्थ के अन्त में शब्दानुक्रमणिका (18 पृष्ठों) महत्त्वपूर्ण हैं ग्रन्थ पठनीय तथा कथा-वस्तु सरल बोधगम्य शैली में है।

भावभीनी श्रद्धांजलि-

लाला अजित प्रसाद जैन

वीर सेवा मंदिर के मंत्री श्री सुनील जैन (पीतल वाले) के पूज्य पिताश्री ला. अजितप्रसाद जी का लम्बी बीमारी के बाद 23 मई 2015 को देहावसान हो गया। लालाजी जीवन के अंतिम 25 वर्षों से हस्तिनापुर बड़े मंदिर में अपनी आत्म साधना में लीन रहे। धार्मिक संस्थाओं विशेषरूप से अहिंसा इंटरनेशनल, वीर सेवा मंदिर, भारतीय जैन मिलन आदि को सहयोग देते हुए खुले हाथ से दान देते रहे। व्यापार शिरोमणि के रूप में बाजार सीताराम में जैन एल्युमिनियम कं. से प्रारम्भ कर अपने व्यवसाय को उच्चतम स्तर पर प्राप्त किया। सन् 1971 में जैन एल्युमिनियम कं. के नाम से एल्युमीनियम उत्पादों का व्यापार प्रारंभ किया जो समय के साथ बढ़ती गयी और 1976 में एक और फर्म एल्युमीनियम सेन्टर के नाम से रघुश्री मार्केट में खोली। आज आपके सुयोग्य पुत्रस श्री सुनील जी की देखरेख में पनप रहा है।

आप परम मुनिभक्त रहे और साधु-मुनियों की सेवा करना उन्होंने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बनाया था। उन्हीं के जीवन-आदर्श सिद्धान्तों पर उनका सम्पूर्ण परिवार पालन कर रहा है।

वीर सेवा मंदिर परिवार पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी सदस्य दिवंगत आत्मा को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए सद्गति व शाश्वत-सुख की कामना करते हैं।

अध्यक्ष/महामंत्री, वीर सेवा मंदिर

जीवन-दृष्टि : बोधकथा

सकरात्मक सोच

प्रस्तुति- श्रीमती राखी जैन, एम० कॉम०

चिन्तन की दो दृष्टियाँ हैं - निषेधात्मक दृष्टि और सकारात्मक दृष्टि। प्रायः व्यक्ति निषेधात्मक-सोचता है जो परिणाम में उसे निराशा और कर्त्तव्य से उदासीनता देता है। निषेधात्मक सोच- जीवन में असफलता का उदय होना।

सफलता का महत्वपूर्ण सूत्र है - सकारात्मक दृष्टि से सोचना। जिसने चित्त को निर्मल और मन को एकाग्र करना सीखा है। व्यग्रता से नहीं बल्कि समग्रता की दृष्टि से सोचता है सकारात्मक सोच है।

खण्ड में उलझकर हम समग्रता को भुला बैठे हैं। जीवन दर्शन में हमाने शरीर खण्ड को पकड़कर आत्मा भी अखण्डता को भुला दिया है। अखण्ड में तो खण्ड उपलब्ध हो सकता है, परन्तु खण्ड में तो खण्ड स्वयं खण्डित हो जाता है।

यदि चेतना को सम्हाल लिया तो शरीर भी संभल जाता है और आत्मा भी। आत्मा को कमजोर बनाकर शरीर को सम्हालना मूढ़ता है। आत्मा को सशक्त बनाकर जो भी साधना की जाती है उससे शरीर भी बना रहता है।

हमारी सोच समग्रता के लिए हो, अखण्डता के लिए हो तभी वह सकारात्मक सोच बन पायेगी।

एक ऐसी घटना है जो जीवन के प्रति सकारात्मक सोच के लिए प्रेरित करती है। यह घटना भी एक चोर से सम्बन्धित है। एक चोर एक गरीब परन्तु साधु स्वभाव वाले गृहस्थ के घर में चोरी करने घुसा। उसने देखा घर में कुछ सामान ही नहीं है। खाली घर था। घर का मालिक एक कमरे में मद्धिम केण्डल जलाए कुछ लिख रहा था। मालिक ने देखा कि घर में कोई घुसा है। जैसे ही उसने उठकर देखा कि चोर बाहर जाने लगा।

उन्होंने कहा- एक तो मेरे घर कोई आता नहीं, मेरा भाग्य है कि कम से कम इस गरीबखाने पर कोई आया तो है। तुम्हें खाली हाथ कैसे जाने दें। चलो मेरे साथ घर में कुछ खोजते हैं, शायद कुछ मिल जाये। खोजते खोजते एक अखबार के नीचे दस रूपया का नोट मिल गया। उसे सौंपते हुए बाहर विदा देने निकला। रात बहुत हो गयी थी और ठण्ड बढ़ चली थी। मालिक बोला- इतनी रात ठण्ड में जा रहे हो यह कम्बल ही लेते जाओ। मैं तो किसी तरह रात गुजार लूँगा।

चोर सोचने लगा। अभी तक मैंने चोरों के घर चोरी की है। परन्तु आज सही साहूकार मिला है, जो कह रहा है कि बाहर ठण्ड है। कम्बल लेते जाओ। घर में कुछ नहीं है, फिर भी कह रहा है कि तुम आये हो तो खाली कैसे जाने दें। धन्य है- वस्तुतः जो देता है वही साहूकार है। चोर आगे बढ़ गया। कुछ आगे बढ़ा ही था कि कुछ लोगों ने उसे देख लिया। अरे यह कम्बल तो उस भले सज्जन साधु स्वभाव वाले का है। उसे पकड़ लिया और दूसरे दिन अदालत में पेश कर दिया।

गरीब भद्र मानुष ने बयान दिया- नहीं ये दस रूपये और कम्बल मैंने ही अपने हाथ से इसे दिये हैं, यह चोर कैसे हो सकता है? चोर के लिए यह अद्भुत पहला अनुभव था, कि यह कैसा व्यक्ति है? जिसके घर चोरी करने गया, वही बचा रहा है। बाहर निकलने के बाद चोर ने उसे भले आदमी के चरण पकड़ लिये।

- जो जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं रखे होते हैं, वे सुख में भी दुख ढूँढते हैं, लेकिन जिसकी दृष्टि सकारात्मक होती है, वे हर घटना में सुख की खोज कर लेते हैं।

'सौ बोधकथाएँ' कृति से साभार
जसपुर (छ.ग.)

******

दीपावली के शुभ अवसर पर
वीर सेवा मंदिर के निम्नांकित ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही 10 पुस्तकों का सेट उपहार में ग्रन्थों के साथ नि:शुल्क दिया जायेगा। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक आफ इण्डिया, शाखा दरियागंज, नई दिल्ली, IFSC-BKID0006032 द्वारा जमा करें।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग-1,2,3	पं. बालचंद सिद्धांतशास्त्री	2500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्तशास्त्री	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibiliography I&II	Chhotelal Jain	1500रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं.पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य राम सेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.
11.असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय	150रु.

उपहार स्वरूप दी जाने वाली पुस्तकों का सेट

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दु:खी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain
7. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
8. वारसाणुवेक्खा	आ. कुन्दकुन्द
9. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
10.उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'

-महामंत्री, वीर सेवा मंदिर